श्रौत-यज्ञ-मीमांसा
[संस्कृत तथा हिन्दी]

श्रौत-यज्ञ-मीमांसा

[संस्कृत तथा हिन्दी]

युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—

श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया ट्रस्ट
१७० जी. ब्लाक, न्यू अलीपुर
कलकत्ता

ग्रन्थ मिलने का पता—

रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (पिन १३१०२१)
(सोनीपत-हरयाणा)

प्रथम वार—६००
संवत् २०४४
जुलाई, सन १९८७
मूल्य—[illegible]-००
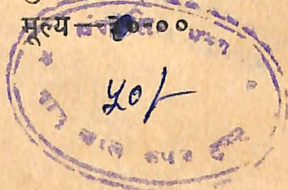
मुद्रक—

श्री शान्तिस्वरूप कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस
बहालगढ़ सोनीपत-हरयाणा

समर्पण

कर्त्तव्य-परायणा, ममता की प्रतिमूर्ति,
सरल एवं सात्त्विक नानी जी

जन्म—सं० १९७३ निधन—सं० २०४३, पौष शु० ११

श्रीमती यशोदादेवी जी

की

पुण्य-स्मृति में

समर्पित

विमला बागड़िया

नानी जी (यशोदादेवी जी) को श्रद्धाञ्जलि

मैं नानी जी यशोदादेवी जी के सम्बन्ध में क्या लिखूं, किन शब्दों में अपने उद्‌गार प्रकट करूं, यह मेरी समझ में नहीं आता। वे तो प्यार और ममता की जीती जागती प्रतिमूर्ति थीं। उनमें विविध भावों की प्रधानता थी। श्रीकृष्ण जी की माता 'यशोदा' में तो एक भाव की ही प्रधानता थी और वह था वात्सल्य का भाव। हमारी नानी जी में तो सारे ही भाव थे। उनका धर्मपत्नी का जो रूप था, वह शायद ही कहीं दृष्टिगोचर होगा। पति के गौरव से वह अपने को अत्यन्त गौरवशालिनी समझती थीं। उनकी पुस्तकों से भी उनको इतना प्यार था कि वे उनको भी अपने आंचल से पोंछती रहती थीं। नाना जी की सेवा में उन्होंने कभी दिन को दिन वा रात को रात नहीं समझा। सब प्रकार की सेवा एवं गृहस्थ के अन्य कार्यों को करती हुई भी सदा तरोताजा ही नजर आती थीं। चौबीसों घण्टे सब की सेवाओं में तत्पर रहने वाली नानी जी को कई रोग भी थे, परन्तु इतनी जल्दी वे हमें यों छोड़ कर चली जायेंगी, यह विश्वास ही हमें नहीं होता था।

यद्यपि मेरे साथ उनका सम्बन्ध ११-१२ वर्षों का ही था और ४-५ बार मिलने का ही मुझे सौभाग्य मिला, तथापि ऐसा लगता था कि पता नहीं कितने जन्मों में मैं इनके साथ रह चुकी हूं। कोई बात पूछने पर वे बहुत अच्छी सलाह थोड़े से शब्दों में देती थीं। हमेशा उनका मुस्कराता प्यार भरा चेहरा, लगता है आखों के सामने से हटता ही नहीं है। **वसुधैव कुटुम्बकम्** की भावना तो उनमें कूट-कूट कर भरी थी, किसी को भी वे पराया नहीं समझती थीं।

कर्तव्य-परायणा, ममता की मूर्त्ति, सरल और सात्त्विक नानी जी को मेरी यही श्रद्धाञ्जलि समर्पित है। भगवान् उन की आत्मा को शान्ति प्रदान करेंगे। वे मुक्ति का आनन्द ले रही होंगी।

धन्य हैं वे लोग तथा मैं भी, जिन को ऐसी पत्नी, माता तथा नानी जी मिलीं।

आप की नातिन
विमला बागड़िया

लेखक के दो शब्द

स्व० श्रेष्ठिवर्य श्री मोहनलाल जी बागड़िया के नाना जी श्री विन्ध्यवासिनीप्रसाद जी अग्रवाल का मेरे प्रति बड़े भाई के समान स्नेह था। मैं जब तक काशी में रहा, तब तक जब भी वे गुरुवर श्री ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु से मिलने आते थे, उन से भेंट होती ही रहती थी। उस के पश्चात् जब मैं अजमेर चला गया, तब भी वे एक बार मुझ से मिलने अजमेर आये और २०-२५ दिन मेरे पास रहे।

श्री विन्ध्यवासिनी प्रसाद जी कलकत्ता में प्रायः श्री मोहनलाल जी के घर पर रहते थे। उन्हीं के सत्संग से श्री बागड़िया जी का पूरा परिवार वैदिक धर्म में दीक्षित हो गया। जब भी श्री विन्ध्यवासिनी प्रसाद जी श्री मोहनलाल जी के गृह पर रहते थे, तब प्रसंगवश बात-चीत में श्री पूज्य गुरुवर का और मेरा वर्णन करते रहते थे। इस प्रकार इस बागड़िया परिवार के साथ मेरा परोक्षरूप में सम्बन्ध बन चुका था, परन्तु प्रत्यक्ष सम्बन्ध सन् १९७६ में मेरे सपत्नीक कलकत्ता जाने पर हुआ। आर्य समाज विधान सरणि के साप्ताहिक अधिवेशन में मेरा व्याख्यान था। श्री मोहनलाल जी उसमें आये हुए थे। व्याख्यान के पश्चात् हम दोनों को वे अपने घर पर ले गये। उस बार आपके घर पर केवल दो ढाई घण्टे ही रहना हुआ, परन्तु उसके पश्चात् श्री मोहनलाल जी और श्रीमती विमलादेवी जी का हमारे प्रति मान्यभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

इस सम्बन्ध की परिणति हुई श्री मोहनलाल जी बागड़िया द्वारा अपनी मातु श्री की स्मृति में संस्थापित ट्रस्ट द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार प्रसार के लिये मेरी सम्मति से वैदिकधर्म सम्बन्धी प्राचीन और नवीन ग्रन्थों के प्रकाशन कार्य को आरम्भ करने में। लगभग १०वर्ष के स्वल्प समय में ही आपके ट्रस्ट के द्वारा संस्कृत और हिन्दी के महत्त्वपूर्ण १० ग्रन्थ छप चुके हैं। ११वां ग्रन्थ आप के हाथों में पहुंच रहा है।

श्री मोहनलाल जी और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती विमलादेवी जी ने हमें अपने स्वर्गीय नाना जी श्री विन्धवासिनी प्रसाद जी का मानार्ह पद दिया। इस प्रकार हम दोनों इनके नाना नानी के रूप में परिवार के अङ्ग बन गये।

सब कार्य सुचारु रूप से चल रहा था कि अचानक इस परिवार पर अनिष्ट की घोर घटायें उमड़ पड़ीं। श्री बागड़िया जी के श्वसुर, श्रीमती विमला-देवी जी के पिता श्री माननीय रामेश्वर लाल जी अग्रवाल का मार्गशीर्ष वदी ६, संवत् २०४१ (=१४-११-८४) को स्वर्गवास हो गया। इसके ६ मास के भीतर-ही अकस्मात् श्री मोहनलाल जी बागड़िया का वै० कृ० १, सं० २०४२ (=५-५-८५) को युवावस्था में ही निधन हो गया। और पौष सु० ११ सं० २०४३ (१० जनवरी १९८७) को इनकी नानी जी अर्थात् मेरी धर्मपत्नी यशोदादेवी भी दिवंगत हो गईं। नानी जी के स्वर्गवास की सूचना पाकर श्रीमती विमलादेवी जी ने लिखा था—'दैव दुर्विपाक से तीन वर्ष में ही मेरे पिताजी पतिदेव और नानी जी का स्वर्गवास हो गया। हमारे ट्रस्ट की जो अगली पुस्तक छपे उसे नानी जी की स्मृति में छापना चाहती हूं।'

श्रीमती विमलादेवी जी की नानी जी (मेरी धर्मपत्नी) की वैदिक यज्ञों में बड़ी श्रद्धा थी। घर पर भी प्रायः प्रतिदिन अग्निहोत्र किया करती थीं और महाराष्ट्र आदि में जहां जहां सोमयाग आदि बड़े-बड़े यज्ञ होते थे, उन में मेरे साथ जाती थीं और प्रत्येक कर्म को बड़े ध्यान वा श्रद्धा के साथ देखती थीं। इस दृष्टि से मैंने श्रीमती विमलादेवी जी को लिखा कि आप की नानी जी को वैदिक यज्ञानुष्ठानों के प्रति गहरी आस्था थी, अतः उनकी स्मृति में यज्ञ विषयक ही कोई ग्रन्थ प्रकाशित करना उचित होगा।

ऋषि दयानन्द सम्मत **अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधान्त श्रौत यज्ञों** के सम्बन्ध में आर्यसमाज में बहुत उपेक्षा का भाव है। इन वैदिक यज्ञों में मध्य-काल में पशुयाग आदि कुछ अवैदिक अंश भी प्रविष्ट हो गये हैं। अतः इन श्रौत यज्ञों के वास्तविक स्वरूप को समझाने के लिये मैंने **श्रौत-यज्ञ-मीमांसा** लिखी। आर्यसमाज से बाहर के विद्वानों, विशेष करके दाक्षिणात्य विद्वानों के लिये इसे संस्कृत भाषा में लिखा और साथ में संस्कृत न जानने वालों के लिये हिन्दी भाषा में भी संकलित किया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ सभी के लिये उपयोगी बनाया है।

यद्यपि श्रौत-यज्ञ-मीमांसा का हिन्दी में सं० २०३४ में छपे 'मीमांसा-शाबर-भाष्य' की 'आर्षमत-विमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या के प्रथम भाग में संक-लन किया था, परन्तु गत १० वर्षों में इस में बहुत कुछ परिवर्धन परिवर्तन और संशोधन हुआ। अतः हिन्दी भाग भी जो इस में छापा है वह पहले की

अपेक्षा अधिक परिमार्जित है। संस्कृत भाग तो विगत ४-५ मासों में लिखा गया है।

अब यह ग्रन्थ श्रीमती विमलादेवी जी की इच्छानुसार उनके 'श्रीमती बागड़िया ट्रस्ट' की ओर से उनके द्वारा अपनी माननीय नानी श्रीमती यशोदा-देवी की स्मृति में प्रकाशित किया जा रहा है।

यह बड़े सौभाग्य की बात है कि उनके पतिदेव श्री मोहनलाल जी बागड़िया ने वैदिक धर्म के प्रचार प्रसार के लिये जो प्राचीन वा नवीन ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया था, उनके स्वर्गवास हो जाने के पश्चात् भी अपने पतिदेव द्वारा प्रारब्ध कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये तत्पर हैं। इस कार्य के लिये समस्त वैदिक धर्म प्रेमी जनता की ओर से धन्यवादार्ह हैं।

मैं इस परम उपयोगी कार्य के लिये, श्रीमती विमलादेवी जी एवं उनके पुत्रों के लिये शुभाशीः प्रदान करता हूं। और परमात्मा से प्रार्थना करता हूं कि उनके समस्त परिवार को समृद्धि प्रदान करें, एवं धर्म जाति एवं देश की सेवा के प्रति उनकी रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती रहे।

युधिष्ठिर मीमांसक

'श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया ट्रस्ट' संस्थया
दशवर्ष-परिमिते अल्प-समये प्रकाशिताः

अत्यन्तं महत्त्वपूर्णा ग्रन्थाः

१. गोपथब्राह्मणम् (मूलमात्रम्) शुद्धतमं संस्करणम्। सम्पादकः—डा० विजयपालः। मुद्रणकालः—सन् १९८०।

२. ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन--अस्मिन् ग्रन्थे दयानन्द-सरस्वीस्वामिनः केचन शास्त्रार्थाः, पूर्णे-मुम्बईनगरयोः कृतानां प्रवचनानां संग्रहो वर्तते। मुद्रणकालः—सन् १९८२।

३. निरुक्त-श्लोकवार्तिकम्—ग्रन्थकारः केरलनिवासी नीलकण्ठो गार्ग्यः। अस्य एक एव कोशोऽतिजीर्णस्तालपत्रलिखितो वर्तते। सं०—डा० श्री विजयपालः। मुद्रणकालः—सन् १९८२।

४. ध्यानयोग-प्रकाश (हिन्दी)—लेखकः—योगिराजः स्वामी लक्ष्मणानन्दः। पातञ्जलयोगशास्त्रानुसारिहिन्दीभाषायां लिखितं सुगमं पुस्तकम्। मुद्रणकालः—सन् १९८३।

५. **ANTHOLOGY OF VEDIC HYMNS**—लेखकः—स्वामी भूमानन्दः सरस्वती। वेदविषयकोऽत्युपयोगी ग्रन्थः। सन् १९८४।

६. कात्यायनीय-ऋक्सर्वानुक्रमणी—षड्गुरुशिष्य-विरचितया कृत्स्नया वृत्त्या संहिता। सम्पादकः—डा० श्री विजयपालः। मुद्रणकालः—सन् १९८५।

७. वैदिक-जीवन—(हिन्दी)—लेखकः—विश्वनाथो विद्यालङ्कारः। अथर्ववेदमनुसृत्य वैदिक-जीवन-निदर्शको ग्रन्थः। मुद्रणकालः—सन् १९८५।

८. सूर्य-सिद्धान्तः—पं० उदयनारायण सिंह विरचितया हिन्दीव्याख्यया विस्तृतया भूमिकया च समन्वितः। मुद्रणकालः—सन् १९८६।

९. वैदिक-गृहस्थाश्रम (हिन्दी)—लेखकः—विश्वनाथो विद्यालङ्कारः। अथर्ववेदमनुसृत्य लिखितो वैदिक-गृहस्थाश्रम-सम्बन्धी श्रेष्ठतमो ग्रन्थः। मुद्रणकालः—सन् १९८६।

१०. उणादिकोशः—श्रीमद्दयानन्दसरस्वती स्वामिना विरचितया वृत्त्या अनेकविधैश्च परिशिष्टैः सहितः। सम्पादकः--युधिष्ठिरो मीमांसकः। सन् १९८७।

पुस्तक-प्राप्ति-स्थानम्—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़
(सोनीपत—हरयाणा) पिन् १३१०२१

श्रौत-यज्ञ-मीमांसाया विषय-सूची

श्रौतयज्ञ-मीमांसायाः संशोधन-पत्रम्

पृष्ठम्	पङ्क्ति	अशुद्धः	शुद्धः
१३	६	तस्याङ्गता	तस्याङ्गभूता
२६	१	यत्रगतै०	यज्ञगतै०
,,	१०	द्युस्थानीयो यजमानो	पृथिवीस्थानीयो यजमानो
३२	२३	वेत्यययोर्मीमांसा	वेत्यनयोर्मीमांसा
४६	२०	पुरुषाध्यायः पुरुषसूक्त-स्थेषु	पुरुषाध्याय-पुरुषसूक्तस्थेषु
५१	१३	मध्यमूले	मध्यभूते
,,	१५	आसुरप्रवृत्तानां	आसुरप्रवृत्तीनां
६८	५	प्रस्तूयमाणे	प्रस्तूयमाने
,,	१०	मेघ	मेध
,,	१३	तमसाऽवृतकरणं	तमसाऽऽवृतकरणं
७०	११	तेचोऽग्ना	तेजोऽग्ना
७३	१८	ब्रह्मक्षत्रादयः	उत्तरेषां ब्रह्मक्षत्रादयः
७६	१२	कटुः	क्रतुः
८१	५	स्मारकानि	स्मारकाणि
८२	५	अश्वमेधयो०	पुरुषमेधाश्वमेधयो०
८६	२०	सम्पादितम्	सम्पादितः
६१	२	विक्रमोर्वशी-अभि०	विक्रमोर्वशीय-अभि०
६२	३	पशुयागसम्बन्ध	पशुयागसंबन्धे
,,	७	आलते	आलभते
,,	१७	तस्याश्चिालम्भनम्	तस्याश्चालम्भनम्
६६	१६	तैरुक्तो	तैरुक्तं
,,	२६	एतत्पृष्ठस्था ३ तृतीया टिप्पणी अग्रिमपृष्ठस्य २१ एकविंशत्यां पङ्क्तौ पठितस्य 'पृषध्रो' पदस्य विज्ञेया ।	
१०७	११	'वेदार्थकल्पद्रुम'	'वेदार्थपारिजात'
,,	१२	सहायकेन	तत्सहायकेन वा
१७६	३	मैत्रायणी	तैत्तिरीय

श्रौत-यज्ञ-मीमांसा

श्रौत-यज्ञ-मीमांसा

श्रौतयज्ञानां मीमांसाकरणात् प्राग् 'यज्ञ'शब्दविषये विचार आवश्यकः। तेन यज्ञस्य श्रौतकर्मव्यतिरिक्तस्य तस्य समस्तस्य प्रयोगक्षेत्रस्य परिज्ञानं भविष्यति, यत्र यत्र यज्ञशब्दः प्रयुज्यते, अथवा प्रयोगाभावेऽपि तस्य क्षेत्रे समायाति।

यज्ञ-शब्दस्यार्थः—यज्ञशब्दो **यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु** (पा० धातु० (१।७२८) इति देवपूजाद्यर्थकाद् 'यज' धातोः **यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्** (अष्टा० ३।३।९०) इति पाणिनीयलक्षणाद् भावे नङ् प्रत्ययो भूत्वा प्रसिद्ध्यति। **'देवपूजा'** पदे देवेति पूर्वपदं **दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमद-स्वप्नकान्तिगतिषु** (पा० धातु० ४।१) इति क्रीडाद्यनेकार्थकाद् दिवु धातोः निष्पद्यते—**दीव्यतीति देवः**। धातोरनेकार्थकत्वाद् देवशब्दोऽपि बह्वर्थः। पूजेति नाम सत्कारः—यथायोग्यं व्यवहारः। देवपदवाच्यं प्राकृतं जडतत्त्वं स्याद् यदि वा चेतनतत्त्वम्, सर्वैः सह यथायोग्यं व्यवहरणं देवपूजेत्युच्यते। प्राकृतानाम् अग्नि-जल-वाय्वादीनां पदार्थानां प्राणिमात्रस्य कल्याणायोचित उपयोगो देवपूजा ज्ञेया। अग्निना कस्यचिद् गृहस्य दाहः, कस्यचित् क्षेत्रस्य जलप्रवाहमवरुध्या-न्यक्षेत्रे जलाभावोत्पादनम्, नद्यादिषु मलादीनां प्रवाहणम्, वायुं विविधदोषै-र्दूषयित्वा प्राणिनां जीवन-संकटोत्पादनम् इत्येवंरूपो व्यवहारो देव-अपूजा भवति। **संगतिकरणम्**—प्राकृतानां पदार्थानां यथोचितमात्रासु तथा संयोगकरणं, येन प्राणिनां कल्याणम्, उत्कर्षो वा स्यात्, श्रेष्ठानां धर्मात्मनां विदुषां सङ्गश्च। अनेन संगतिकरणेन शिल्पविज्ञानमपि यज्ञपदेन व्यवह्रियते। **दानम्**—स्वयमुपार्जितस्य धन-सम्पत्ति-विद्यादीनां प्राणिमात्रस्य कल्याणायोत्सर्जनम्। एवं च यज्ञशब्दस्य प्रयोगक्षेत्रमतिविस्तृतं वर्तते। अनयैव दृष्ट्या दयानन्दसरस्वतीस्वामिना यजुर्वेदभाष्ये लिखितम्—

धात्वर्थाद् यज्ञार्थस्त्रिविधो भवति—विद्या-ज्ञान-धर्मानुष्ठान-वृद्धानां देवानां विदुषाम् ऐहिकपारलौकिक-सुख-सम्पादनाय सत्करणम्, सम्यक् पदार्थगुणसंमेल-विरोधज्ञानसंगत्या शिल्पविद्याप्रत्यक्षीकरणं नित्यविद्वत्समागमानुष्ठानं [च]; विद्यासुखधर्मादिशुभगुणानां[1] नित्यं दानकरणम् ॥ यजुर्भाष्य १।२॥

---

१. अत्र 'शुभविद्यासुखधर्मादिगुणानाम्' इति मुद्रितेऽपपाठः।

यजुर्भिर्यजन्ति (निरुक्त १३।७) इति वचनानुसारं यजुर्भिर्यस्य यज्ञकर्मणो निरूपणं क्रियते, तस्य निर्देशो यजुर्वेदस्योपक्रमे **श्रेष्ठतमाय कर्मणे** (१।१) इत्यनेन श्रेष्ठतमकर्मरूपेण कृतः, उपसंहारे च **कुर्वन्नेवेह कर्माणि** (४०।२) इत्यत्र निष्कामकर्मरूपेण संकेतितः। इत्थं च संसारस्य समस्तानि शुभकर्माणि, यानि व्यक्तिभेदैः, देश-काल-परिस्थितिभेदैश्च स्वस्य प्राणिमात्रस्य च कल्याणाय कर्तव्यरूपाणि सन्ति, तेषां समस्तानां यज्ञरूपकर्मणामेव यजुर्वेदे वर्णनं वर्तते। एतच्च यजुर्वेदस्योपक्रमोपसंहाराभ्यां विस्पष्टं विज्ञायते। शतपथब्राह्मणं द्रव्य-मययज्ञानां प्रतिपादकमिति कृत्वा तत्र **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**[1] इत्येवं मन्त्रोक्तं सामान्यं 'श्रेष्ठतमं कर्म' द्रव्ययज्ञमात्रविशेषेऽवरुद्धम्।

सम्भाव्यते यज्ञशब्दस्य धात्वर्थानुसारिणोऽर्थस्य व्यापकतामभिलक्ष्यैव भग-वद्गीतायां (४।२८) यज्ञानां **द्रव्ययज्ञ-तपोयज्ञ-योगयज्ञ-स्वाध्याययज्ञ-ज्ञानयज्ञ-**रूपा विविधा भेदा निर्दिशिताः। अनया दृष्ट्या गीतायाश्चतुर्थाध्यायस्य एकोन-त्रिंशत्तमाच्छ्लोकादारभ्य त्रयस्त्रिंशत्संख्यापर्यन्ताः पञ्च श्लोका विशेषरूपेण द्रष्टुमर्हाः सन्ति। अत एव लोके यत् किञ्चिदपि लोकोपकारकं कर्म क्रियते, तेन सह यज्ञशब्दस्य प्रयोगो दृश्यते।

इत्थं वेदे श्रुतस्य यज्ञशब्दस्य व्यापकमर्थम् इङ्गित्वा प्रतिपाद्यभूतानां श्रौतयज्ञानां सम्बन्धे विचार्यते।

द्रव्य-यज्ञस्य लक्षणं तद्भेदाश्च

प्रतिपाद्यरूपस्य द्रव्ययज्ञस्य लक्षणं कात्यायनश्रौतसूत्रे **द्रव्यं देवता त्यागः** (१।२।२) इत्येवं निरूपितम्। अस्येदं तात्पर्यम्—यस्मिन् कर्मणि द्रव्यस्य देवतायास्त्यागस्य च सहभावो भवति तत्कर्म यज्ञ इत्युच्यते। तेन **देवतोद्देशेन द्रव्यस्य त्यागो**[2] यज्ञः इत्युक्तं भवति। यत इमे श्रौतयज्ञाः केनापि द्रव्यविशेषेण

---

१. शत० १।७।१।५।। केचन विद्वांसः 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' इत्यस्य 'यज्ञो नाम श्रेष्ठतमं कर्म' अर्थात् यज्ञेन सर्वाणि श्रेष्ठतमानि कर्माण्युच्यन्ते इत्यर्थम् आचक्षते। तच्चिन्त्यम्। अत्र हि मन्त्रस्थे 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' इति पदे व्याख्येये स्तः, 'यज्ञः' इति तयोर्व्याख्यापदमिति प्रकरणेऽस्मिन् स्पष्टम्। अत एतादृशां ब्राह्मणवचनानामर्थपरिज्ञानाय व्याख्येयोंऽशः पूर्वं विज्ञातव्यः। अन्यथा प्रतिवाक्यं विपरीताभिप्रायस्य संभावना भवितुं शक्नोति।

२. त्यागस्यार्थः **'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वापादनम्'** अत्राभिप्रेतः।

क्रियन्तेऽतो गीतायाम् (४।२८) एते 'द्रव्ययज्ञाः' कथिताः। वयमपीहान्ययज्ञानां व्यावृत्त्यै एषां निर्देशो द्रव्ययज्ञशब्देनैव करिष्यामः।

यद्यपि यज्ञेषु देवतोद्देशेन हविषस्त्यागः प्रायेणाग्नौ क्रियते, तथापि यज्ञस्योक्तपरिभाषायां त्याग-स्थानस्यानिर्देशात् **देवतोद्देशेन द्रव्यस्य त्यागः** इत्येव यज्ञपदार्थो ज्ञेयः। अतएव सोमयागेषु अवभृथेष्टौ जले होम क्रियते—**अप्सु जुहोति** (कात्या० श्रौत १०।८।२६), सोमक्रयाय या सोमक्रयणी गौः, तस्याः सोमक्रयार्थं नीयमानाया भूमौ यत्र सप्तमं पदं पतति, तस्मिन्नेव स्थाने घृताहुतिर्दीयते—**सप्तमे पदे जुहोति** (तै० सं० ६।१।८।१)। इत्थमेव वृषोत्सर्गयज्ञे प्रजापतिदेवतायै वृषभे विशिष्टमङ्कनं कृत्वा तस्य त्यागमात्रम्=उत्सर्गमात्रं भवति।

द्रव्य-यज्ञानां भेदाः

ये खलु यज्ञा मन्त्र-ब्राह्मण-श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्रादिषु विधीयन्ते तेषामनेकधा विभाग उपलभ्यते। तेषामिह क्रमशो निर्देशः क्रियते—

श्रौत-स्मार्तभेदेन द्वौ विभागौ—येषां यज्ञानां साक्षात् श्रुतिषु[1] विधानमुपलभ्यते ते श्रौतयज्ञा उच्यन्ते। येषां विधानं गृह्य-धर्मसूत्रेषु क्रियते ते स्मार्तयज्ञा इत्याख्यायन्ते। गृह्यसूत्रेषु प्राधान्येन गृहस्थोपयोगीनि संस्कारादिकर्माणि विधीयन्ते। धर्मसूत्रेषु मानवसमाजस्य गुण-कर्म-स्वभावादिविभागशो विशिष्टानि कर्माणि निरूप्यन्ते। यतो गृह्यसूत्र-धर्मसूत्रोक्तानां कर्मणां श्रुतौ साक्षाद् विधानं नोपलभ्यते अत ऋषिभिः श्रुतीनामन्यार्थपरेभ्यो वचनेभ्य एषां कर्मणां

अत एव **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्** (यजुः ४०।१) इति श्रुतेरर्थः—'तेन चराचरस्य जगत ईशा यद् भोग्यपदार्थः कस्मैचित् प्रदत्तः, तस्यैवोपभोगः कार्यः, नान्यस्य धनस्य=भोग्यपदार्थस्याभिलाषां कुरु' इत्येवं द्रष्टव्यः।

१. यथा याज्ञिकानां मते मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाऽऽम्नायसंज्ञा च पारिभाषिकी, तथैव श्रुतिसंज्ञाऽपि विनियोगविधायकयोर्मन्त्रब्राह्मणयोः पारिभाषिकी। यथा—'**इत उत्तरं श्रुतिरूपा मन्त्रा आश्वमेधिकानां पशूनां द्रव्यदेवता-सम्बन्धस्याभिधायिनः**……।' शुक्लयजुषश्चतुर्विंशतितमाध्यायस्य आरम्भे उव्वटभाष्यं द्रष्टव्यम्।

संकेतम् उपलभ्य[1] विधानं क्रियते अर्थात् स्मर्यते । अत एव गृह्यसूत्रधर्मसूत्रेषु स्मृतिपदमुपयुज्यते । श्रुतिस्मृतिविरोधे न स्मृतिः प्रमाणम् इति समेषां वैदिकानां मतम् । तदुक्तं भगवता जैमिनिना—**विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्** (मी० १।३।३) इति ।

श्रौतस्मार्तानां त्रयो विभागाः—श्रौतस्मार्तयज्ञानां पुनः प्रत्येकं **नित्य-काम्य-नैमित्तिकभेदेन** त्रयो विभागा भवन्ति ।

नित्याः—ते यज्ञा नित्या उच्यन्ते येषां यथाकालं नियमतो यथाविधानं कर्तव्यत्वमुच्यते। याज्ञिकानां मतानुसारं नित्ययज्ञाः फलभावनां विना क्रियन्ते, अतस्तेषां किञ्चिल्लौकिकं फलं न स्वीक्रियते, परन्तु तेषामकरणे प्रत्यवायो भवति । अस्मन्मते तु नैत्यकानि[2] कर्माणि यतो निष्कामभावनयाऽर्थात् कर्तव्य-बुद्धया क्रियन्ते, अतस्तेषां फलम् आत्मशुद्धि-पूर्वकं मोक्षप्राप्तिः शक्यते वक्तुम् । अत्र याज्ञिकानामपि मतभेदस्य नास्त्यवकाशः ।

अग्निहोत्रादारभ्य सोमान्ताः (=अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि अग्निष्टोमश्च) नित्ययज्ञाः प्रकीर्तिताः । द्र०—आप० श्रौत १।१।१ सूत्रस्य धूर्तस्वामिनो भाष्यं तस्या वृत्तिश्च (मैसूर संस्क० भाग १, पृष्ठ ५), तथा आप० धर्म० २।२१।७ सूत्रस्य हरदत्तीया व्याख्या । महाभारते शान्तिपर्वणि (२६९। २०) अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि च त्रयो यज्ञाः प्राचीना उक्ताः—

दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः ।
चातुर्मास्यानि चैवासन् तेषु धर्मः सनातनः ॥

नैमित्तिकाः—एते यज्ञा भूकम्पातिवृष्टयनावृष्टिगृहदाहादिषु निमित्तेषु प्रयुज्यन्ते ।

काम्याः—ये यज्ञा लौकिकफलानाम् अवाप्त्यै तत्तत्कामनापूर्वकं क्रियन्ते,

---

१. मीमांसकाः एतस्मिन्नर्थे **'दर्शनम्' 'लिङ्गदर्शनम्'** इति वा पदस्य व्यवहारं कुर्वन्ति । यथा—प्रपाः प्रवर्तयितव्याः, तडागानि खनितव्यानि इति स्मार्तकर्मणोर्विधानस्य प्रामाण्यार्थं मीमांसाभाष्यकार आह—'तथा च दर्शनम्—धन्वन्निव प्रपा असि (ऋ० १०।४।१) इति । तथा स्थलयोदकं परिगृह्णन्ति (तै० सं० १।६।१०।५) इति च' (द्र०—मी० भा० १।३।२); लिङ्गदर्शन-पदस्य प्रयोगो मीमांसासूत्रेषु बहुत्रोपलभ्यते ।

२. द्र०—नैत्यके नास्त्यनध्यायः । मनु० २।१०६॥ अन्येषां मते 'नैत्यिक' शब्दः ।

ते काम्या उच्यन्ते । यतो लौकिक्यः कामना बहुविधा भवन्ति, अतस्तेषामवाप्त्यै शाखा-ब्राह्मण-श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्रादिषु बहूनां काम्यानां यज्ञानां विधानमुपलभ्यते । एषां काम्यकर्मणां विस्तारस्त्रेतायुगे समभवत्—**तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि** (मुण्डकोप० १।२।१) ।

काम्यानां त्रयो भेदाः—काम्या यज्ञास्त्रिविधाः सन्ति । तत्र केचन एतादृशाः सन्ति येषां कामनाविशेषाय स्वतन्त्रं विधानमुपलभ्यते । यथा—**वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकामः**[1] (तै० सं० २।३।६।२) । अपरे काम्या यज्ञा एतादृशाः सन्ति, ये नित्यविहिताः सन्तोऽपि स्वल्पभेदेन तेषु काम्यत्वमुक्तम् । यथा नित्यस्य पयसा सम्पाद्यमानस्याग्निहोत्रस्यैव इन्द्रियकामनया दध्ना विधानमुक्तम्—**दध्नेन्द्रियकामस्य** (तै० ब्रा० २।१।५।६) । कतिपयान्येतादृश्यपि कर्माणि सन्ति ये नित्यविहिताः सन्तस्तेनैव रूपेण कामनाविशेषेभ्योऽपि क्रियन्ते । यथा—**वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत** (मी० ३।३।१९ भाष्य उदधृतम्) । अत्र **वसन्ते वसन्ते** इति द्विर्वचनं नित्यार्थम् (द्र०—**नित्यवीप्सयोः** अष्टा० ८।१।४) इदमेव कर्म **स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत । एककामः सर्वकामो वा । युगपत् कामयेताहारपृथक्त्वे वा** (आप० श्रौत १०।२।१) ।

नित्यकाम्ययोः समानत्वेऽप्यनुष्ठाने भेदः—नित्यकाम्यकर्मयोः समानत्वेऽपि उभयोरनुष्ठानेऽस्त्येको भेदः । यथा—काम्यकर्मणोऽनुष्ठानं सर्वाङ्गपूर्णं कर्तव्यं भवति । यतः सर्वाङ्गपूर्णं कर्मैव फलस्य साधकं भवति, परन्तु नैत्यककर्मणः सर्वाङ्गपूर्णानुष्ठानस्य विधानेऽपि यदि कयाचिद् दैव्या बाधया सर्वाङ्गपूर्णकर्मणोऽनुष्ठानेऽशक्तिः स्याच्चेद् यावद्भिरङ्गैः सह प्रधानं कर्म सम्पद्येत, तावतैव तस्य कर्तव्यता पूर्यते । अतस्तत्र प्रयोगविधिरशक्यान् अङ्गान् नानुष्ठाने संगृह्णाति । एतस्मादेव कारणात् कतिपयाङ्गानां परित्यागेऽपि दोषो न भवति । एतस्मिन् विषये मीमांसाया '**नित्ये यथाशक्त्यनुष्ठातुरप्यधिकाराधिकरणम्**' (६।३।१-७) द्रष्टव्यम् ।

नित्यकर्मसम्बन्धे उक्ताधिकरणेनेदमपि विस्पष्टं भवति यन्नित्यकर्मणामनुष्ठाने विकलाङ्गानामप्यधिकारोऽस्ति । यथा—अन्धः पुरुषो यजमानेन क्रियमाणमाज्यावेक्षणं कर्म कर्तुं न शक्तः, शिष्टं याजमानं कर्म तु कर्तुं शक्नोत्येव । एवमेव पङ्गुर्विष्णुक्रमानुष्ठानव्यतिरिक्तं कर्म तु कर्तुं शक्नोत्येव । एतस्मात्

---

१. एतस्या इष्टया विषये न्यायमञ्जर्यां जयन्तभट्टेनोक्तम्—'तथाह्यस्मत्पितामह एव ग्रामकामः सांग्रहणीं कृतवान्, स इष्टिसमाप्तिसमनन्तरमेव गौरमूलकं ग्राममवाप' । न्यायमञ्जरी, पृष्ठ २७४ ।

कारणाद् अङ्गहीनानां श्रौतकर्मण्यनधिकारनिदर्शकानां वचनानां (यथा—द्र०—कात्या० श्रौत १।१।५) तात्पर्यं काम्यकर्मविषयकमेव ज्ञेयम् ।

पुनस्तेषां द्रव्यभेदात् त्रयो भेदाः—उक्तानां त्रिविधानां श्रौतयज्ञानां यज्ञीय पदार्थानां भेदात् पुनस्त्रयो भेदा भवन्ति । एतेषु प्रथमास्ते यज्ञाः सन्ति येषां द्रव्यं मानवीया भोज्यरूपाः पदार्थाः सन्ति । यथा—व्रीहयो यवास्तिला गोधूमाः पयोदधि घृतादयः । एते द्रव्या अग्नौ पक्त्वैव यज्ञेषु प्रयुज्यन्ते अतस्ते **पाकयज्ञा** इत्युच्यन्ते । अपरे ते यज्ञाः सन्ति येषु सोमस्तत्स्थानीया पूतिका वा प्रयुज्यते । एते **सोमयज्ञा** उच्यन्ते । अन्ये ते यज्ञाः, येषां द्रव्यं विविधाः पशवो भवन्ति । एते **पशुबन्धनाम्ना** व्यवह्रियन्ते (केचन 'पशुयज्ञ'नाम्नापि व्यवहरन्ति) । एतेषां पशुबन्धनाम्नि यद् रहस्यं वर्तते, तदुपरिष्टाद् यथास्थानं स्पष्टीभविष्यति ।

पाकयज्ञादीनां त्रयाणां सप्त-सप्त भेदाः—गोपथब्राह्मणे (१।१।१२) पैप्पलादसंहितायाः (५।२८।१) **अग्निर्यज्ञं त्रिविधं सप्ततन्तुम्** इति मन्त्रांशमुद्धृत्योक्तम्—

अथाप्येष प्राक्रीडितः श्लोकः प्रत्यभिवदति—

सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञा इति ।

गोपथब्राह्मण इह श्लोकस्य द्वितीयं चरणं नष्टम् । यतोह्यत्र सप्त सुत्याः सप्त पाकयज्ञा एव परिगणिताः । मन्त्रानुसारम् एकसप्तकमिह त्रुटितम् । गोपथब्राह्मण एवाऽन्यत्र (१।५।२५) अयं पाठ इत्थमुपलभ्यते—

सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञाः
हविर्यज्ञाः सप्त तथैकविंशतिः ।
सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपि यन्ति
नूतना यानृषयः सृजन्ति ये च सृष्टाः पुराणैः ॥

उक्तानां त्रयाणामपि सप्तकानां गोपथब्राह्मण (१।५।२३) एवेत्थं नामनिर्देशः समुपलभ्यते—

सायंप्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्च यः ।
बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टका सप्तमः पशुरित्येते पाकयज्ञाः ।
अग्न्याधेयमग्निहोत्रं पौर्णमास्यमावास्ये ।
नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि पशुबन्धोऽत्र सप्तम इत्येते हविर्यज्ञाः ।

अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यषोडशिमांस्ततः ।
वाजपेयोऽतिरात्राप्तोर्यामात्र सप्तम इत्येते सुत्याः ।

एतद्विभागानुसारम्—

पाकयज्ञाः—सायंहोमः प्रातर्होमः, नवः स्थालीपाकः, बलिवैश्वदेवः, पितृयज्ञः, अष्टका पशुश्च ।

हविर्यज्ञाः—अग्न्याधेयम्, अग्निहोत्रम्, पौर्णमासेष्टिः, आमावास्येष्टिः, नवसस्येष्टिः, चातुर्मास्यानि, पशुबन्धश्च ।

सुत्याः=सोमयागाः—अग्निष्टोमः, अत्यग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी, वाजपेयः, अतिरात्रः, अप्तोर्यामश्च ।

गोपथब्राह्मणे पाकयज्ञा हविर्यज्ञाश्च पार्थक्येनोक्ताः । अस्माभिस्तु हविर्यज्ञेष्वपि हविर्द्रव्यस्य पाकविधानात् सामान्येनोभयोः पाकयज्ञरूपेणैव भेदः प्रदर्शितः । गोपथब्राह्मणोक्तानां सप्तपाकयज्ञानां सम्बन्धः गृह्यसूत्रैः सह वर्तते । एते च गृह्योक्ता यज्ञाः स्मार्ता उच्यन्ते इत्युक्तं प्राक् । अवशिष्टानां सप्तहविर्यज्ञानां सप्तसोमयागानां च सम्बन्धो मन्त्रब्राह्मणैः सहास्तीति कृत्वा एते श्रौतयज्ञा[1] अभिधीयन्ते । एषु एकविंशतियज्ञेषु पशुयज्ञा अप्युक्ताः । एतेषां विषयेऽग्रे यथावसरं विचारः करिष्यते ।

वस्तुतो गोपथब्राह्मणोक्ता गणना पैप्पलादसंहितायाः (५।२८।१) **अग्निर्यज्ञ त्रिवृतं सप्त तन्तुम्** इति मन्त्रांशस्य व्याख्यानरूपेण कृता । वस्तुतः परिगणितेभ्यः सप्तपाकयज्ञेभ्योऽतिरिक्ता अप्यनेके पाकयज्ञा गृह्यसूत्रेषूपलभ्यन्ते । हविर्यज्ञानां सोमयज्ञानां चापि बहवो भेदाः शाखा-ब्राह्मण-श्रौतसूत्रेषु निर्दिश्यन्ते । दयानन्दसरस्वतीस्वामिना यत्र क्वचिदपि यज्ञानां समुल्लेखः कृतस्तत्र सर्वत्र **अग्निहोत्रादारभ्याश्वमेधपर्यन्ताः** इत्येवं निर्दिष्टाः[2] । अश्वमेधान्तशब्दस्य प्रयोगे

---

१. श्रुत्या साक्षाद् विधानाद् इमे श्रौतयज्ञा उच्यन्ते ।

२. यथा—'परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते……।' ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञाविषय ३८८ तमे पृष्ठे (रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्क० २) । 'वर्गद्वयस्थैर्नवभिर्मन्त्रैरग्निहोत्राद्यश्वमेधपर्यन्तेषु ……।' ऋग्वेदभाष्यनिदर्शनाङ्के प्रथमसूक्तान्ते । (दयानन्दीयलघुग्रन्थसंग्रह, पृष्ठ १६३, रा० ला० क० ट्र० सं०)। 'जो अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त ……।' आर्योद्देश्यरत्नमाला, संख्या ४७ (द० ल० ग्रन्थसंग्रह, पृष्ठ ५७६)।

कारणमिदं प्रतीयते यच्छतपथब्राह्मणे कात्यायनश्रौतसूत्रे चाश्वमेधस्य विधानं सर्वान्ति उपलभ्यते। वस्तुतो यज्ञानां विस्तारोऽग्निहोत्रादारभ्य सहस्रसंवत्सर-साध्ययज्ञपर्यन्तं वर्तते। शाखा-ब्राह्मण-श्रौतसूत्रेष्वेषामग्निहोत्रादारभ्य सहस्रसंवत्सर-साध्य-क्रतुपर्यन्तानां यज्ञानां विधिविधानमुपलभ्यते। उदाहरणार्थमिह कात्यायनश्रौतसूत्रे निर्दिष्टानां प्रमुखयज्ञानां निर्देशः क्रियते—

१. अग्न्याधानम् (अ० ४)
२. अग्निहोत्रम् (अ० ४)
३. दर्शपूर्णमासौ (अ० २-३-४)
४. दाक्षायणयागः (अ० ४)
५. आग्रयणेष्टिः (अ० ४)
६. दर्विहोमः, कैडिनीयेष्टिः, आदित्येष्टिः, मित्रविन्देष्टिः (अ० ५)
७. चातुर्मास्यानि (अ० ५)
८. निरूढपशुबन्धः (अ० ६)
९. सोमयागः (अ० ७-११)
१०. एकाहाः (अ० १२,२२)
११. द्वादशाहः (अ० १२)
१२. सत्ररूपो द्वादशाहः (अ० १२)
१३. गवामयनम् (अ० १३)
१४. वाजपेयः (अ० १४)
१५. राजसूयः (अ० १५)
१६. अग्निचयनम् (अ० १६-१७-१८)
१७. सौत्रामणिः (अ० १९)
१८. अश्वमेधः (अ० २०)
१९. पुरुषमेधः (अ० २१)
२०. अभिचार-यागः (अ० २२)
२१. अहीन-अतिरात्रः (अ० २३)
२२. सत्राणि [द्वादशाहादारभ्य सहस्रासंवत्सरान्तानि] (अ० २४)
२३. प्रवर्ग्यः (अ० २६)

अन्यश्रौतसूत्रेषु एतादृशामेव न्यूनाधिकानां यागानां वर्णनमुपलभ्यते।

श्रौत-यज्ञानां प्रकृति-विकृतिभेदः

उक्ताः सर्वेऽपि श्रौतयज्ञाः प्रक्रिया-दृष्ट्या त्रिधा विभज्यन्ते—

१. प्रकृतियागः
२. विकृतियागः
३. प्रकृतिविकृत्युभयात्मकः।

प्रकृतियागस्य लक्षणम्—प्रकृतियागस्य त्रीणि लक्षणानि याज्ञिकैर्मीमांसकैश्च प्रदर्श्यन्ते—

१. यत्र कृत्स्नं क्रियाकलापम्[1] उच्यते सा प्रकृतिः[2]। यथा—**दर्शपूर्णमासौ**।

२. यतो विकृतिरङ्गानि गृह्णाति सा प्रकृतिः[3]। यथा—**दर्शपूर्णमासौ**।

३. 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इति चोदकाद् यत्र नाङ्गप्राप्तिः सा प्रकृतिः[4]।

एतानि त्रीण्यपि लक्षणानि स्वल्पभेदेन मीमांसान्यायप्रकाश उप : । एषु प्रथमलक्षणानुसारं **गृहमेधीयेष्टिः दर्विहोमश्च** प्रकृतियागेऽन्तर्गतौ भवतः[5]। यत इमे कर्मणी यावदुक्ते स्वीक्रियेते। द्वितीयलक्षणानुसारं गृहमेधीयेष्टेर्दर्विहोमतश्च न कापि विकृतिरङ्गानि गृह्णाति, अत नैते प्रकृतियागेऽन्तर्भवतः[6]। तृतीयलक्षणानुसारं गृहमेधीयेष्टिर्दर्विहोमश्च प्रकृतिकर्मणी भवतः।

---

१. कलापशब्दो लिङ्गानुशासनकारैः प्रायेण पुंल्लिङ्गो निर्दिश्यते। तथापि **लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य** (महाभाष्य २।१।३६) इति पतञ्जलिवचनात्, **'सम्बन्धमनुवर्तिष्यते'** इति महाभाष्ये (१।१।१) पुंल्लिङ्गस्य नपुंसके प्रयोगाच्च कलापशब्दस्य पुंस्त्वं प्रायिकं ज्ञेयम्।

२. **'यत्र समग्राङ्गो**पदेशः सा प्रकृतिः' इति मीमांसान्यायप्रकाशकारः (द्र०—**सारविवेचनी** व्याख्यासहित, पृष्ठ ५२, काशी संस्कृतसीरिज, सन् १९२१)। **'प्रकर्षेण** अङ्गोपदेशो यत्र क्रियते सा प्रकृतिः। कृत्स्नाङ्गविषयत्व प्रकर्षः' **इति सायणः** (तै० सं० भाष्यभूमिका, पृष्ठ ८, पं० १३, वै० सं० मं० पुणे; **वेदभाष्यभूमिकासंग्रहः**, काशी, पृष्ठ ६)।

३. द्र०—मीमांसान्यायप्रकाशः, पूर्वोक्तमेव संस्करणम्, पृष्ठ ४४, पं० ५।

४. द्र०—मीमांसान्यायप्रकाशः, पूर्वोक्तं संस्क०, पृष्ठ ४४, पं० ७।

५. मीमांसाप्रवक्त्रा **विकृतौ प्राकृतस्य विधेर्दर्शनात् पुनः श्रुतिरनर्थिका स्यात्** (१०।७।२४) इति सूत्रेण विकृतौ चोदकेन प्राप्तानां प्राकृतधर्माणां दर्शनात् चोदकवचनेन पुनः प्राप्तिरनर्थिका भवेत् इत्यतो गृहमेधीयेष्टेर्यावदुक्तकर्मता प्रतिपादिता। शब्दान्तरेण गृहमेधीयेष्टिर्विकृतियाग इत्युक्तं भवति। तथापि प्रकृतियागात् प्राप्तानां केषांचिद् धर्माणां श्रुतौ निर्देशस्योपलम्भाद् अत्र तावन्त एव धर्माः परिगृह्यन्ते येऽत्रोपदिष्टाः। सूत्रकारस्यैतद्वचनानुसारं प्रकृतेः प्रथमलक्षणानुसारं गृहमेधीयेष्टिः प्रकृतिकर्मान्तिर्गता परिगृह्यते। अत्र २४ तमात् सूत्रात् ३३ तमसूत्रपर्यन्तं कृत्स्नमधिकरणं द्रष्टव्यम्।

६. 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति इत्यादीनाम् अनारभ्याधीतविधीनां प्रकृति-

एषु लक्षणेषु प्रथमं लक्षणं सुगमं दोषरहितं च वर्तते । नवीनमीमांसकै-र्द्वितीयलक्षणानुसारं गृहमेधीयेष्टौ पर्णताया अप्राप्तिकारणात् तृतीयं लक्षणमा-स्थितम् । इद तृतीयं लक्षणं न केवलं क्लिष्टम् अपितु लक्षणान्तर्गतयोः प्रकृति-विकृत्योरन्योन्याश्रयत्वाद् अन्योन्याश्रयदोषदुष्टमप्यस्ति । नहि प्रकृतेर्लक्षणम-विज्ञाय विकृतेर्ज्ञानं भवति, अविज्ञाते च विकृतौ **'चोदकाद् यत्र नाङ्गप्राप्तिः'** इति न वक्तु ं शक्यते । अयं दोषो द्वितीयलक्षणेऽपि वर्तते । यतस्तत्र प्रकृतिलक्षणे विकृतिपदस्यापि निवेशोऽस्ति—**यतो विकृतिरङ्गानि गृह्णाति सा प्रकृतिः** इति ।

विकृतियागस्य लक्षणम्--येषु यागेषु तत्तत्कर्मोपयोगी समस्तः क्रियाकलापो न पठ्यते, कर्मणः पूर्त्यर्थं च य अन्यतः (=प्रकृतेः) क्रियाकलापान् गृह्णन्ति ते विकृतियागा उच्यन्ते । यथा—**दीक्षणीयेष्टिः**,[1] **दाक्षायणेष्टिः मित्रविन्देष्टिः**।

गामित्वं मीमांसकैरास्थीयते । यदि नाम गृहमेधीयेष्टिर्न प्रकृतिः, तर्हि तत्र पर्ण-तायाः प्राप्तिर्न भवितु ं शक्या, इष्यते च । अत एव मीमांसान्यायप्रकाशकारे-णोक्तम्—'अत्र विकृतिर्यतोऽङ्गानि गृह्णाति सा प्रकृतिरिति न प्रकृतिशब्देन विवक्षितम्, गृहमेधीये पर्णताया अप्राप्तिप्रसङ्गात् । नहि गृहमेधीयात् काचन विकृतिरङ्गानि गृह्णाति मानाभावात् । किन्तु चोदकाद् यत्राङ्गाप्राप्तिस्तत्कर्म प्रकृतिशब्देन विवक्षितम् । यथा दर्शपूर्णमासौ·········गृहमेधीयादिष्वपि न चोदकादङ्गप्राप्तिः ।······यत्र चोदकाप्रवृत्तिस्तत्रानारभ्याधीतानां सन्निवेशः' इति । मी० न्या० प्र०, पृष्ठ ४४, पूर्वोक्तमेव संस्क० ।

आपस्तम्बपरिभाषाप्रकरणस्थस्य **'त्रिभिः कारणैः प्रकृतिर्निवर्तते प्रत्याम्ना-नात् प्रतिषेधादर्थलोपाच्च'** (४।२) इति सूत्रस्य व्याख्यायां हरदत्तकपर्दिस्वा-मिनौ'चकारात्' नियम-परिसंख्या-भूतोपदेशानां कारणानामपि संग्रहणं कुरुतः । प्रकृतेः परिसंख्यया गृहमेधीयेष्टौ चोदकात् प्रयाजादीनां प्राप्तावपि पुनः गृह-मेधीयेष्टौ आज्यभागस्य विधानं प्रयाजादीनां निवृत्यर्थं मन्वाते । एतत्प्रमाणेन गृहमेधीयेष्टेर्विकृतित्वं बाधितं भवति ।

१. स्वामिकरपात्रनाम्ना प्रसिद्धे 'वेदार्थ-पारिजात'नाम्नि ग्रन्थे केन-चिन्मीमांसकमन्येन अत्र द्वे विप्रतिपत्ती प्रदर्शिते । तत्र **प्रथमा**—'अस्य क्रतो-र्दाक्षायणेष्टिरिति न व्यवहारो मीमांसकेषु, किन्तु दाक्षायणयज्ञ इत्येव व्य-वहारः' इति (द्र०—पृष्ठ २०९९)। अत्रोच्यते—लेखकस्य मते 'दाक्षायणयज्ञेन स्वर्गकामो यजेत' इत्येवं विहितो दाक्षायणयज्ञो न दर्शपूर्णमासाभ्यां भिन्नोऽपितु तत्रैव अभ्यासरूपगुणफलविधिः (तत्रैव, पृष्ठ २०९९) । सत्येवं यदि दर्श-

प्रकृति-विकृति-यागस्य लक्षणम्—यो यागः स्वयं विकृतिरूपः सन्नप्यन्यस्य कस्यचिद् यागस्य प्रकृतिभाव गच्छति, स प्रकृति-विकृतिरूपो यागो निगद्यते। यथा—चातुर्मास्यानां **वैश्वदेवं पर्व**। वैश्वदेवं पर्व स्वकर्मपूर्त्यर्थं प्रकृतेः सकाशाद् अङ्गानि समादत्ते। परन्त्विदमेव वैश्वदेवं पर्व चातुर्मास्यानाम् उत्तरपर्वणां प्रकृतिभावमापद्यते। तदुक्तम्—**वैश्वदेवं वरुणप्रघाससाकमेधशुनासीरीयाणाम्** (आप० परि० ३।३६) इति। प्रकृतिरित्युपरिष्टादनुवर्तते।

यतोऽग्निष्टोमे सोमयाग-सम्बन्धी समस्तः पदार्थः साकल्येनोपदिश्यते, अतोऽयमन्येषां सोमयागानां प्रकृतिरुच्यते—**अग्निष्टोम एकाहानां प्रकृतिः** (आप० परि० ४।३)। किन्तु तस्याङ्गता दीक्षणीयेष्टिः, उपसदिष्टिः, आतिथ्येष्टिश्चेत्यादय इष्टयः स्वक्रियाकलापान् दर्शपूर्णमासाभ्यां गृह्णन्ति। अङ्गैः सह क्रियमाण कर्मैव फलप्रदं भवति। इत्थमग्निष्टोमोऽन्यसोमयागानां प्रकृतिः, किन्तु तस्याङ्गरूपा अवान्तरेष्टयः विकृतयः। यथा विकृतिरूपेण स्वीकृतासु इष्टिषु प्रधानकर्मणस्तत्तत्प्रकरणे निर्देशे सत्यप्यङ्गकर्मणां प्रकृतेर्ग्रहणाद् ता विकृतय उच्यन्ते तथैवात्रावान्तरेष्टीनां विकृतिरूपत्वात् विकृतिरूपत्वमप्यस्त्येव।

पूर्णमासयोः दर्शेष्टिः पूर्णमासेष्टिः पदाभ्यां प्रयोगो भवति तर्हि तत्रैव गुणफलविधिरूपेण निर्दिष्टे दाक्षायणयज्ञे इष्टित्वं केन वारयितुं शक्यते ? इष्टेर्लक्षणम्—'इष्टिशब्दः ऋत्विक्चतुष्टयसम्पाद्यसपत्नीकयजमानकर्तृककर्मनाम' (द्र०—श्रौतपदार्थनिर्वचनम्, पृष्ठ १)। इदं च लक्षणं दाक्षायणक्रतावपि समवैति। तेनास्येष्टित्वमेव। इदमन्यद् यल्लेखकस्य मतानुसारं मीमांसकेषु 'दाक्षायणयज्ञ' इत्येव व्यवहारः। सत्यपि तथा व्यवहारे कथं तेन दाक्षायणयागस्य इष्टित्वमपाकर्तुं शक्यते। **द्वितीया**—'दाक्षायणयागः दर्शपूर्णमासयोरेवाभ्यासगुणरूपो न क्रत्वन्तरम्। तेन नायं विकृतियाग' इति। वस्तुतस्तु शबरस्वामी कुमारिलभट्टस्तदनुयायिनो न दाक्षायणयागं क्रत्वन्तरं मन्यन्ते। परन्त्वेषां मतं वैदिकमतविरोधान्न ग्रहीतुं योग्यम्। यथा तु दाक्षायणयज्ञस्य विधानं कौषीतकिब्राह्मणे दृश्यते तथाऽस्य क्रत्वन्तरत्वं विकृतित्वमेव प्रमाणीभवति। कुतूहलवृत्तिकारेण दाक्षायणयागे गुणफलविधेः प्रत्याख्यानं कृत्वाऽस्य यागान्तरत्वं विकृतियागत्वं च सप्रमाणं व्यवस्थापितम्। अस्मिन् विषये विशेषविचारोऽस्य निबन्धस्यान्ते द्रष्टव्यः। तत्र कुतूहलवृत्तिकारस्य मतं तच्छब्देष्वेव विस्तरेणोपस्थापयिष्यते।

उक्तलेखस्य विषये वेदार्थपारिजातकारेण लिखितम्—'**म० म० चिन्नस्वामिशास्त्रिचरणा यदि जीवदवस्थायां वर्तेरन् तर्हि नूनं मन्येरन् यन्मया क्षीरप्रदानेन सर्पः पालित इति**' (भाग २, पृष्ठ २१००)। परमोदारचरितानां **यशः**कायशरीरेण वर्तमानानां पूज्यपादाचार्यचरणानां सम्बन्ध इत्थं लेखनं लेखक**स्यैव** मनोविकारं प्रकटयति। आचार्यपादैस्तु स्वयं **यज्ञतत्त्वप्रकाशे** अग्निष्टोमविषय इत्थं प्रत्यपादि—

अत्र बहूनामिष्टिपशूनां सत्यप्यनुष्ठाने तेषामङ्गत्वात् सोमद्रव्यकयागस्यैव प्राधान्याच्च सोमयाग इति व्यवहारः। अग्निष्टोमाख्येन साम्ना समाप्यमानत्वाच्च अग्निष्टोम इति प्रकृतियागो व्यवह्रियते। पृष्ठ ५७।

यत्त्वत्रैव (पृष्ठ २१००) वेदार्थपारिजातकृत् लिखति—**दीक्षणीयादीष्टीनां तदेकदेशत्वं न, किन्तु तदङ्गत्वम्**। अहो लेखकस्य वाचालता! किं हस्तपादादीन्यङ्गानि शरीरस्यैकदेशा न सन्ति? किं हस्ते छिन्ने तस्याङ्गत्वाद् एकदेशाभावात् कश्चिन्मूर्खोऽपि तं शरीरं सर्वदेशसम्पन्नं वक्ष्यति?

अस्तु नामाङ्गैकदेशत्वयोर्भेदः, तदैतद् वक्तव्यम्—यथा नित्या यागा देशकालपरिस्थितिवशाद् कैश्चिदङ्गैर्विहीना अपि सम्पाद्यन्ते कर्मणोऽलोपार्थम्, तथैव किं **वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत** इत्येवं नित्यविहितो ज्योतिष्टोमो दीक्षणीयेष्ट्यादिभिरङ्गैर्विहीनोऽपि शक्यते सम्पादयितुम्? यदि सम्पादयितुं शक्यते **तर्हि दीक्षा**दिसंस्कारविरहितोऽपि यजमानः सोमयागेऽधिकृतो भवेत्।

षड्दिनसाध्येऽग्निष्टोमे पञ्चमं दिवसमतिरिच्य **अव**शिष्टेषु पञ्चसु दिव**सेषु** त्विष्टयः पशुयागाश्चैव भवन्ति। अत आचार्यपादैः स्पष्टं लिखितम् '**अत्र बहूनामिष्टिपशूनां सत्यप्यनुष्ठाने तेषामङ्गत्वात् सोमद्रव्यकयागस्यैव प्राधान्याच्च सोमयाग इति व्यवहारः।**'

प्रकृति-विकृतिलक्षणरहिता यागाः—प्रकृतेर्द्वितीयलक्षणानुसारं तु गृह**मेधी**येष्टिर्दर्विहोमश्चैवंभूते कर्मणी ये न कुतश्चिद् अङ्गानि गृह्णीतो नाभ्यां किञ्चित् कर्मान्तरमङ्गानि गृह्णाति। अत एते कर्मणी न प्रकृती स्तो नापि विकृती। सत्येवं अनारभ्याधीतानां पर्णतादिविधीनां प्रकृतिगामित्वे नैषां गृहमेधीयेष्टौ प्राप्तिः सम्भवति। अत एव मीमांसान्यायप्रकाशकारेण पर्णतादीनां गृहमेधीयेष्टौ प्राप्त्यर्थं **चोदकाद् यत्र नाङ्गप्राप्तिः सा प्रकृतिः** इति लक्षणं स्वीकृतम्। एतल्लक्षणे स्वीकृते गृहमेधीयेष्टेः प्रकृतित्वं प्राप्नोति। तथा सति मीमांसायाः शाबरभाष्यानुसारं दशमाध्यायस्य सप्तमपादस्य गृहमेधीयेष्टेरपूर्वताविधानाधिकरणे (अधि० ९, सूत्र २४-३३) निर्णीतो न्यायो नोपपद्यते। एतच्च

वेदार्थपारिजातस्य लेखकेनापि स्वीकृतम् । यदाह—तर्ह्यनारभ्याधीतायाः पर्णताया निवेशः कथं गृहमेधीयेष्टौ भवतु ? इति शङ्कायाः समाधानाय **'चोदकाद् यत्र नाङ्गप्राप्तिः लक्षणं प्रकृतियागशब्देन विवक्षितम्'** इति (पृष्ठ २०६७) । सत्येवं **'यत्र कृत्स्नं क्रियाकलापमुच्यते सा प्रकृतिः** इत्येव प्रकृतेर्निर्दुष्टं लक्षणम् ।[१]

१. **हविर्यज्ञानां प्रकृतिः**—समस्तानां हविर्यज्ञानां प्रकृतिः **दर्शपूर्णमासौ** ।

२. **सोमयागानां प्रकृतिः**—समस्तानामेकाहानां प्रकृतिः **अग्निष्टोमः** ।

३. **पशुबन्धानां (पशुयागानां) प्रकृतिः**—संहिताब्राह्मणयोरनुसारं **समस्त-**पशुयागानां प्रकृतिरग्निष्टोमान्तर्गतोऽग्नीषोमीयः पशुयागः । यतस्तत्प्रकरण एव पशुयाग-सम्बन्धी समस्तः क्रियाकलापः पठ्यते । श्रौतसूत्रकारैस्तु पशुयाग-सम्बन्धि समस्तमङ्गजातं निरूढपशुबन्धप्रकरण उच्यते । अतः श्रौतसूत्रकाराणां मते निरूढपशुबन्धः पशुयागानां प्रकृतिः ।

यज्ञानां प्रकृति-विकृतित्वे मतभेदः

अस्माभिर्मीमांसकानां याज्ञिकानां च मतानुसारं प्रकृतिविकृत्योर्यानि लक्षणान्युदाहरणानि चोक्तानि, तानि न साम्प्रतिकमीमांसकैर्याज्ञिकैश्च सर्वथा मान्यानि । अस्य प्रधानं कारणं तेषामेकाङ्गि ज्ञानं सम्प्रदायबद्धता च वर्तते । एतद् अस्माभिर्दाक्षायणेष्टेर्यद्वा दाक्षायणयज्ञस्य प्रकरणे कुतूहलवृत्तिकारमत-मुद्धृत्य विस्पष्टीकृतम् ।

वस्तुतस्तु प्रकृति-विकृतिभावे आचार्याणां लक्षणभेदैर्दृष्टिभेदैश्च भेदो द्रष्टुं शक्यते । लक्षणभेदैर्गृहमेधीयेष्टेः प्रकृतित्वं विकृतित्वं च कथंकारं विज्ञायत इति पूर्वत्रोक्तम् । दृष्टिभेदेन दर्विहोमविषयको मतभेद इह प्रस्तूयते । बोधायनगृह्यसूत्रे दर्विहोमं प्रकृत्योक्तम्—

आघारं प्रकृतिं प्राह दर्विहोमस्य बादरिः ।
अग्निहोत्रं तथाऽऽत्रेयः काशकृत्स्नस्त्वपूर्वताम् ॥ १।४।४४॥

अनेन वचनेन बादरिमते दर्विहोमस्य आघारः प्रकृतिः, आत्रेयमते अग्नि-होत्रम् । अर्थाद् दर्विहोमो विकृतिरूपः । काशकृत्स्नस्तु दर्विहोमस्य अपूर्वतामाह अर्थान्न स प्रकृतिर्न विकृतिः । इदमेव साम्प्रतिकानां मीमांसकानां मतम् ।

---

१. द्र०—'यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः इत्येव प्रकृतेर्लक्षणम् ।' वेदार्थ-पारिजात, पृष्ठ २०६६ ।

प्रकृतावूहो भवति न वा

प्रकृतौ पठितेषु मन्त्रेषूहो न भवतीति साम्प्रतिकानां मीमांसकानां केषाञ्चिद् याज्ञिकानां च मतम्। आपस्तम्बस्तु स्पष्टमाह—**न प्रकृतावूहो विद्यते** (आप० परि० ३।४८)। अस्मन्मते त्वयमौत्सर्गिको नियमः, प्रायिको वा। वस्तुतस्तु क्वचित् प्रकृतिपठितमन्त्रेष्वप्यूहो भवति। यथा—दर्शपूर्णमासप्रकरणे पुरोडाशस्य द्वे वैकल्पिके द्रव्ये उक्ते—**व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा यजेत।** दर्शपूर्णमासयोः पुरोडाशयोः श्रपणे सम्पन्ने कपालेभ्यस्तावुद्धृत्य पुरोडाशपात्र्यां निधानाय मन्त्रः पठ्यते—**तस्मिन्त्सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः।** मन्त्रोऽयं पुरोडाशयोर्व्रीहिमयत्वे तु यथावदुपपद्यते, परन्तु यवपक्षे नायं मन्त्रः **'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं। यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदति'** (गो०ब्रा०२।२।६) इति विनियोगलक्षणानुसारं वक्तुं शक्यते **व्रीहीणां मेध** शब्दयोर्विरोधात्। एतस्मिन् विषये आपस्तम्बेन तु यवमयपुरोडाशस्य तूष्णीमासादनमुक्तम्—**तूष्णीं यवमयम्** (२।११।२)। लिङ्गविरोधाच्चेति तत्र हेतुमाह रुद्रदत्तः। हरदत्तेनापि **न प्रकृतावूहो विद्यते** (आप० परि० ३ ४८) इति सूत्रव्याख्यानेऽयमेव पक्ष आस्थितः। वस्तुतस्तु मन्त्रस्य निवृत्तिं कृत्वा यवमययोः पुरोडाशयोस्तूष्णीं स्थापनापेक्षया **यवानां मेध** इत्येवमूहकरणं युक्तिसंगतम्। मानवश्रौतसूत्रे (१।२।६।२२) तु **यवानां मेध इति यवानाम्** इति स्पष्टमूहः प्रदर्शितः। भगवता पतञ्जलिनाप्युक्तम्—**न च सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्राः पठिताः, ते च यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथमूहितव्याः** इति (महाभाष्य पस्पशाह्निके)। एवं च **सर्वे विधयः सापवादाः** इति नियमेन यत्र प्रकृतावपि यदि क्वचिल्लिङ्गादिविरोध आपद्येत तर्हि तत्र कर्मणः समृद्ध्यै यथायथमूहः कर्तव्यः।

सम्प्रति द्रव्यमयानां श्रौतयज्ञानां प्रकल्पनायां को हेतुः, कदा चैषां प्रादुर्भावः समजनि, कथं च तत्र परिवर्धनं परिवर्तनं चाभूदिति संक्षेपतः प्रस्तूयते—

द्रव्ययज्ञानां प्रकल्पना-प्रयोजनम्

सृष्ट्यादौ सत्त्वगुणविशिष्टा योगजशक्ति-संपन्नाः परावरज्ञा ऋषयः स्वीयदिव्यमानस-शक्त्या अस्य चराचरस्य जगतः परमाणुत आरभ्य परममहद्द्रव्यपर्यन्तं समस्तं पदार्थजातं हस्तामलकवद् द्रष्टुं समर्था बभूवुः।[1] उत्तरोत्तरं

---

१. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। निरुक्त १।२०॥ पुरा खलु अपरिमितशक्तिप्रभावीर्य ·········· धर्मसत्त्वशुद्धतेजसः पुरुषा बभूवुः॥ पराशरकृत-

सत्त्वगुणस्य ह्रासाद् रजस्तमोगुणयोर्वृद्ध्या च काम-क्रोध-लोभ-मोहादयः प्रादुर्बभूवुः[1] । तैर्वशीभूता मानवी प्रजा सुखविशेषेच्छया प्राजापत्यान् शाश्वत-नियमान् उल्लङ्घ्य कृत्रिमं जीवनं यापयितुं प्रवृत्ता[2] । यथा यथा आवश्यकता वृद्धिं गतवती तथा तथा जीवन-साधनेषु कृत्रिमता अपि ववर्धे । एतेन सहैव मानवीयानां दिव्यशक्तीनां ह्रासोऽपि समजनि[3] । तासां ह्रासेन सूक्ष्म-दूरस्थ-व्यवहिताः पदार्था अज्ञेया अभूवन् । अतो ब्रह्माण्डस्य पिण्डस्य (=शरीरस्य) च कीदृशी रचनेति ज्ञातुं मानवा असमर्थाः समजायन्त । अत एव आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थोऽपि दुरूहः समभवत् । एतादृशे काले तात्कालिकैः साक्षात्कृतधर्मभिः परावरज्ञैर्ऋषिभिर्ब्रह्माण्डस्य पिण्डस्य च रचनां विज्ञापयितुम्, अथ चाधिदैविकस्याध्यात्मिकस्य च प्राचीनवेदार्थस्य सुरक्षायै यज्ञानां प्रकल्पनाऽकारि । यज्ञानां मूलभूतं प्रयोजनं दैवताध्यात्मयोर्विज्ञापनमेव वर्तते । एतस्मिन् विषये भगवता यास्केन **वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्** (ऋ० १०।७१।५) इति ऋक्चरणस्य व्याख्यान उक्तम्—**अर्थं वाचः पुष्पफलमाह याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा** (निरुक्त १।२) इति । अथर्ववेदेऽप्युक्तम्—**तस्माद्वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः । तेषां प्रज्ञानाय यज्ञान् असृजत्** (अथर्व० ११।३ (३), ५२, ५३) इति ।

भगवतो यास्कस्य मतानुसारं यज्ञदैवतयोः ज्ञानं यथाक्रमं पुष्पफलस्थानीयम् अर्थाद् यथा पुष्पाणि फलानां निष्पत्तौ कारणानि भवन्ति, तथैव याज्ञिक-

---

ज्योतिषसंहिताया वचनम्, उत्पलकृतायां बृहत्संहितायाष्टीकायाः १५ शे पृष्ठे उद्धृतम् ।

१. (क) तेषां क्रमादपचीयमानसत्त्वानाम् उपचीयमानरजस्तमस्कानां तेजोऽन्तर्दधे ।। पराशरकृतज्योतिषसंहिताया वचनम्, तत्रैव १५ शे पृष्ठे उद्धृतम् ।

(ख) 'भ्रंशयति तु कृतयुगे···लोभः प्रादुरासीत् ।।२८।। ततस्त्रेतायां लोभादभिद्रोहः, अभिद्रोहाद् अनृतवचनम्, अनृतवचनात् कामक्रोधमानद्वेषपारुष्याभिघातभयतापशोकचिन्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः' ।।२६।। चरकसंहिता विमानस्थान अ० ३ ।।

२. ता इमाः प्रजास्तथैवोपजीवन्ति यथैवाभ्यः प्रजापतिर्व्यदधात् । नैव देवा अतिक्रामन्ति न पितरो न पशवः । **मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति** । शत० २।४।२।५-६ ।।

प्रक्रियाया ज्ञानं दैवतज्ञाने (=ब्रह्माण्डविज्ञाने) कारणम् । यदा च दैवतज्ञानं सम्पद्यते,तदा तदेवाध्यात्मज्ञानदृष्ट्या पुष्पस्थानीयं सत् फलस्थानीयमध्यात्मज्ञानं सम्पादयति । अत एव ब्राह्मणग्रन्थेषु बहुत्र याज्ञिकप्रक्रियानुसारं मन्त्रं व्याख्याय **इत्यधियज्ञम्** इत्युक्त्वा **अथाधिदैवतम्, अथाध्यात्मम्** इत्यादिरूपा निर्देशा उपलभ्यन्ते । तेन च अधियज्ञ-अधिदैवत-अध्यात्मप्रक्रियाणां पारस्परिकी समता निर्दशिता भवति । या चाथर्ववेदस्य श्रुतिरुद्धृता तस्यां तु स्पष्टमेव **तेषां (=लोकानां) प्रज्ञानाय यज्ञान् असृजत्** इत्युक्तम् ।

उक्तविवेचनया इदं सुव्यक्तं भवति यद् यज्ञानां प्रकल्पना ब्रह्माण्डस्य पिण्डस्य च सूक्ष्मरचनाया यथावद् विज्ञानायैव प्राचीनैर्ऋषिभिः कृता । अत एव यज्ञकर्मणि प्रमादात् किञ्चिन्मात्रपरिवर्तने सति कर्म फलप्रद न भवति, पात्राणां च यथास्थानं स्थापनाभावे फलप्रदमपूर्वं नोत्पद्यते इत्याद्याः प्रकल्पना याज्ञिकैः क्रियन्ते । अस्यां प्रकल्पनायां य आधारः स इत्थमञ्जसाऽवबोद्धुं शक्यते—पृथिव्याः खगोलस्य च विज्ञानाय तयोर्मानचित्राणि निर्मीयन्ते प्रकाश्यन्ते च । एषु मानचित्रेषु यदि प्रमादवशेन यत्किञ्चिदप्यन्यथाऽङ्कनं भवति चेत् तेन मानचित्राणि भ्रान्तिजनकत्वात् हेयानि सम्पद्यन्ते, अर्थाद् यस्मै प्रयोजनाय तानि मानचित्राणि निर्मीयन्ते न तानि तत्प्रयोजनं पूरयन्ति । अनयैव दृष्ट्या यज्ञीयमपि प्रत्येकं कर्म यथाशास्त्रं सम्पादनीयं भवति पात्राणि च यथास्थानं स्थापनार्हाणि भवन्ति । अन्यथा तत्र कथमपि भेदे सति आधिदैविकजगतो वास्तविकी स्थितिर्न ज्ञातुं शक्यते अर्थात् कर्म सफलं न भवति, यद्वा फलप्रापकम् अदृष्टं नोत्पद्यते ।

इत्थं भूगोल-खगोलयोर्मानचित्राणामिव श्रौतयज्ञा अप्याधिदैविकस्य अध्यात्मं च जगतो विज्ञानाय साधनभूता एव, न तु स्वयं साध्यरूपाः ।

द्रव्ययज्ञानां प्रकल्पनाया आधारः

विराट्पुरुषेण (=ब्रह्मणा) स्वसखुः[1] शारीरपुरुषस्य (=जीवस्य) शरीररचनायां स्वीयविराट्शरीरस्य (=ब्रह्माण्डस्य) रचनाया अनुकरणं व्यधायि अर्थाद् इदं मानवशरीरमस्य [2]ब्रह्माण्डस्यैवैका लघ्वी प्रतिकृतिरस्ति ।

---

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया । ऋग्वेद १।१६४।२० ॥

२. अस्मदीयं मानवशरीरम् अस्मदीयस्य सौरमण्डलस्य प्रतिकृतिः । इत्थमेव अन्यान्यपि पश्वादीनां शरीराणि ब्रह्माण्डस्य अन्येषां सौरमण्डलानाम् अनुकृतिभूतानि ज्ञेयानि ।

अत एव आयुर्वेदीयायाश्चरकसंहितायाः **'पुरुषविचय'**नाम्नि अध्याये (शारीर० अ० २५)। **पुरुषोऽयं लोकसम्मितः** इत्येवं निर्दिश्य पुरुषस्य लोकेन सह विस्तरेण समता प्रदर्शिता। एतन्मूलिकैव **यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे** इत्युक्तिर्लोके प्रसिद्धिंगता। परावरज्ञैर्ऋषिभिः स्वदिव्ययोगजशक्त्या ब्रह्माण्डस्य पिण्डस्य च रचनासाम्यम् अनुभूय उभयोरपि प्रतिनिधिरूपेण श्रौतयज्ञानां कल्पना कृता। अत एव ब्राह्मणग्रन्थेषु बहुत्र **इत्यधियज्ञम् अथाधिदैवतम् अथाध्यात्मम्** इत्युक्त्वा त्रयाणां पारस्परिकं तुलनात्मकं व्याख्यानमुपलभ्यते। इदमित्थमपि वक्तुं शक्यते—**यथा भूगोलस्य खगोलस्य च विविधानां देशनक्षत्रादिरूपाणां अवयवानां वास्तविकीं स्थितिं ज्ञापयितुं तयोर्मानचित्राणि प्रकल्प्यन्ते, यद्वा कस्याश्चित् परोक्षाया घटनायाः प्रत्यक्षरूपेण निदर्शनाय नाटकानां प्रकल्पना क्रियते, तथैव पिण्डब्रह्माण्डयो रचनां परिज्ञापयितुमृषिभिर्यज्ञानां प्रकल्पना कृता।** अर्थाद् यज्ञानां प्रकल्पनाऽपि भूगोलखगोलयोर्मानचित्राणीव वैज्ञानिकतथ्याधार एवाऽभूत्।

अपि च पृथिव्या विविधप्रदेशानां परिज्ञापनाय यथा नगर-मण्डल-प्रान्त-देश-महादेशानां क्रम आश्रीयते, तदर्थं चानेकविधानि मानचित्राणि निर्मीयन्ते, तथैव ब्रह्माण्डस्य पिण्डस्य च स्थूल-सूक्ष्मरचनां क्रमशः परिज्ञापयितुम् **अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्या**दिरूपा विविधा यज्ञाः प्रकल्पिताः। कल्पनादेव यज्ञानां **'कल्प'** इत्येकं नाम। तस्य व्याख्यानानि[1] च कल्पसूत्राणि उच्यन्ते।

विविधानां श्रौतयज्ञानां प्रकल्पना सृष्टिं विज्ञापयितुमेव कृतेति तथ्यं हृदयंगमं कारयितुं द्रव्ययज्ञानां सृष्टियज्ञानां च काचित् समता समुपस्थाप्यते।

द्रव्य-यज्ञानाम् आधिदैविकसृष्टियज्ञैस्तुलना

द्रव्ययज्ञानां सृष्टियज्ञानां च समताप्रदर्शनाय कानिचित् प्रकरणान्युपस्थाप्यन्ते—

१—वेदि-निर्माणस्य पृथिवी-सर्गस्य च तुलना

प्रथमं तावद् वयं श्रौतयज्ञानाम् आधारभूताया वेद्या निर्मिति-प्रक्रियां अग्न्याधान-प्रक्रियां च, यस्याः शाखा-ब्राह्मण-श्रौतसूत्रेषु विस्तरेण विधानमुपलभ्यते, संक्षेपेण निदर्शयामः—

वेदि-निर्माण-प्रक्रिया—सर्वप्रथमं वेदिनिर्माणार्थं यज्ञोपयोगिन्या भूम्या

१. यज्ञं व्याख्यास्यामः। कात्या० श्रौत १।२।१॥

निरीक्षणं क्रियते। तदनन्तरं तस्यां भूमौ वेदिनिर्माणाय भूमेरुपरिस्थो भागः खन्यते, येनाशुद्धा मृत्तिका, तत्रस्थानि तृणानि तन्मूलानि च परिहृतानि भवेयुः। ततस्तस्मिन् स्थाने निम्नलिखिताः क्रियाः क्रियन्ते—

१—जलेन भूमिः सिच्यते। ततः

२—वराहविहता मृद् उपकीर्यते। ततः

३—वल्मीकवपा उपकीर्यते। ततः

४—ऊषरभूमेर्मृत्तिका उपकीर्यते। ततः

५—सिकता उपकीर्यन्ते। ततः

६—शर्करा उपकीर्यन्ते। ततः

७. इष्टिकाः स्थाप्यन्ते। ततः

८—सुवर्णं स्थाप्यते।[1] ततः

९—यज्ञीयकाष्ठानि चीयन्ते। ततः

१०—शमीगर्भोत्पन्नस्य अश्वत्थस्य काष्ठाभ्यां निर्मिते द्वे अरणी मन्थयित्वा अग्निमुत्पाद्य वेद्यां निधीयते।

पृथिवी-सर्ग-प्रक्रिया—अग्न्याधाने वेदिनिर्माणस्य या प्रक्रिया उक्ता सैव हिरण्यगर्भाख्यान्महदण्डाद्[2] यदा पृथिव्यादयो लोका निस्सृतास्तदानीं पृथिवी सलिलमयी आसीत्। तस्यास्तत्स्वरूपादारभ्य पृथिव्याः पृष्ठे यदाग्नेः प्रादुर्भावः समजनि तावति महति काले पृथिव्यां विविधानि परिवर्तनान्यभूवन्। पृथिव्या वेदेश्च साम्यं स्वयं श्रुतिर्दर्शयति—**इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः** (यजुः २३।६२)। शतपथब्राह्मणे पृथिव्याम् अस्मिन् काले यानि परिवर्तनान्यभूवन् तानि नवधा विभज्येत्थं वर्णितानि—

'स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत।...स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापमूषं सिकतं शर्करामश्मानम् अयोहिरण्यम् ओषधिवनस्पत्यसृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्॥ शत० ६।१।१।१३॥

---

१. **हिरण्यमुपर्यके** (कात्या० श्रौत ४।८।१५)। **सम्भाराणामुपरि हिरण्यनिधानमेके आचार्या इच्छन्ति** इति तद्व्याख्यातारः।

२. हिरण्यगर्भत्वं महदण्डस्य चरमावस्था। तदुक्तं मनुस्मृतौ—तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् (१।९) इति। तदवस्थस्यैव महतोऽण्डस्य द्विधा भावाद् पृथिव्यादयो लोकाः स्वसत्तां प्रापुः। तदाह ऋक्—हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीमुत द्याम् (ऋ० १०।१२१।१) इति।

अत्र यो नवधा सर्ग उक्तः, तस्मिन् फेनस्य अप्प्रधानत्वाद् वेदिनिर्माणस्य या प्रक्रिया पुरस्तादुक्तास्तत्र तस्य निर्देशो न कृतः।

सम्प्रति वैदिकग्रन्थानामाधारेण वेदिनिर्माणस्य पृथिव्याश्च विविधसर्गाणां वर्णनं क्रियते। एतेन यत्पुरस्तादुक्तं तद् यथावत् स्पष्टं भविष्यति।

१—सर्गादौ पृथिवी सलिलमय्यासीत्—**आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास** (शत० ११।६।१।६)। पृथिव्या इमां दशां निदर्शयितुं वेद्याः स्थाने प्रथमं जलं सिच्यते।

२—अग्निसंयोगात् सलिले फेनोऽजायत। स एव मरुतां संयोगात् घनत्वं[1] प्राप्य मृद्भावं गतः। तदुक्तम्—**स (फेनः) यदोपहन्यते मृदेव भवति** (शत० ६।१।३।३)।

मृद्भावत्वे सूर्यरश्मीनां विशिष्टं महत्त्वं भवति। इमे अङ्गिरसाख्यस्य सूर्यस्य पुत्रभूता अङ्गिरसो रश्मयो वराहा अप्युच्यन्ते। तस्मिन् काले पृथिव्याः स्वरूपं वराहमुखमिवाल्पप्रमाणमासीत्। अत एव वेदिनिर्माणे वराहविहतं मृदुपकीर्यते। तदुक्तं मैत्रायणी-संहितायाम्—**यावद् वै वराहस्य चषालम् तावतीयमग्र आसीत्** (१।६।३) इति। इह **'यावद् वै वराहस्य चषालम्'** इत्युक्तिः पृथिव्याः स्वल्पपरिमाणं द्योतयति।

३—यदा सैव मृत् सूर्यकिरणैः शुष्काऽभूत्, तदा शुष्कापरूपा सृष्टिरजायत। अस्यामवस्थायां मृदोऽधस्तात् जलमासीत्। तदुपरिष्ठः शुष्कापभागो वायुरूपिण इन्द्रस्य[2] योगात् पुष्करपर्णवत् लेलायमान[3] एवासीत्। एतामवस्थां **हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा** (ऋ० १०।११९।९)

---

१. सोऽग्निमारुतसंयोगाद् घनत्वमुपपद्यते। महा० शान्ति० १८२।१५॥ यथा तप्ते दुग्धे यद्याच्छादनं क्रियते, तर्हि वायुसंयोगाभावात् तदुपरि सन्तानिका न जायते।

२. वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः (निरुक्त ७।५) इति वचनान्नैरुक्तप्रक्रियायामन्तरिक्षस्थानीयवायुदेवतापक्षे मन्त्रपठितानामिन्द्रादिपदानां वाय्वर्थत्वं व्याचक्षते नैरुक्ताः। तथा चाह वररुचिः—'नैरुक्तपक्षेऽपि—इन्द्र दानादिगुण, इन्द्रो मध्यस्थानो वायुरुच्यते। हे इन्द्र वायो !...।' निरुक्तसमुचयः, पृष्ठ ८४।

३. सा हेयं पृथिव्यलेलायद् यथा पुष्करपर्णम्। शत० २।१।१।८॥

इत्येषा ऋग् द्योतयति। एतां शुष्कापरूपां पृथिव्या अवस्थां द्योतयितुं वेद्यां वल्मीकवपा उपकीर्यते—**यद् वल्मीकवपामुपकीर्याग्निमाधत्ते** (मै० सं० १।६।३)।

४—सैव शुष्कापसंज्ञा मृत् सूर्यकिरणैः प्रतप्य ऊषत्वम् (=क्षारत्वम्) अलभत। अत एव वेद्याम् ऊषरभूमेर्मृद् उपकीर्यते। अत एवोक्तम्—**यदूषानुपकीर्याग्निमाधत्ते**। (मै० सं० १।६।३)।

५—तत्पश्चात् सैव ऊषाख्या मृत् सूर्यतेजसा तप्यमाना सिकतात्वमलभत। अत एवोक्तम्—**यत्सिकतामुपकीर्याग्निमाधत्ते** (मै० सं० १।६।३) इति।

६—तदनन्तरं ता एव सिकताः सूर्यतेजसाऽन्तरूष्मणा च तप्यमानाः शर्करात्वमविन्दन्त। सा शर्कराख्या सृष्टिरजायत। अत एवोक्तम्—**यच्छर्करा उपकीर्याग्निमाधत्ते** (मै० सं० १।६।३)।

यदा पृथिव्यां शर्करा उदपद्यन्त तदा यद्वैशिष्टयं समजायत, तदपि-वदिकग्रन्थेष्वित्थं प्रदर्श्यते—**शिथिरा वा इयमग्र आसीत्। तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत** (मै० सं० १।६।३)। अस्यैवाग्निरूपस्य कस्य (=प्रजापतेः) पृथिवीदृंहणं कर्म ऋग्वेदे इत्थं श्रूयते—**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा** (ऋ० १०।१२१।५) इति।

७—तत्पश्चात् ता एव शर्करा अन्तरूष्मणा तप्यमानाः परस्परमेकीभूय अश्मत्वं गताः। सा अश्माख्या सृष्टिर्बभूव। अत एवोच्यते चयने—**इष्टकाभिरग्निं चिनोति** (तै० सं० ५।६।६।३)इति। नियताकारायां वेद्यां सुगमतायै नियताकारा इष्टका उपधीयन्ते। अश्मनां नियताकारे विपरिणामो विशेषेणायाससाध्य इति कृत्वा अश्मनां स्थाने तत्प्रतिनिधिभूता इष्टका निधीयन्ते।

८—ततस्त एवाश्मानोऽन्तरूष्मणा पच्यमाना लोहादारभ्याऽऽसुवर्णं धातुरूपेण विपरिणामं गताः। तद्रूपाऽयोहिरण्यरूपा सृष्टिः समपद्यत। अत एवोक्तम्—**हिरण्यमुपर्यके** (कात्या० श्रौत ४।८।१५) इति।

९—एवं पृथिव्याः पूर्णत्वेऽपि सा कूर्मपृष्ठवदलोमिकैवासीत्। तत्पश्चात् तत्पृष्ठ ओषधिवनस्पतयोऽजायन्त। पृथिव्या इमामवस्थामेव द्योतयितुं वैदिकग्रन्थेषूक्तम्—

'इयं वाऽलोमिकेवाग्र आसीत्' । ऐ० ब्रा० ५।२३।।

'ओषधिवनस्पतयो वा लोमानि' जै० ब्रा० २।५४।।

'इयं तर्ह्यृक्षाऽऽसीद् अलोमिका । तेऽब्रुवन् तस्मै कामायालभामहै, यथास्यामोषधयो वनस्पतयश्च जायन्त इति' मै० सं० २।५।२।।

अत एव वेद्यां हिरण्यं निधाय काष्ठानि तत्स्थानीया आरण्या गोमया वा स्थाप्यन्ते ।

१०—वनस्पतिषु समुत्पन्नेषु तेषां शाखानां वायुवेगेन परस्परं संघर्षणेन पृथिव्याः पृष्ठे सर्वप्रथमं अग्नेः प्रादुर्भावः समजनि । अत एव वेद उक्तम्—**तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे** (यजुः ३।५) ।

पृथिव्याः पृष्ठे प्रथममग्नेः प्रादुर्भावः कथमभूद् इत्यस्य परिज्ञापनायैव वेद्यां यस्याग्नेराधानं क्रियते सोऽश्वत्थकाष्ठनिर्मिताभ्याम् अरणीभ्यां मन्थयित्वैवोत्पाद्यते ।

२—सोमयागस्य वृष्टियज्ञस्य च साम्यम्

सोमयागस्य या विधिः शास्त्रेषु समुपलभ्यते, तस्याः वृष्टियज्ञेन सह पूर्णं साम्यं वर्तते । अस्मन्मते तु सोमयागेन वृष्टेरुत्पत्तिः कथं भवति, संवत्सरे च चातुर्मासिकेषु त्रिषु ऋतुषु कथं कियच्च जलं प्रवर्षति इत्यस्मै व्याख्यानं वर्तते । अत्रस्था अग्नीषोमीयः सवनीयः मैत्रावरुणी वशा गौश्चेति त्रयः पशवोऽप्यालभ्यन्ते । ते च पशवो न पार्थिवा अपितु आन्तरिक्षा एव सन्ति । तेषां तत्र यथाकालं समालभनं भवति ।

विषयोऽयं विस्तरमपेक्षते । अत इह संकेतमात्रमेव क्रियते । उभयोः पारस्परिकी तुलना श्रौतयज्ञमीमांसायाः हिन्दीभाषाभागान्ते विस्तरेण निदर्शयिष्यते । अतस्तत्रैव जिज्ञासुभिरवलोकनीयम् ।

३—अग्निचयने पुष्करपर्णनिधानविधे रहस्यम्

अग्निचयनयागो द्युस्थानीयस्य सुपर्णस्य आदित्यस्य सृष्टौ यत्कार्यजातं तन्निदर्शयति । यवाद्योषधीनां प्रादुर्भावे प्राणिनां जीवने च आदित्य एव मुख्यं कारणम् । अत एव चयनभूमिः पूर्वं कृष्यते बीजानि चोप्यन्ते । मुख्यानां पञ्च पशूनां प्रतिनिधिरूपेण तेषां शीर्ष्णां प्रतिकृतयो विधीयन्ते । तदनन्तरम् इष्टकाश्चीयन्ते । वैदिकग्रन्थानामनुशीलनेन विज्ञायते यदा हिरण्यगर्भरूपस्य महदण्डस्य द्विधाभावे पृथिव्यादयो लोका स्वस्थितिमलभन्त तदानीं

द्यावापृथिव्योरन्तरमल्पीय आसीत् । अस्याः स्थितेर्निदर्शनं **जामी सयोनी मिथुना समोकसा** (ऋ० १।१५९।४) इत्यस्यामृचि समुपलभ्यते । अस्या एव व्याख्यानं ब्राह्मणग्रन्थेष्वित्थं क्रियते—

द्यावापृथिवी सहास्ताम् । तै० सं० ५।२।३।३।। तै० ब्रा० १।१।३।२।।

सह हैवेमावग्रे लोकावासतुः । शत० ७।१।२।२३।।

कालान्तरे समोकसौ द्यावापृथिव्यौ वियुतावभवताम् । तदुक्तं शतपथे—

अग्न आयाहि वीतय इति । तद्वेति भवति वीतय इति । समन्तकमिव ह वा इमे अग्रे लोका आसुरिति उन्मृश्या हैव द्यौरास । शत० १।४।२२।।

एतद्वचनानुसारं द्यावापृथिव्योर्लोकानां वा वीतिभावे अग्निः प्रधानं हेतुरभवत् ।

आदित्यस्य दूरगमनम् अर्थात् स्वकक्षायां तस्य स्थितिः त्रिः कृत्वाऽभूत् । अत एव अग्निचयनयागोऽपि त्रिधा विभज्य संपाद्यते । तत्र प्रथमायां चितौ एक-सहस्रमिष्टकाश्चीयन्ते । इयं चितिरूरुदघ्ना भवति । द्वितीयायां चितौ द्विसहस्र-मिष्टकाश्चीयन्ते । इयं उरोदघ्ना सम्पद्यते । तृतीयस्यां चितौ त्रिसहस्रमिष्ट-काश्चीयन्ते । इयं शीर्षदघ्ना मुखदघ्ना वा भवति ।

अग्निचयनस्य (सुपर्णचितेः) विषये विस्तरेण अन्यत्र प्रतिपादन करि-ष्यते । अत्रस्थाः केचन विधय इदानीमप्यस्माक रहस्यभूता इव सन्ति ।

पुष्करपर्णनिधानविधिः—अग्निचयने इष्टकाचयनात् प्राक् **तस्मिन् पुष्कर-पर्णम् अपां पृष्ठमिति** (कात्या० श्रौत १६।२।२५) इत्यनेन पुष्करपर्णस्य निधानं विधीयते । पूर्वत्र वेदिनिर्माणप्रक्रियायां शुष्कापरूपायाः पृथिव्या यन्नि-दर्शनमकारि, तस्यां स्थितौ अल्पीयस्य पार्थिवभागस्याधस्ताद् जलमासीत् । तदानीं यथा सरोवरे वायुना पुष्करपर्णानि लेलायन्ते तथैव पृथिव्यपि लेलाय-माना अभूत् । अत एवोक्तम्—**सा हेयं पृथिव्यलेलायत यथा पुष्करपर्णम्** (शत० २।१।१।८) । अस्याः स्थितेर्निदर्शनार्थं चयने पुष्करपर्णं निधीयते । अग्न्याधान-वत् चयने **हिरण्यं निधाय चेतव्यम्** (मी० १।२।१८ भाष्ये) इत्यपि विधीयते । पुष्करपर्णनिधानविषये मत्स्यपुराण उक्तम्—

एतस्मात् कारणात् तज्ज्ञैः पुराणैः परमर्षिभिः ।
यज्ञियैर्वेददृष्टान्तैर्यज्ञे पद्मविधिः स्मृतः ।।

१८६।१६ (मोर संस्क०)।

४—सृष्टि-यज्ञानां द्रव्य-यज्ञानां च देवतानां साम्यम्

मन्त्रा द्विविधाः सन्ति—विज्ञातदेवतका अविज्ञातदेवतकाश्च । नैरुक्त-सम्प्रदायस्याचार्याः प्राधान्येन वेदमन्त्राणां व्याख्यानमाधिदैविकप्रक्रियानुसारं कुर्वन्ति । तत्र नैरुक्तसम्प्रदाये येषां मन्त्राणां देवता विज्ञाताः सन्ति ता देवता आधिदैविकस्य जगतो विशिष्टकर्मकारिणो भौतिकाः सूर्यादयः पदार्थाः सन्तीति निरुक्तशास्त्रस्याध्ययनेन विस्पष्टं भवति । परन्तु येषां मन्त्राणां देवता अविज्ञाताः, तासां देवतानां विज्ञानाय यास्काचार्य आह—**तद् येऽनादिष्ट-देवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा । यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति** (निरुक्त ७।४) इति । एतद् वचनानुसारम् अनादिष्टदेवतानां मन्त्राणां परिज्ञानं यज्ञप्रक्रियामनुरुध्य कर्तव्यम् । तत्रानादिष्टदेवतो मन्त्रो यज्ञ-प्रक्रियानुसारं कस्मिन् यज्ञे यज्ञाङ्गे वा विनियुक्त इति प्रथमं परिज्ञानं कर्तव्यम् । तथा सति तस्य यज्ञस्य यज्ञाङ्गस्य च या देवता सैव अनादिष्टदेवतकस्य मन्त्रस्य विज्ञेयेति ।

आधिदैविकप्रक्रियानुसारं मन्त्राणां व्याख्यानं कुर्वता यास्केन आधि-दैविकदेवताया विज्ञानायेह यज्ञप्रक्रियाया अनुसरणं कृतम् । एतेनैतद् विस्पष्टं विज्ञायते यद् यज्ञीयानां देवतानां आधिदैविकदेवतानां च साम्यं वर्तत इति । अन्यथाऽधिदैविकप्रक्रियामनुसरन् निरुक्तकारो **यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति** इति नावक्ष्यत् ।

५—त्रयाणां लोकानां यज्ञैः साम्यम्

यास्कमुनिः अनादिष्टदेवतानां मन्त्राणां देवता-परीक्षा-प्रकरणम् उप-संहरन्नाह—

‘अथैतान्यग्निभक्तीनि—अयं लोकः, प्रातःसवनं, वसन्तः.........। अथैता-नीन्द्रभक्तीनि – अन्तरिक्षलोकः, माध्यन्दिनं सवनं, ग्रीष्मः.........। अथैतान्या-दित्यभक्तीनि—असौ लोकः, तृतीयं सवनं, वर्षाः......।’ निरुक्त ७।८-११ ॥

अस्येदं तात्पर्यम्—अग्नीन्द्रादित्यास्तिस्रो नैरुक्ता याः प्रधानदेवताः सन्ति, तासां यैः सह भक्तिसाहचर्यमुपवर्णितम्, तेषु यदि कस्यचिद् अग्नीन्द्रादित्यानां भक्तिसाहचर्योक्तस्य सम्बन्धः कस्मिंश्चिदनादिष्टदेवताकमन्त्रे दृश्यते चेत् तस्यानिर्दिष्टदेवताकस्य मन्त्रस्य क्रमशोऽग्नीन्द्रादित्यदेवतासु अन्यतमा देवता विज्ञेयेति । एतेनापि नैरुक्ता आधिदैविका देवता याज्ञिकाश्च देवताः

समानाः, अथ च त्रयाणामपि लोकानां यत्रगतैस्त्रिभिः सवनैः साम्यम् इति सुस्पष्टं भवति ।

त्रयाणां लोकानां त्रिभिः सवनैः साम्यम् इति निरुक्तस्याधोनिर्दिष्टवचनेनाप्यभ्यूहितुं शक्यते—

अथासावादित्यः (वैश्वानरः) इति पूर्वे याज्ञिकाः । एषां लोकानां रोहेण सवनानां रोह आम्नातः । रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः। तामनुकृतिं होताग्निमारुते शस्त्रे वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते (निरुक्त ७।२३) ।

अस्यायमभिप्रायः—पूर्वे याज्ञिका आदित्यं वैश्वानरं मन्यन्ते स्म । तेषां मतानुसारम् एषां लोकानां रोहक्रमेण सवनानामपि रोहः समाम्नातः । अतः प्रातःसवने द्युस्थानीयो यजमानो माध्यन्दिने सवने अन्तरिक्षस्थानीयः, तृतीयसवने च द्युस्थानीयः सम्पद्यते । तस्य द्युस्थानीयस्य यजमानस्य प्रत्यारोह आवश्यकः । अतो द्युस्थानीयस्य यजमानस्य प्रत्यवरोहाय होता आग्निमारुते शस्त्रे प्रथमं वैश्वानरीयेण (=आदित्यदेवताकेन) सूक्तेन शस्त्रमारभते ।

इह वेदिनिर्माण-अग्न्याधान-सोमयाग-अग्निचयनप्रक्रियाभिः सवनानां चारोहादिक्रमस्य सृष्टियज्ञैर्या समता ब्राह्मणादिग्रन्थेषु निर्दशिता तयैतद् विस्पष्टं यच्छ्रौतयज्ञा सृष्टियज्ञानामेव रूपका इति । सृष्टियज्ञस्यार्थाद् आधिदैविकस्य जगतोऽध्यात्मेन साम्यं वर्तते । अत आधिदैविकज्ञानेन अध्यात्मज्ञानं भवति । अत एवोक्तं यास्केन—**देवताध्यात्मे वा [पुष्पफले]** (निरु० १।१६)। अयमेवाभिप्रायो **यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे** इति लोकोक्त्याऽपि विज्ञायते ।

यद्यपि वैज्ञानिके आधारे प्रकल्पितानां श्रौतयज्ञानां समस्तानां क्रियाणां पदार्थानां च आधिदैविकाध्यात्मिकजगद्भ्यां किं सादृश्यं वर्तत इत्यस्य न साक्षात् विस्तृतं वर्णनं सम्प्रत्युपलब्धे वैदिकवाङ्मय उपलभ्यते, तथापि ब्राह्मणग्रन्थेषु यत्र तत्र याज्ञिकक्रियाणां तद्गतपदार्थानां च निर्देशेन सहैव **इत्यधिदैवतम् इत्यध्यात्मम्** इत्येवं निर्देशानामुपलब्ध्या इदमञ्जसा अनुमातुं शक्यते यद् यज्ञानामाधिदैविकजगता सहास्ति कश्चित् सम्बन्ध इति ।

पुरस्ताद् यद् यज्ञब्रह्माण्डयोः सादृश्यं निर्दशितं तदनुसारमिदं शक्यते वक्तुं यदा प्रारम्भे यज्ञानां प्रकल्पना ऋषिभिरकारि तदानीं यज्ञस्य समस्ताः क्रियाः तद्गताः पदार्थाश्च आधिदैविकजगतः क्रियाणां तद्गतपदार्थानां च पूर्णं प्रातिनिध्यं कुर्वन्ति स्म । उत्तरकाले यज्ञक्रियासु परिवर्तने परिवर्धने च सत्यपि अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्य-सोमयागप्रभृतिष्वद्यापि बह्वीनां क्रियाणां तद्गतपदार्थानां चाधिदैविकजगतः क्रियाभिः पदार्थैश्च महत् सादृश्यमुपलभ्यते ।

यज्ञानां प्रादुर्भावस्य कालः

भारतीयैतिह्यानुसारं सर्गारम्भे वैदिकज्ञानस्य समुपलब्धौ सत्यपि यथा वेदेषु वर्णितानां चातुर्वर्ण्यव्यवस्था-राज्यव्यवस्थादिव्यवहाराणां प्रचलनं न सर्गारम्भ एवाभवत् तथैव द्रव्यमय-यज्ञानां प्रचलनमपि नारम्भकाल एव समजायत । यतस्तदा समस्ता अपि मानवाः सत्त्वगुणसम्पन्नाः साक्षात्कृतधर्माणः परावरज्ञा मेधाविन आसन् ।[1] महाभारताद्यैतिहासिकग्रन्थानुसारं तदानीं सर्वं जगद् ब्रह्ममय आसीत्।[2] यज्ञानां विषये शाङ्खायनारण्यके श्रूयते—**तद्ध स्मैतत् पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुह्वांचक्रुः** (४।५, पृष्ठ १५) इति ।

ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि बहुत्र **य उ चैनं वेद** इत्युक्त्वा यज्ञसंपादनस्य तं तत्त्वतो विज्ञानस्य च समानं फलं दर्शितम् । एतदेव च दयानन्दसरस्वतीस्वामिना संस्कारविधेः १९३२ तमे वैक्रमाब्दे प्रकाशिते प्रथमसंस्करणे गृहस्थाश्रमप्रकरणे लिखितम्—**उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने वाला, ज्ञानी = सब पदार्थों का जानने वाला, ये दोनों होमादि बाह्य क्रिया न करें** (पृष्ठ ११८) । संन्यासिनोऽर्थाद् विज्ञानवतः पुरुषस्य यद् होमादिप्रतिषेधविधानं सर्वशास्त्रेषु निर्दिश्यते तस्य मूलेऽपीदमेव कारणं विज्ञेयम् ।

यथा वर्णाश्रमादयः सर्वा व्यवस्थाः कृतयुगस्यान्त्यचरणे कृतत्रेतायुगयोः सन्धिकाले वा प्राचलन्, तथैव यज्ञानां प्रादुर्भावोऽपि कृतयुगान्ते त्रेतायुगारम्भे वा समभवत् ।[3]

---

१. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ १६, टि० १ ।

२. **सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्** । महा० शान्ति० ११८।१०।।

३. '**इदं कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः ।
अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन्न तदन्यथा** ।।' महा० शान्ति० ३४०।८२।।
अस्मिन् श्लोके कृतयुगे यज्ञानां विद्यमानतोक्ता ।
'**त्रेतादौ केवला वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा** ।' महा० शान्ति २३८।१४।।
'**त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृते युगे** ।' महा० शान्ति० २३२।३२।।
'**यथा त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत् प्रवर्तनम्** ।' वायु० ५७।८६।।
'**कथं त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत् प्रवर्तनम्** ।' मत्स्य ४२।१, मोर संस्क० ।
'**तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा**

यज्ञानां क्रमशो विकासः

यज्ञानां विकासस्य यः क्रम उपलभ्यते, तत्र अग्नेरेकत्व-त्रित्व-पञ्चत्वैः सह यज्ञेषु विनियुक्तेषु वेदानामपि **एकस्य द्वयोस्त्रयाणां** च विनियोजनक्रमो दृश्यते। प्रारम्भेऽग्नेरेकत्वाद्[1] **एकाग्निसाध्यस्य यजुर्वेदमात्रसाध्यस्य अग्निहोत्रस्यैव** प्रचलनमभूत्। तदनन्तरं यदा महाराजेन पुरुरवसा ऐलेन **त्रिधाऽग्निर्विभक्तः**[2] ततः प्रभृतिः **त्रेताग्निसाध्या ऋग्यजुभ्यां** क्रियमाणा **दर्शपूर्णमासादयो**

संततानि।' मुण्डकोप० १।२।१॥

त्रेतायां वा युगे प्रायषः प्रवृत्ताः। शाङ्करभाष्य, मुण्डकोप० १।२।१॥

मत्स्यपुराणे स्वायम्भुवमन्वन्तरे यज्ञ-प्रवर्तनमुपवर्णितम्—**यज्ञप्रवर्तनं ह्येवमासीत् स्वायम्भुवेऽन्तरे** (१४२।४२; मोरसंस्क०)।

इदमत्र ध्येयम्—मनोर्जलप्लवानन्तरं प्राचीनामितिहासपरम्परां सुरक्षयितुं या मन्वन्तरादिकल्पना पूर्वैर्ऋषिभिः कृता, तदनुसारं **कृतयुगे स्वायम्भुवमन्वन्तरं** समाप्तिं गतम्। त्रेतायुगाद् वैवस्वतं मन्वन्तरं प्रारभत। द्र०—भरतप्रोक्तं नाटयशास्त्रम् १।८॥ महाभारतेऽप्युक्तम्—**त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ** (शान्ति ३४८।५१)। अत्रस्थो मनुर्वैवस्वतमनुरेव। वस्तुतः भारतीयकालगणनाया गम्भीरमनुशीलनमत्यावश्यकं वर्तते। विनैतद् भारतीयैतिह्यस्य ग्रन्थीनां भेदनमसम्भवमेव।

१. **'अङ्गिरसां वा एकोऽग्निः**।' ऐ० ब्रा० ६।२४॥ उत्तरा टिप्पण्यपि द्रष्टव्या।

२. **'गन्धर्वेभ्यो वरं लब्ध्वा त्रेताग्निं समकारयत्।**
एकोऽग्निः पूर्वमासीद् ऐलस्त्रेतामकारयत्॥' हरिवंश १।२६।४७॥
'......त्रेतायां स महारथः (ऐलः)।
एकोऽग्निः पूर्वमासीद्वै ऐलस्त्रींस्तानकल्पयत्॥' वायु पुराण ९१।४८॥

किं **गन्धर्वेभ्यां वरं लब्ध्वा** इत्यत्रोक्ता गन्धर्वाः **गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु** इति याजुषमन्त्रे (२।३) उक्ता दैव्यः शक्तयः? वायुपुराणस्य एकनवतितमस्याध्यायस्य ४८ तमाद् आरभ्य एकपञ्चाशत्पर्यन्ताश्चत्वारः श्लोका अपि द्रष्टव्याः। इह ऐलस्य आयु-आदयः षट्पुत्राः **'गन्धर्वलोके विदिताः'** (प्रसिद्धाः) इत्युक्तम्। त्रयाणामग्नीनां नामानि शतपथब्राह्मणे इत्थं निर्दशितानि—**एतानि वै तेषां नामानि यद् भुवस्पतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिः** (शत० १।३।३।१७)।

यज्ञाः प्रावर्तन्त । ततः पश्चात् महावेद्यां सम्पद्यमाना **ऋग्यजुःसामभिः** साध्या **ज्योतिष्टामादयः**[1] प्रवृत्ताः । तदनन्तरं **..ञ्चाग्निसाध्यानां** विविधक्रियाकलापानां प्रवृत्तिरजायत ।

यज्ञानां द्वौ भेदौ—प्रत्ना नूतनाश्च

गोपथब्राह्मणे यज्ञानां प्रत्न-नूतनभेदावित्थमुपवर्णितौ—

सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपियन्ति नूतना यानृषयो(?) सृजन्ति ये च सृष्टाः पुराणैः। गो० ब्रा० १।५।२५ ।।

प्रारम्भिका यज्ञाः

यतो देवयुगे यज्ञानां प्रकल्पनाऽतिमहत्त्वपूर्णदृष्टचा वैज्ञानिके आधारेऽभूत्, अतः प्रारम्भे प्रकल्पितानां यज्ञानाम् आधिदैविकजगता सह साक्षात् सम्बन्ध आसीत् । यथा—**अग्निहोत्रस्य अहोरात्रेण सह, दर्शपूर्णमासयोः कृष्णपक्ष-शुक्लपक्षाभ्यां सह, चातुर्मास्यानां त्रिभिर्ऋतुभिः सह ।** अग्निहोत्रस्य दर्शपूर्ण-मासयोश्चाधिदैविकव्याख्यानं शतपथस्यैकादशे काण्ड उपलभ्यते । चातुर्मास्यानां विषये ब्राह्मणग्रन्थेषूक्तम्—

'भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि । तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते । ऋतु-सन्धिषु हि व्याधिर्जायते । कौषीतकि ब्रा० ५।१।।

इत्थमेव गोपथब्राह्मणेऽप्युक्तम् (द्र०—२।१।१९) ।

महाभारते शान्तिपर्वणि अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्यसंज्ञकास्त्रय एव यज्ञाः प्राचीना इत्युक्तम् । तथाहि—

दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः ।
चातुर्मास्यानि चैवासन् तेषु धर्मः सनातनः ।। शान्ति० २६९।२०।।

प्रारम्भिक-यज्ञेषु आडम्बरराहित्यं सात्त्विकता च

आदौ येषां यज्ञानां प्रकल्पना ऋषिभिरकारि ते आडम्बररहिताः परम-सात्त्विकाश्चासन् । तेषु बाह्याडम्बरस्य अवैदिकविचाराणां मांसादितामसिक-पदार्थानां च किञ्चिन्मात्रमपि सम्बन्धो नासीत् । एतस्य निदर्शनाय केवलं द्वे प्रमाणे उपस्थाप्येते—

---

१. **'यजुषा ह वै देवा अग्रे यज्ञं वितेनिरे । अथर्चाऽथ साम्ना, तदिदमप्येतर्हि यजुषा एवाग्रे यज्ञमतन्वत, अथर्चाऽथ साम्ना ।** शत० ४।६।७।१३ ।।

१. दर्शपूर्णमासादिषु हविषो निर्वापाय हविर्द्रव्यपूरितं शकटमुपस्थाप्य ततो हविषो निर्वापः कर्तव्य इति हि ब्राह्मणादिषु विधीयते। तथाहि—

१—'**यज्ञो हि वा अनः। तस्मादनस एव यजूंषि सन्ति, न कोष्ठस्य, न कुम्भ्यै। भस्त्रायै ह स्मर्षयो गृह्णन्ति। तद् वृषीन् प्रति भस्त्रायै यजूंष्यासुः। तान्येतर्हि प्राकृतानि।**' शत० १।१।२।७॥

एकस्या आहुत्यै **चतुरो मुष्टीन् निर्वपति** इति विधानानुसारं दर्शपौर्णमासयोर्द्वयोः पुराडाशाहुत्योः कृते व्रीहीणां यवानां वा अष्टौ मुष्टय आवश्यकाः। तदर्थं हविर्द्रव्यपूरितस्यानस आनयनस्य न किञ्चिदपि प्रयोजनम्। तावन्मात्रं द्रव्यं घटादिभ्योऽपि ग्रहीतुं शक्यम्। सत्यप्येव भगवता याज्ञवल्क्येन अनस आनयनस्यैव विधानं कृतम्, तत्र च **अनस एव यजूंषि सन्ति** इति हेतुः प्रदत्तः। मनुस्मृत्यादिषु धर्मशास्त्रेषु अपरिग्रहवृत्तेर्ब्राह्मणस्य विषय उक्तम्—सकुशूलधान्यको वा कुम्भीधान्यको वा त्र्यहैकिक उत वाश्वस्तनिकः स्यात् (मनु ४।७)। आस्वन्यतरवृत्त्या जीवन् ब्राह्मणः कथं नाम हविःपूरितमन उपस्थापयितुमर्हति। अत एवाह याज्ञवल्क्यः—प्राचीना ऋषयो भस्त्रातो हविर्गृह्णन्ति स्म। सत्येवं 'अनस एव यजूंषि सन्ति' इत्यस्य का गतिः स्याद् इत्यत आह—तान् ऋषीन् प्रत्येतान्येव यजूंषि भस्त्रायै आसुः। उभयोर्विरोधप्रतिहाराय पुनराह—तान्येतर्हि प्राकृतानि (=साधारणानि) यजूंषि सन्ति। यतः कुतश्चिद् हविर्ग्रहणे इमानि यजूंषि विनियोगसमर्थातानि सन्ति।

अनेनोद्धरणेन द्वे तत्वे विस्पष्टीभवतः—तत्र प्रथमम्—याज्ञिकक्रियायामुत्तरोत्तरं परिवर्तनं समजायत। एतस्य संपुष्टिर्निरुक्तस्य—**असावादित्यः (वैश्वानरः) इति पूर्वे याज्ञिकाः** (७।२३) इति वचने याज्ञिकपदेन सह प्रयुक्तेन पूर्वविशेषणेन भवति। द्वितीयम्—पुराकाले मानवानां सत्त्वगुणप्रधानत्वाद् यज्ञेषु बाह्याडम्बरो नैवासीत्। उत्तरोत्तरं यदा मानवेषु रजस्तमोगुणयोर्वृद्धया लोभ-परिग्रह-सम्पन्नताः प्रादुर्बभूवुः, तेनैव सह सम्पन्नतायाः प्रदर्शनरुचेः प्रादुर्भावाद् यज्ञेष्वपि बाह्याडम्बरे वृद्धिरजायत।

पौर्णमासेष्टौ पुरोडाशयोर्द्वयोः प्रधानाहुतयोः कृते **चतुरो मुष्टीन् निर्वपति**[1] इति नियमेन व्रीहीणां यज्ञानां वाऽष्टौ मुष्टयोऽपेक्षन्ते। अष्टमुष्टिमात्रान्नस्य ग्रहणाय यज्ञस्थले शकटपरिमितस्यान्नस्यानयने किं प्रयोजनम्? **स्वसम्पन्नता-**

---

१. तुलना कार्या—**चतुरो मुष्टीन् निरूप्य।** आप० श्रौत १।१८।२॥

प्रदर्शनमृते नान्यत् कारणं शक्यते वक्तुम् । अत एव प्राचीना अलोलुपाः कुम्भीधान्या ऋषयो भस्त्रात एव हविर्गृह्णन्ति स्म कुम्भीतो वा ।

साम्प्रतिका याज्ञिकंमन्याः शकटाद् हविर्ग्रहणस्य प्रयोजनं केवलमदृष्टोत्पत्तिं मन्यमाना वितस्तिमात्राकारवता शकटेन हविर्द्रव्यस्य स्पर्शमात्रं कृत्वा कार्यं सम्पादयन्ति । नैतावदेव, अपि तु व्रीहीणां यवानां वा सम्पादिते पिष्ट एव अवहननादिक्रियां कुर्वन्ति नोलूखलमुशलाभ्यां कुट्टयित्वा तुषान् पृथक् कुर्वन्ति न दृषदोपलाभ्यां पेषणं सम्पादयन्ति । केवलं पूर्वतः पिष्टस्य द्रव्यस्य स्पर्शमात्रमेव विदधति । इत्थमेव सोमयागस्य समय एव निष्पाद्यमानस्य हविर्मण्डपस्य पूर्वत एव निष्पादितस्य यागकाले स्पर्शमात्रं कुर्वन्ति ।[1]

२—प्राचीना यज्ञा अवैदिकभावनाभ्यः सर्वथा विरहिता आसन् । किन्तूत्तरकाले दर्शपूर्णमाससदृशेषु विशुद्धेष्वपि यागेषु अवैदिकविचाराणां सम्मिश्रणमभूत् । एतस्यैकमुदाहरणं प्रस्तुमः—

आदौ वैदिकमतानुसारं पुत्रेषु पुत्रीषु च न कश्चिदपि भेदः स्वीक्रियते स्म । अर्थात् पुत्रं प्रत्युत्कृष्टभावना पुत्रीं प्रति च हीनभावना नावर्तत । इदं च भगवता यास्केन निरुक्ते (३।४) **अङ्गादङ्गात् सम्भवसि** इति मन्त्रम् **अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मत** इति मानवं श्लोकमुद्धृत्य विस्पष्टीकृतम्[2] । सम्प्रति प्रवर्तमानेषु श्रौतयज्ञेषु पुत्रीं प्रति हीनभावनाया निदर्शकानि वचनानि प्रयुज्यन्ते । तानि यजमानः प्रयाजसंज्ञकेषु यागेषु प्रतियागम् आशीरूपेण पठति—

प्रथमप्रयाजानन्तरम्—**एको मम एका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः** । इत्थमेव **द्वौ मम द्वे तस्य; त्रयो मम तिस्रस्तस्य, चत्वारो मम चतस्रस्तस्य, पञ्च मम न तस्य किंचन** (शत० १।५।४।१२; कात्या० श्रौत ३।३।२-४; आप० श्रौत ४।६।४) ।

अत्र यजमानः स्वार्थं पुत्राणां कामनां करोति यं च स द्वेष्टि तस्मै पुत्री-

---

१. अद्यत्वे तु पूर्वकृतस्य मण्डपस्य यागकाले स्पर्शमात्रं क्रियते । द्र०—कात्या० श्रौत ८।३।२४ विधाधर-टीका ।

२. अविशेषेण मिथुनाः पुत्रा दायादा इति । तदेतद् ऋक्श्लोकाभ्यामुक्तम्-

अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ।।
अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः ।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।। निरुक्त ३।४।।

णाम् कामनां करोति । वस्तुतः पुत्राणां पुत्रीणां च मध्ये भेदभावनायाः प्रादुर्भावो बहूत्तरकालं बभूव । अस्या भावनायाः परिणतिः सद्य उत्पन्नायाः पुत्र्या वधेऽभूत् ।

३—**'आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म । ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकाले मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्' पशवः प्रोक्षणमापुः ।'** चरक चिकित्सा० १९।४।।

अनेन चरकवचनेन विस्पष्टं भवति, यदादिकाले यज्ञेषु पशूनामालम्भनं न भवति स्म । अर्थात् पर्यग्निकरणानन्तरं पशून् स्पृष्ट्वा उत्सृजन्ति स्म । पशूनामालम्भनं कस्माद्धेतोः प्रवृत्तमित्यप्यस्मिन् वचने **पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्** इति मिथ्याभ्रान्तिरत्र कारणमित्यपि प्रदर्शितम्[1] । यज्ञे पशुनामालम्भनप्रक्रिया बहूत्तरकालं प्रवृत्ता इत्यस्य संपुष्टिः महाभारते वायुपुराणे च समुल्लिखितेन उपरिचरवसोराख्यानेन भवति[2] । यज्ञेषु पश्वालम्भनं कथं प्रवृत्तमित्यस्मिन् विषये महाभारते इत्थं समुल्लेख उपलभ्यते—

'लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः संप्रवर्त्तितम् ।
वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम् ।।' शान्ति २६३।६।।

अस्य हेतोः सम्पुष्टिबौद्धत्रिपिटकस्य ब्राह्मणधम्मियसुतस्य वचनेनापि भवति। तथाहि—

ते तत्थ मन्ते गन्थे त्वा ओक्कासं तदुपागमुम् ।
पहूत धन धञ्जोऽसि यजस्सु बहु ते धनम् ।।

अर्थाद् वित्तलुब्धा ब्राह्मणा अतथ्यान् मन्त्रान् ग्रथयित्वा[3] इक्ष्वाकोः सकाशं गत्वाऽऽहुः । राजन् तव सकाशे बहुवित्तं वर्तते तेन यजस्वेति ।

पशुयज्ञानां किं स्वरूपम्, तत्र पशूनां वधो भवति न वेत्ययोर्मीमांसा अग्रे पशुयज्ञविवेचने करिष्यते । अत्र निर्देशस्य त्वेतावदेव प्रयोजनं यद् यज्ञेषु उत्तरोत्तरं विकासेन सार्धं बहुविधानि परिवर्तनान्यभूवन् ।

---

१. अस्मिन् विषयेऽग्रे लिखितं महाभारतीयं वचनमप्यनुसन्धेयम् ।

२. महाभारत शान्तिपर्व अ० ३३७; वायुपुराण अ० ५७।९१-१२५ । अत्रोभयत्र विस्तरेणेदमाख्यानं वर्तते । महाभारत अनु० ६।३४; ११६।५६-५८ अनयोः स्थानयोरुपरिचरवसुविषयकः संकेतो वर्तते ।

३. एतस्मिन् विषय उत्तरत्र द्रष्टव्यम् ।

स्वामिदयानन्दसरस्वतीसम्मता यज्ञ-प्रक्रिया

उपर्युक्तैः कारणैः कतिपयैरन्यैश्च कारणैर्दयानन्द सरस्वतीस्वामिनः शाखा-ब्राह्मण-श्रौतसूत्रादिषु प्रतिपादितानां श्रौतयज्ञानां प्रामाण्यं स्वीकुर्वन्तोऽप्याहुः—

'एतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र (=वेदभाष्ये) विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेय-शतपथब्राह्मण-पूर्वमीमांसा-श्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्।……तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तवुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति।' ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञा-विषय, पृष्ठ ३८८, रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण २।

एतेनेदं विस्पष्टं भवति यच्छाखाब्राह्मणश्रौतसूत्रपूर्वमीमांसादिषु निर्दिष्टानां युक्तिविरुद्धानां वेदादिशास्त्रप्रमाण-प्रतिकूलानां मन्त्रार्थाननुसृतानां विनियोगानां दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः प्रामाण्यं न स्वीकुर्वन्ति स्म। यथा—

१—**युक्तिविरुद्धाः**—अश्वमेधे अश्वेन सह राजमहिष्याः समागमः, यज्ञशालायाम् अध्वर्य्वादीनामृत्विजां स्त्रीभिः कन्याभिश्च सहाऽश्लीलं संभाषणम् इत्येवमादयः। द्र०—शतपथब्राह्मणे (१३।५।२) अध्रिगोः परिशिष्टम्। कात्या० श्रौत २०।६।१२-२०।

२—**वेदादिप्रमाणाननुकूलाः**—वेदे गवाश्वाविपुरुषादीनां न केवलं हिंसैव प्रतिषिद्धा अपि तु य एतान् घातयन्ति ते गोलिकाभिर्घातनार्हाः सन्ति। यथा—

गां मा हिंसीरदितिं विराजम्। यजुः १३।४३॥

मा गामनागामदितिं वधिष्ट। ऋ० ८।१०१।१५॥

अश्वं जज्ञानं……मा हिंसीः परमे व्योमन्। यजुः १३।४२॥

अविं जज्ञानं……मा हिंसीः परमे व्योमन्। यजुः १३।४४॥

इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम् (=पुरुषम्)। यजुः १३।४७॥

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।

तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥ अथर्व० १।१६।४॥

एतेषां प्रमाणानां विषये यदि कश्चिद् ब्रूयाद् यद् यज्ञादन्यत्र गवादीनां हिंसाप्रतिषेधार्थमिमानि वचनानि। यज्ञेष्वेतेषां हिंसा अहिंसैव भवति। एत-

दपि कथनं न याज्ञिकानां मतानुसारं युक्तिसंगतम्, यतो हि तेषां मते वेदा यज्ञार्थमेव प्रवृत्ताः। तदुक्तम्—

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः। वेदाङ्गज्योतिषान्ते।

आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्। मीमांसा १।२।१॥

अत उक्ता मन्त्रा अपि यज्ञेष्वेवैतेषां हिंसां वारयितुं प्रवृत्ताः, न तु यज्ञादन्यत्र।

४—**मन्त्रार्थाद् विपरीताः**—यथा **स्वधिते मैनं हिंसीः** (यजुः ६।१५) इति मन्त्रमुच्चार्य पशवङ्गानां कृन्तनम् (द्र०—कात्या० श्रौत ६।६।८)।

५—**मन्त्रार्थाननुसृताः**—यस्य विनियोगस्य मन्त्रार्थेन सम्बन्धो न भवेत्। यथा—**दधिक्राव्णो अकारिषम्** इत्याग्नीध्रीये दधिद्रप्सान् प्राश्य (आश्व० श्रौत ६।१३)।

दधिक्राव्णो अकारिषम् इति मन्त्रगतो 'दधिक्रावन्' शब्दोऽश्वस्य वाचकः (द्र०—निरुक्त २।१६) अस्यैकदेशस्य दधिशब्दस्य पयोविकारभूतेन दध्ना न दूरतोऽपि कश्चन सम्बन्धः।

इत्थमेव नवग्रहपूजासु विनियुक्तानामपि मन्त्राणां न नवग्रहैः सह कश्चन संबन्धः। तत्र केचन मन्त्रास्तु शब्दैकदेशसाम्येनापि सन्ति विनियुक्ताः। यथा—**शन्नोदेवी**ति शनैश्चरस्य **उद्बुध्यस्वे**ति बुधस्य।

दयानन्दसरस्वतीस्वामिन एतस्य मतस्याऽऽधारः शाखा-ब्राह्मण-श्रौतसूत्र-मीमांसादिकस्य समस्तस्य वैदिकवाङ्मयस्य परतःप्रमाणतैव वर्तते। ते हि मन्त्रसंहितानामेव स्वतःप्रामाण्यं स्वीकुर्वते। तेन तद्व्यतिरिक्तस्य समस्तस्य वैदिकवाङ्मयस्य वेदानुकूलत्वे एव प्रामाण्यम्।[1]

---

१. दयानन्दसरस्वतीस्वामिना सत्यार्थप्रकाशे तृतीयसमुल्लासे संस्कारविधौ च वेदारम्भसंस्कारस्यान्ते शिक्षात आरभ्य वेदपर्यन्तम् अध्ययनाध्यापनस्य यः पाठविधिर्निर्दशितस्तत्र सर्वविषयाणाम् आर्षग्रन्थानामेव निर्देश उपलभ्यते (स्वकृतस्य कस्यचिदपि ग्रन्थस्य पाठविधावुल्लेखो न कृतः)। एतेनैतद्विस्पष्टं यद् दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः समस्तानामार्षग्रन्थानां प्रामाण्यं स्वीकुर्वन्ति स्म; किन्तु तत्प्रामाण्यं वेदाविरोधे एव स्वीकार्यम्। संस्कारविधौ तु ब्राह्मणश्रौतगृह्यसूत्रसहितस्य वेदाध्ययनस्य प्रसङ्गे टिप्पणी प्रदत्ता—**जो ब्राह्मण वा सूत्र वेदविरुद्ध हिंसापरक हों, उन को प्रमाण न करना।** सं० विधि, पृष्ठ १३१, रा० ला० ट्रस्ट, शताब्दीसंस्क०।

याज्ञिकप्रक्रियायां परिवर्तनं नूतनानां च यज्ञानां प्रकल्पना

संसारस्यैष शाश्वतिको नियमो यद्यस्मिन् विषये जनसाधारणस्य रुचिर्वर्धते, व्यवहारकुशलमन्या जनास्तस्या जनरुचेरनुचितं लाभं लब्धुं प्रयतन्ते। तेषां चैष एव प्रयत्नो भवति यज्जनसाधारस्य सा रुचिरुत्तरोत्तरं प्रवर्धेत तेषां च द्रव्योपलब्धिर्न केवलं चिरकालं सुरक्षिता स्याद् अपि तूत्तरोत्तरं प्रवर्धेत। एतन्नियमानुसारं यदा साधारणजनानां यज्ञेषु रुचिः प्रावर्धत तदा लोभादिभिर्वशीभूतैर्याज्ञिकैः[1] यज्ञानां रोचकतां प्रवर्धयितुं तेषूत्तरोत्तरम् विविधा बाह्याडम्बराः प्रवर्धिताः, अथ च विविधाः काम्या नैमित्तिकाश्च यज्ञाः संसृष्टाः। अद्यत्वेऽपि जनताया यज्ञेषु या श्रद्धा वर्तते, तस्या अनुचितं लाभं लब्धुकामा चण्डीयज्ञ-रामायणयज्ञादिरूपेण विविधान् यज्ञान् प्रकल्प्य श्रद्धालुभ्यो जनेभ्यो वित्तमाहरन्ति। दयानन्दसरस्वतीस्वामिनां स्वान् अनुयायिमन्यमानास्तदुक्तान् अग्निहोत्रादारभ्याश्वमेधपर्यन्तान् वैदिकान् यज्ञान् विहाय वेदपारायण-गायत्रीमहायज्ञ-स्वस्तियागप्रभृतीन् विविधान् अवैदिकान् यज्ञाभासान् प्रवर्तयन्ति।

इत्थं यज्ञेषु पुरा याऽऽडम्बरहीनता सात्विकता चासीत् तस्या उत्तरोत्तरं प्रणाशः समजनि, बाह्याडम्बराणां वृद्धिरवैदिकतत्त्वानां प्रवेशश्चाभूत्। अत आरम्भकाले यज्ञानां कल्पनायां या वैज्ञानिकी दृष्टिरासीत् साऽज्ञेया समजायत। अत एव सम्प्रति अधिकांशतः कल्पनाप्रसूतानां यज्ञानां क्रियाणां तद्द्रव्याणां चाधिदैविकेनाध्यात्मिकेन च जगता सह दूरस्थोऽपि सम्बन्धो नास्ति।

याज्ञिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थः

भारतीयैतिह्येन स्पष्टमिदं भवति यद् वेदानां प्रादुर्भावः सृष्टेरादौ बभूव, द्रव्यमययज्ञानां प्रकल्पना च कृतयुगत्रेतायुगयोः सन्धौ संजज्ञे[2]। एतेन ऐतिहासिकतथ्येनेदं विस्पष्टं भवति यद् यज्ञानां प्रवृत्तेः प्रागपि वेदानां कश्चिद् अर्थः प्रवृत्त आसीत्, यतो हि वेदा न निरर्थकपदसमुदायाः। यज्ञानां प्रादुर्भावात् प्राक् वेदानां कीदृशोऽर्थः क्रियते स्म इत्यस्य याथातथ्येन परिज्ञानाय न किमपि साक्षात् साधनं विद्यते, यतो हि सम्प्रति यद् वैदिकवाङ्मयम्[3] उपलभ्यते तस्य सर्वस्यापि द्वापरयुगस्यान्तिमचरणे प्रवचनमजायत। तथाप्येतावत्तु

---

१. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ ३२। २. द्र०—पू० पृ० २७, टि० ३।

३. वाङ्मयशब्दस्त्रिलिङ्गः। अतोऽस्मिन् निबन्धे क्वचित्पुंल्लिङ्गेऽपि प्रयुक्तः।

वक्तुं शक्यत एव यद् यज्ञ-प्रवर्तनात् प्राक्कालिको वेदार्थः यज्ञप्रक्रियानुसारी नासीत्। एतेन इदमपि शक्यते वक्तुम्, यद् वेदेषु द्रव्यमययज्ञानां साक्षाद् विधानं नास्ति । यद्यपि वेदमन्त्रेषु तानि नामान्युपलभ्यन्ते यानि कतिपययज्ञानां तत्साधनभूतानां पात्राणां क्रियाणाम् चापि सन्ति[1], तथापि नैतेन भ्रमितव्यं यद् वेदमन्त्रेषु श्रूयमाणानि नामानि एषामेव श्रौतयज्ञानां तत्पात्राणां क्रियाणां च सन्ति । वस्तुतो वेदमन्त्रेषु श्रूयमाणा यज्ञाः, तत्साधनभूतानि पात्राणि, क्रियाश्च सृष्टियज्ञसम्बन्धिन्य एव सन्ति ।[2]

वेदमन्त्रेषु द्रव्यमययज्ञानां वर्णनं विद्यते, अस्य भ्रमस्य द्वे कारणे स्तः । तत्र प्रथमः—द्रव्यमययज्ञानां प्रकल्पना प्राचीनैर्ऋषिभिराधिदैविकजगतो व्याख्यानाय विहिता । अतो मन्त्रेषु यस्य कस्यचिदपि सृष्टियज्ञस्य वर्णनं विद्यते तदेवोभयोः साम्यत्वाद् द्रव्यमययज्ञान् तत्साधनभूतानि पात्राणि तत्क्रियाश्चापि यथावद् वर्णयन्तो मन्त्रा दृश्यन्ते । द्वितीयं कारणम् एतदस्ति यत् परःसहस्रेभ्यो वर्षेभ्यो यज्ञानां प्राधान्येन प्रचलनात् शाखा-ब्राह्मण-श्रौतसूत्रादिरूपं वैदिकं वाङ्मयं यज्ञपरमेवोपलभ्यते । तस्माद् वेदमन्त्राणामाधिदैविक एव मुख्योऽर्थो यज्ञपरस्तु गौण एव ।

उक्तमभिप्रायं हृदयंगमं कारयितुम् उदाहरणमेकं प्रस्तूयते—

रामायणे-राम-सीता-भरत-लक्ष्मणादीनां यच्चरित्रवर्णनं विद्यते, तस्य साक्षात् सम्बन्धो रामादिभिः सह वर्त्तते । यदा तु तदाधारेण निर्मितेषु नाटकेषु रामादीनां यः संवादो निबद्धयते, तस्यापि सम्बन्धो मूलभूतैः पुरुषैः रामादिभिः सहैव भवति । किन्तु यदा परोक्षभूतं रामादीनां चरितं प्रत्यक्षनिदर्शनाय रङ्गभूमौ नाटकरूपेणान्यभिनीयते, तदा तत्र पठ्यमानं रामादीनां संवादं ये पुरुषाः प्रस्तुवन्ति, तैः पुरुषैः सह तस्य संवादस्य साक्षात् सम्बन्धो न भवति । ते तु रामचरितरूपां परोक्षघटनां प्रत्यक्षरूपेण निदर्शयितुं केवलं साधनभूता एव भवन्ति । इत्थमेव आधिदैविकजगद् अर्थात् सृष्टियज्ञं वर्णयतां वेदमन्त्राणां तत्प्रतिनिधिभूतैर्यज्ञैस्तत्पात्रैस्तत्क्रियाभिश्च सह साक्षात् सम्बन्धो न विद्यते ।

---

१. मन्त्रेषु येषां यज्ञानां तत्पात्राणां तत्क्रियाणां च नामान्युपलभ्यन्ते, तेषां संकलनमस्माभिः 'श्रौत यज्ञों की वैदिकता' इति नाम्नि निबन्धे विहितम् । द्र०—वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा, पृष्ठ ३४२-३५३ ।

२. एतद्विषये अस्य निबन्धस्य हिन्दीरूपानन्तरं 'सोमयागे वृष्टिविज्ञानम्' नामा लेखो द्रष्टव्यः ।

यद्वेत्थं शक्यते वक्तुं यद्वेदमन्त्राणां याज्ञिकप्रक्रियानुसारं क्रियमाणो योऽर्थः, न स वेदमन्त्राणां मुख्योऽर्थः, स तु वेदस्याधिदैविकार्थं बोधयितुं निमित्तमात्रं भवति। अत एव यास्केन **याज्ञदैवते पुष्पफले** (निरुक्त १।२०) इति वदता याज्ञिकार्थः पुष्पस्थानीय आधिदैविकार्थः फलस्थानीय इत्युक्तम्। पुष्पफलयोरपि फलमेव प्रधानम्, न पुष्पम्।

यज्ञकर्मत एव नाटकानां प्रादुर्भावः

लौकिकानां नाटकानां प्रादुर्भावो यज्ञकर्मत एवाभूत्। अत एव नाट्यशास्त्रस्याद्यप्रवक्त्रा भरतमुनिनोक्तम्—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् [1]रसानाथर्वणादपि। नाट्यशास्त्र १।१७॥

अस्य व्याख्यायाम् अभिनवगुप्तपादा आहुः—**ऐश्वर्यप्रधानस्य (= ऋग्वेदस्य) [2]शस्त्रद्वारेण यागोपकारित्वात्।** ··· ·····**गीतमात्रं ततः (=सामवेदात्) गृहीतम्।**·········**आध्वर्यवप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणां प्रदक्षिणगमनादिकम एव प्रथमम्**·········। नाट्यशास्त्र-व्याख्या, भाग १, पृष्ठ १६॥

एतेन प्रमाणेनेदं विस्पष्टं यन्नाटकानां प्रादुर्भावो यज्ञगतं शस्त्ररूपं पाठ्यं स्तोत्ररूपं गीतम् अध्वर्य्वादीनाम् अभिनयं दृष्ट्वैव समजायत। अपि च, नाटकेषु येऽभिनयं कुर्वन्ति तेषां 'पात्र'संज्ञाया मूलेऽपि यज्ञसाधनभूतानि पात्राण्येव सन्ति।

यज्ञानां प्रादुर्भावस्योत्तरकाले वेदार्थे प्रभावः

यज्ञानामारम्भकाले याज्ञिकप्रक्रियानुसारिणो वेदार्थस्य सैव स्थितिरासीद् यस्याः पुरस्ताद् उल्लेखः कृतः। अतस्तस्मिन् काले याज्ञिकक्रियाकलापेषु त एव मन्त्रा विनियुज्यन्ते स्म ये आधिदैविकार्थं ब्रुवन्तः प्रतिनिधिरूपेण याज्ञिक-

---

१. 'नृत्ताना०' इति पाठान्तरम्।

२. मुद्रितपाठस्त्वत्र 'स्तोत्रशब्द(स्य) द्वारेण' विद्यते। अयं पाठोऽशुद्धः। यत ऋग्वेदस्य शस्त्रेष्वेव विनियोगः। स्तोत्रं गानभूतम्। तस्य सामवेदेन सह सम्बन्धः। शस्त्रस्तोत्रयोर्लक्षणमाहुर्मीमांसकाः—अप्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं शस्त्रम्। प्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं स्तोत्रम्।

क्रियाणां वर्णनेऽपि समर्था आसन् ।[1] उत्तरकाले यथा यथा यज्ञानां प्राधान्यमजायत तथा तथाऽऽधिदैविको वेदार्थो गौणतामभजत, याज्ञिकार्थश्च प्राधान्यमलभत । अस्य परिणतिरुत्तरकाले वेदा यज्ञार्थं प्रवृत्ताः[2] इति वादेऽभूत् । वेदार्थश्च याज्ञिकप्रक्रियायामेव सीमितोऽभवत् । तत उत्तरकाले यज्ञीयादृष्टवादस्य परिणतिर्मन्त्रानर्थक्यवादे[3] समजायत ।

काल्पनिका विनियोगाः

यदा जनतायां यज्ञानां संमानं प्रभावश्च वृद्धिं गतः, तदा प्रतिकामं सिद्ध्यै यज्ञानां सृष्टिरभूत् । तथा सति यज्ञानां विविधक्रियानुरूपाणां मन्त्राणामनुपलब्धौ मन्त्रार्थमुपेक्ष्य ते याज्ञिकक्रियाभिः सह बलात् सम्बद्धाः । अर्थान्मन्त्रार्थाननुसृतानां विनियोगानां प्रवृत्तिरजायत । यथा—

१. मैत्रायण्यां संहितायां (३।२।४) पठ्यते—

निवेशनः संगमनो वसूनाम् इत्यैन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते ।

अत्रैन्द्री ऋग् गार्हपत्याग्नेरुपस्थाने विनियुक्ता । याज्ञिकानां मते यदा इन्द्राद् महाविशेषणविशिष्टा महेन्द्र-वृत्रहेन्द्र-पुरन्दरेन्द्रादयो भिन्ना भिन्ना देवताः सन्ति[4], तदा इन्द्राग्न्योर्भिन्नदेवतात्वे सन्देहावसर एव नास्ति । तथा सति ऐन्द्र्या ऋचा गार्हपत्याग्नेरुपस्थानं नाभिधावृत्त्या संभवति, अवश्यं गौण्या वृत्तेरवलम्बनं कर्तव्यं भवति[5] । तथा सत्ययं विनियोगो न साक्षात्मन्त्रार्थानुसृत इति स्पष्टम् ।

---

१. 'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति ।' गोपथ ब्रा० २।२।६।। अत्र ऐ० ब्रा० १।४ वचनमपि द्रष्टव्यम् ।

२. 'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः ।' वेदाङ्गज्योतिषस्यान्ते । 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्……।' मी० १।२।१।।

३. मन्त्रानर्थक्यवादविषयेऽग्रे वक्ष्यते ।

४. द्रष्टव्यम्—तस्माद् देवतान्तरमिन्द्रान्महेन्द्रः (मीमांसा शाबरभाष्य २।१।१६।। 'अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति—इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्रायांहोमुचे । तान्यप्येके समामनन्ति (निरुक्त ७।१३) देवतात्वेनेति शेषः ।

५. मीमांसायाः शाबरभाष्य 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति विनियोगविषय उक्तम्—'गुणसंयोगाद् गौणमिदमभिधानं भविष्यति । भवति हि गुणादप्यभिधानम् । यथा सिंहो देवदत्तः, अग्निर्माणवक इति । एवमिहाप्य-

२. पदैकदेशसादृश्याद् विनियोजकस्य काल्पनिकविनियोगस्यैकमुदाहरणं प्रस्तूयते—

'दधिक्राव्णो अकारिषम् इति वा संबुभूषन् दधिभक्षम् ।' शाङ्खा० श्रौत ४।१३।२॥

'दधिक्राव्णो अकारिषम् इत्याग्नीध्रीये दधिद्रप्सान् प्राश्य··· ।'[1] आश्व० श्रौत ६।१३॥

अत्र मन्त्रे 'दधिक्रावन्' शब्दोऽश्वस्य वाचकम् । एतच्च **दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः** (ऋ० ४।३९।६) **यो अश्वस्य दधिक्राव्णो अकारीत्** (ऋ० ४।३९।३) इत्याभ्यां श्रुतिभ्यामेव स्पष्टम् । अत एव निघण्टौ (१।१४) 'दधिक्रावा' पदमश्वनामसु पठ्यते । यास्केन 'दधिक्रावन्' शब्दसदृशं समानार्थकं च 'दधिक्राः' पदमित्थं निरुक्तम् **दधत् क्रामतीति वा दधत् क्रन्दतीति वा दधद् आकारी भवतीति वा** (निरुक्त २।२७) । एवं च **'दधिक्राव्णः'** पदस्य पूर्वपदे श्रूयमाणो 'दधि'शब्दः कर्तृवाचकः किन्प्रत्ययान्तः (द्र०—अष्टा० ३।२।१७१) आद्युदात्तः ।[2] न तु दध्नो वाचकः । श्रौत्तरकालिकैस्तु याज्ञिकैः 'दधिक्रावन्' शब्दे पूर्वपदस्य दधिशब्दस्य पयोविकारस्य वाचकेन 'दधि'-शब्देन सादृश्यमात्रं दृष्ट्वाऽयं मन्त्रो दधिप्राशने विनियुक्तः । एतादृशाः काल्पनिका विनियोगाः श्रौतसूत्रेषु बहुत्रोपलभ्यन्ते ।

निन्द्रे गार्हपत्ये इन्द्रशब्दो भविष्यति' (मीमांसा-भाष्य ३।३।४) । अयमेवाभिप्रायः सायणाचार्येण अथर्वभाष्ये (१।१।१) इत्थमुपवर्णितः—**'बलीयसा श्रुत्या लिङ्गं बाधयित्वा गुणकल्पनयापि विनियोगसम्भवात् । तत्र हि ऐन्द्रे मन्त्रे इन्द्रशब्दस्य गौणीं वृत्तिमाश्रित्य गार्हपत्योपस्थाने विनियोगः कृतः ।'**

वस्तुतस्तु श्रुत्या लिङ्गबाधनप्रकल्पनाऽपि ब्राह्मणानां स्वतःप्रामाण्यस्वीकारे सति बभूव । पूर्वमीमांसायास्तु ब्राह्मणवचनानामेवार्थनिर्धारणाय प्रवचनमभूत् । अत एव **वचनात् त्वयथार्थमैन्द्री स्यात्** (मी० ३।२।३) सूत्रं प्रवृत्तम् । एतद्वचनस्य विषये **श्रुतिलिङ्गवाक्य** (३।३।१४) इत्यादिसूत्रभाष्यमपि द्रष्टव्यम् ।

१. तुलना कार्या **'दधिक्राव्णो प्राङ्मुखो दधि प्राश्य'** इति आयुर्वेदीय-काश्यपसंहितावचनेन सह (द्र०—पृष्ठ ३६) ।

२. अस्य किन्प्रत्ययान्तस्य दधिशब्दस्य प्रयोगः **दधिर्यो धायि स ते वयांसि** (ऋ० १०।४६।१) इति मन्त्र उपलभ्यते ।

३. निरुक्ते यास्कमुनिरप्याह—

तदेतदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते । यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने युज्यते । निरुक्त ७।२०॥

तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते । यत्तु किञ्चिद् बहुदैवतं तद् वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते । यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिः । निरुक्त १२।४०॥

एताभ्यामुद्धरणाभ्यामिदं विस्पष्टं यद् जातवेदसानां वैश्वदेवानां च मन्त्राणामल्पत्वे सति तेषां स्थाने आग्नेया बहुदैवता यद्वा विश्वपदयुता मन्त्रा विनियुज्यन्ते ।[1] एतेन यदस्माभिः पूर्वमुक्तम्—'**यज्ञानां विविधक्रियानुरूपाणां मन्त्राणामनुपलब्धौ मन्त्रार्थमुपेक्ष्य ते याज्ञिकक्रियाभिः सह बलात् संबद्धाः**' (पृष्ठ ३८) तत्प्रमाणीभवति ।

उपलब्धब्राह्मणेषु ऐतेरेयब्राह्मणम् अन्तिमाद् कृष्णद्वैपायनकृताद् वेदप्रवचनात् प्राचीनं विद्यते ।[2] तस्मिन् मन्त्रार्थानुसृतस्य विनियोगस्य प्रशंसा तूपलभ्यते[3], परं मन्त्रार्थाननुसृतस्य विनियोगस्य गर्हा नोपलभ्यते । एतेन ज्ञायते यदैतरेयब्राह्मणस्य प्रवचनात् प्रागेव पदस्य अक्षरस्य वर्णस्य च सादृश्येन[4] क्रियमाणानां काल्पनिकविनियोगानां प्रादुर्भावः समजनीति ।

---

१. यज्ञकर्मणि न केवलं दैवतविषयका एव काल्पनिका विनियोगा क्रियन्ते, अपि तु काल्पनिकछन्दस्का मन्त्रा अपि विनियुज्यन्ते । एतस्य विषये 'वैदिक-छन्दोमीमांसा'ऽऽख्येऽस्मदीये ग्रन्थेऽष्टादशसंख्याकोऽध्यायो द्रष्टव्यः ।

२. ऐतरेयब्राह्मणस्य प्राचीनतमत्वम् अस्माभिः स्वीये 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' इत्याख्ये ग्रन्थे विस्तरेण प्रत्यपादि । अस्य पुनः प्रवचनं शौनकेन कृतम्, अन्त्या दशाध्यायास्तु संयोजिताः (द्र०—भाग १, पृष्ठ २७२-२७३, वि० सं० २०४१ तमे मुद्रितं संस्करणम्) ।

३. 'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति' । ऐ० ब्रा० १।४,१३,१६॥

४. पदसादृश्येन—'**दधिक्राव्णो अकारिषमिति..........दधिभक्षम्** । (शाङ्खा० श्रौत ४।१३।२) । अक्षरवर्णसादृश्येन—**शन्नोदेवीति** मन्त्रस्य शनैश्चरग्रहपूजायाम्, **उद्बुध्यस्वेति** मन्त्रस्य बुधग्रहपूजायां विनियोगः (द्र०—अग्निवेश्यगृह्य अ० ५; वैखानसगृह्य अ० ४, खण्ड १३, १४; बौधायन गृह्य १६,१७) ।

कालपनिक-मन्त्राणां रचना

यदा विभिन्नप्रकाराणां यज्ञानां प्रकल्पनाऽभूत्, तदा तादृशां सर्वेषां यज्ञानां विभिन्न-क्रियानुरूपाणां (=येऽर्थतः ताः क्रिया वक्तुं समर्थास्तथाविधानां) मन्त्राणामनुपलब्धौ **मन्त्र-प्रकल्पना प्रारब्धा**।[1] इत्थं च विविधाः काल्पनिक-मन्त्राः शाखा-ब्राह्मणारण्यक-श्रौतसूत्रादिषूपलभ्यन्ते। गृह्यसूत्रेषु तु काल्पनिक-मन्त्राणां बाहुल्यं दृश्यते। उत्तरकाले बह्वीनां शाखानां लोपे सति एतादृशो मन्त्रा लुप्तशाखास्वासन् इति प्रवादः प्रचलितः।

अस्मन्मतानुसारं काल्पनिकमन्त्राणां रचनाया आरम्भो भारतयुद्धात् सहस्रद्वयवर्षेभ्यः प्रागभूत्।[2] इयं काल्पनिकमन्त्ररचना अनेकचरणेष्वजायत। यथा—

प्रथमचरणे वेदमन्त्रेष्वेव स्व-कर्मानुरूपं परिवर्तनमभवत्।[3]

द्वितीयचरणे अनन्तरं विभिन्नस्थानेषु पठितानां मन्त्राणां विभिन्नानि वाक्यानि संयोज्य नवीनानां मन्त्राणां रचनाऽभवत्।[4]

तृतीयचरणे अनन्तरं वैदिकग्रन्थेषु प्रयुक्तानां विशिष्टशब्दानां सन्निवेशमात्रं कृत्वा नूतना मन्त्राः प्रकल्पिताः।[5]

---

१. द्र०—ब्राह्मणधम्मियसुतस्य पूर्वत्र (पृष्ठ ३२) उद्धृतं वचनम्।

२. विविधयज्ञानां कल्पना द्वापरेऽभूत्, अतस्तदर्थं विविधमन्त्राणां प्रकल्पनाऽपि तदैवारब्धा।

३. यथा राजसूयप्रकरणे पठितस्य **'एष वो अमी राजा'** (शुक्लयजुः ९।४०) इति मन्त्रस्य **'अमी'**पदस्थाने तत्तद्विशिष्टकुलस्य नाम प्रयुक्तम्। **एष वो भरता राजा (तै० सं० १।८।१०।१२), एष वः कुरवो राजा, एष पञ्चाला राजा (मै० सं० २।६।९; काठक सं० १५।१७)।**

४. एतद्विज्ञानाय ऋग्वेदस्य खिलपाठस्थानां मन्त्राणाम् अनुशीलनं कर्तव्यम्।

५. यथा—सावित्रमन्त्रस्य **'धियो यो नः प्रचोदयात्'** इति तृतीयचरणात् नः प्रचोदयात् पदे गृहीत्वा **'तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्॥'** इत्येवमाद्या एकादश मन्त्रा मैत्रायण्यां संहितायाम् (२।९।१) उपलभ्यन्ते। एतादृशा एव केचन मन्त्रास्तैत्तिरीयारण्यके (१०।१) ऽपि दृश्यन्ते।

चतुर्थचरणे इयमेव मन्त्र-प्रकल्पना **'नमो भगवते वासुदेवाय'** इत्यादिषु साम्प्रदायिकेषु, **'ओं ह्रीं ह्रुं फट् स्वाहा'** इत्यादिषु अर्थविरहितेषु तान्त्रिकेषु मन्त्रेषु परिणतिमलभत ।

याज्ञिकवादस्य मन्त्रानर्थक्यवादे परिणतिः

औत्तरे याज्ञिककाले यदा वेदानामुपयोगस्य एकमात्रं केन्द्रं यज्ञकर्म एव सुनिश्चितमभूत्, तदा कर्मकाण्डे साक्षाद् अविनियुक्तो वेद-भागो निष्प्रयोजनो मा भूदिति वेदस्य समेषां मन्त्राणां कर्मकाण्डेन सह येन केन प्रकारेण सम्बन्ध-प्रदर्शनाय याज्ञिकैः प्रयत्नः कृतः ।[1] एतेन मन्त्रा गौणा अभूवन्, विनियोजकानि ब्राह्मणानि मुख्यत्वमभजन्। अतः **उरु प्रथस्व** इत्यादिमन्त्रेषु विद्यमानानां साक्षाद् विधायकानां **लोट्-लिङ्-लेट्लकाराणां** विधायकत्वमस्वीकृत्य ब्राह्मणग्रन्थस्थानां **प्रथयति** इत्यादिपदानां विधायकत्वं प्रतिज्ञातम् ।[2] आदौ मन्त्रान्तर्गतस्य कस्यचित् पदस्य मुख्यता उपेक्षिताऽभूत्, अनन्तरं कृत्स्नस्य मन्त्रस्यार्थवत्त्वमुपेक्ष्य तद्गतस्य कस्यचित् पदस्य सादृश्यमात्रेण कर्मविशेषे मन्त्र-विनियोगः समारब्धः। यथा—**भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, वक्ष्यन्ति वेदागनीगन्ति कर्णम्** इत्यादि-मन्त्राणां कर्णवेधसंस्कारं कृतो विनियोग[3] उक्तप्रकारक एव । तदुत्तरकाले पदैकदेशमात्रस्य सादृश्येन कृतो विनियोगो बहुत्रोपलभ्यते । उत्तरकाले तु पदैकदेशसादृश्येन अक्षरवर्णसादृश्येनापि मन्त्राणां विनियोगा दृश्यन्ते ।[4] एतद्विषये पूर्वमप्युक्तम् (द्र०—पृष्ठ ३९) ।

वीरमित्रोदयस्य भक्तिप्रकाशे (पृष्ठ १०६) **दाशरथाय विद्महे सीतावल्लभाय धीमहि । तन्नो रामः प्रचोदयात्** इति रामगायत्री पठ्यते ।

१. **'अश्विने सम्पत्स्यमाने सूर्यो नोदियाद् अपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयात्'** (आप० श्रौत १४।१।२) । तथा—**'सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि वाचस्तोमे पारिप्लवे शंसति'** (सायणीयऋग्भाष्योपोद्घात उद्धृतं वचनम्) ।

२. **'अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्'** (मी० २।१।३१) । प्रयोगवचनसामर्थ्याद् अर्थाद् ब्राह्मणोक्तविनियोगसामर्थ्यान् मन्त्रेषु प्रयुक्ता लोट्-लिङ्-लेट्लकाराः क्रियमाणकर्मण एव बोधका भवन्ति ।

३. द्र०—कात्या० गृह्य २।२।३॥

४. **'दधिक्राव्णो अकारिषम्'** इत्यस्य दधिभक्षणे, शन्नोदेवीत्यस्य शनैश्चर-ग्रहपूजायाम् । नवग्रह-पूजासु विनियुक्तानां मन्त्राणां विषये दयानन्दसरस्वती-

एवमुत्तरोत्तरं काल्पनिकविनियोगानाम् आधिक्यात् महायाज्ञिकेन कौत्सेन 'मन्त्रा अनर्थकाः'[1] इति स्पष्टमुद्घोषितम् । अर्थाद् यज्ञकर्मसु मन्त्राणां पाठेनैवादृष्टमुत्पद्यते, तेनैव च यज्ञकर्मणः फलं प्राप्यते ।

इत्थं याज्ञिकैरुद्भावितस्य मन्त्रानर्थक्यवादस्य प्रभावः सम्प्रत्युपलब्धेषु शाखा-ब्राह्मणादिषु स्पष्टमुपलक्ष्यते । इदमेव च कारणं यच्छाखासु शतपथमतिरिच्यान्यब्राह्मणेषु मन्त्रविनियोगा एव प्रायेणोपलभ्यन्ते । नैतावदेव, ब्राह्मणशब्दस्य **ब्रह्मणां=मन्त्राणां व्याख्यानं ब्राह्मणम्** इति मूलभूतार्थं परित्यज्य ब्राह्मणस्य लक्षणं **कर्मचोदना ब्राह्मणानि**[2] इति **विनियोजकं ब्राह्मणम्** इति च याज्ञिकैः स्वीकृतम् । यद्यपि शतपथभिन्नेषु ब्राह्मणेषु यत्र क्वचिन्मन्त्रार्था उपलभ्यन्ते, ते प्रायेणानुषङ्गिका एव । अर्थाद् मन्त्रार्थपरिज्ञापनाय न ब्राह्मणानां प्रवचनमभूत् । अत एभ्यो वेदस्य याज्ञिकार्थस्य परिज्ञानमपि न भवति । वेदव्याख्यातारो ब्राह्मणोक्तविनियोगं दृष्ट्वा तदाधारेण याज्ञिकप्रक्रियानुसारिणं वेदार्थं व्याचक्षते ।

अनया विस्तृतविवेचनयेदं विस्पष्टं यद् याज्ञिकप्रक्रियासु यत्परिवर्तनं परिवर्धनं चाभूत् तस्य वेदार्थेऽत्यन्तं प्रभावः समपद्यत । **या खलु याज्ञिकप्रक्रिया वेदस्याधिदैवतस्य मुख्यार्थस्य परिज्ञापनाय प्रकल्पिताऽभूत् तयाऽन्ते वेदा अप्यर्थवन्तः सन्तो निरर्थकाः कृताः** । यद्यपि **यास्क-जैमिनि-याज्ञवल्क्यानां** महर्षीणां प्रभावात् मन्त्रानर्थक्यवादस्य स्वल्पः प्रतिवादः समभूत्, तथापि तेन प्राचीनेषु तदानीन्तनेषु ग्रन्थेषु मन्त्रार्थेन योऽसम्बद्धो याज्ञिकविनियोगः प्रावर्तत,तस्य परिमार्जनं नाभवत् । अतो याज्ञिकाः तथाभूतान् मन्त्रार्थासम्बद्धान् विनियोगान् उत्तरकालेष्वप्यकुर्वन् ।

पूर्वप्रकरणस्योपसंहारः

पूर्वस्मिन् प्रकरणे श्रौतयज्ञानां सम्बन्धे येषु विषयेषु संक्षेपेणाऽस्माभिर्विचारः कृतस्ते सन्ति—

१—यज्ञशब्दस्यार्थः (पृष्ठ ३) ।

स्वामि-विरचितस्य सत्यार्थप्रकाशस्य प्रथमं संस्करणं (पृष्ठ ३३३) द्रष्टव्यमस्ति ।

१. यदि मन्त्रार्थप्रत्यायनाय [निरुक्तम्], अनर्थकं भवतीति कौत्सः । अनर्थका हि मन्त्राः । निरुक्त १।१५।।

२. आप० प० १।३४; आप० श्रौत २४।१।३२।।

नैत्यकयज्ञेषु सत्यपि बहुविधपरिवर्तने मुख्यांशः सुरक्षितः

नित्यनैमित्तिककाम्यभेदैर्विभक्तेषु यज्ञेषु यद्यपि नित्यविहितेष्वग्निहोत्रादारभ्याऽश्वमेधान्तेषु यागेष्वप्युत्तरोत्तरं बहुविधं परिवर्तनं समजायत, तथापि पूर्वनिर्दिष्टान् परिवर्तनान् परिहाप्य एषां शुद्धस्वरूपस्य परिज्ञानं सौकर्येण भवति अर्थादेषां मुख्यांशस्तत्र सुरक्षित उपलभ्यते।

नैत्यकयागेष्वपि अजादीनां पशूनां यदालम्भनं शाखा-ब्राह्मण-श्रौतसूत्रेषूपलभ्यते तस्य विषय इदानीं विचारः क्रियते—

श्रौत-पशुयाग-मीमांसा

पशुयागानां विषये विचारात् पूर्वं तत्र विहितानां पशूनां सम्बन्धे विचारोऽत्यावश्यक इति कृत्वा पूर्वं पशुविषयकी मीमांसा प्रस्तूयते—

ऐतरेयब्राह्मणे (२।८) शतपथब्राह्मणे (१।२।३।६-७) च पुरुष-अश्व-गो-अवि-अजाख्यानां पञ्चविधानां पशूनां निर्देश उपलभ्यते। तत्रैते पञ्च

पशवो मेध्या उक्ताः। अत्रेदं विचारणीयं किमेते पशवो लौकिका उत केषांचिदन्येषां पशूनामेते प्रतीकभूता इति ?

अस्माभिः पूर्वं (पृष्ठ १८-२३) सविशेषं प्रतिपादितं यदेते द्रव्यमययज्ञाः स्वयम् आधिदैविकानां सृष्टियज्ञानां प्रतीकभूतानि नाटकरूपाणि वा व्याख्यानानि सन्ति, तत्र प्रयुक्तानि पात्राणि द्रव्याणि च सृष्टियज्ञान्तर्गतानां विविधानाम् आधिदैविकतत्त्वानां प्रतीकभूतानि सन्ति। अनया दृष्टया पुरुषमेधादयः तद्गताश्च पुरुष-अश्व-गो-अवि-अजादयः पशवोऽपि केषांचिद् आधिदैविकतत्त्वानां प्रतीकभूतानि वर्तन्ते।

वेदविहिताः पशुयज्ञाः सृष्टियज्ञरूपाः

सम्प्रतीहोदाहरणार्थं पूर्वं **पुरुषमेधम्** उपस्थापयामः। पुरुषमेधे शुक्लयजुष एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ऋग्वेदस्य दशममण्डलस्य नवतितमं सूक्तं विनियुक्तमुपलभ्यते। उभयत्र श्लेषालंकारेण **प्राकृतस्य विराट्पुरुषस्य** (हिरण्यगर्भाख्यस्य महदण्डस्य) **त्रिगुणातीतस्य च परमविराट्पुरुषस्य ब्रह्मणः** प्रतिपादनमस्ति। एतत्प्रकरणस्य केचन मन्त्रा इहोपस्थाप्यन्ते येन स्पष्टं भविष्यति यच्छ्रौते पुरुषमेधे विनियुक्तेषु मन्त्रेषु कस्य पुरुषस्य वर्णनं विद्यते तस्य मेधस्य च किं स्वरूपमस्ति। यजुर्वेदस्यैकत्रिंशत्तमस्याध्यायस्य पञ्चमो मन्त्र इत्थं श्रूयते—

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥

पुरस्तात् पठितेषु चतुर्षु मन्त्रेषु विराट्पुरुषस्य महिम्नो वर्णनं विद्यते। प्रस्तुते पञ्चमे मन्त्रे **सर्ग-प्रक्रियाया अतिसंक्षेपेण वर्णनं** क्रियते। अस्य व्याख्या सांख्यप्रक्रियया वेदेष्वन्यत्र निर्दिष्टया सर्गप्रक्रियया च यथावद् विज्ञातुं शक्या।

मन्त्रार्थः—तस्मात् [अजायमानाया सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थारूपायाः प्रकृतेः सकाशात्] विराड् उत्पन्नो बभूव, ततो विराजः पुरुषः समुत्पन्नः। ततस्तदनन्तरं प्रादुर्भूतः पुरुषः अत्यरिच्यत = रिक्तो बभूव। तेनातिरेकेण स पुरुषः भूमिम् अथोऽन्यान् पुरो लोकान् प्राकटयत्।

अयं मन्त्रस्य शाब्दिकोऽर्थो ज्ञेयः। अस्मिन् मन्त्रे सर्गोन्मुखीभूतायाः प्रकृतेः सकाशाद् द्वयोः प्रमुखविकारयोरुल्लेखः कृतः। 'विराट्'शब्देनेह सांख्यप्रतिपादितो महान्, अहङ्कारः, तत उत्पन्नानां पञ्चतन्मात्राणाम् (१+१+५=७) उत्पत्तिपर्यन्तं प्रथमसर्गस्य=प्रथमदेवयुगस्य निर्देशः कृतः। ततः 'पुरुष'शब्देन

हिरण्यगर्भ-प्रजापतिप्रभृतिभिरनेकैर्नामभिः स्मृतस्य महतोऽण्डस्य प्रादुर्भाव उक्तः ।

ऋग्वेदस्य दशममण्डलस्य द्वासप्ततितमेऽदितिदेवतात्मके सूक्ते श्रूयते—अदितेः (देवमातुः प्रकृतेः) अष्टौ पुत्राः समुत्पन्नाः । तेषु सप्त पुत्रा प्रथमे युगे समभवन्, अष्टमो मार्तण्डः (=मृत=मरणधर्मा अण्डः=महदण्डः[1]) द्वितीये युगेऽजायत । तदुक्तम्—

अष्टौ पुत्रासो[2] अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि ।
देवाँ उप प्रैत सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत ॥८॥

सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत पूर्व्यं युगम् ।
प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ॥९॥

अयं वैदिको मार्तण्ड एव महदण्डरूपः पुरुषः[3] प्रजापतिः । अस्योत्पत्तिः महद्-अहंकार-पञ्चतन्मात्राभ्यो भवति।[4] यथाऽण्डजानां प्राणिनाम् अङ्गप्रत्यङ्गानां रचना अण्डेष्वेव भवति तद्वदेव लोकलोकान्तराणां रचना महदण्डेष्वेव जायते । अयमेव महदण्डो वेदे 'यज्ञः'[5] इति नाम्ना 'विश्वकर्मा भौवनः[6]' इति नाम्ना च स्मर्यते । यदा मार्तण्डस्य (महदण्डस्य) अन्तरूष्मणा तदन्तर्गतानां लोकानां निर्मितिः समाप्तिमेति, तदाय मार्तण्डः सहस्रांशुसमप्रभो भवति (द्र०—मनु० १।९) । हिरण्यरूपत्वाद् 'हिरण्यगर्भः' इत्युच्यते । एतद्रूपकस्य महदण्डस्य वर्णनम् ऋग्वेदे हिरण्यगर्भसूक्तस्य (१०।१२१) प्रथमस्यामृच्येवम् उपलभ्यते ।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

---

१. प्रायेण पुराणेषु 'महदण्ड'शब्दस्यैव प्रयोग उपलभ्यते ।

२. प्राचीनकाले सौभाग्यवतीभ्यः स्त्रीभ्यः 'अष्टपुत्रा भव' इत्येवाशीः प्रदीयते स्म । तस्य मूलोऽयमेव मन्त्र आसीदिति प्रतीयते ।

३. ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत, स प्रजापतिः । शत० ११।१।६।२॥

४. पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च अव्यक्तानुग्रहेण च ।
महदादयो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति वै ॥ वायुपुराण ४।७४॥
पुरुषः=ब्रह्म, अव्यक्ता=प्रकृतिः, विशेषाः=पञ्चतन्मात्राः ।

५. द्रष्टव्य—तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः (यजुः ३१।६) ।

६. द्रष्टव्य ऋ० मं० १०, सूक्त ८१ ।

अत्र 'क'शब्देन प्रजापतिरुच्यते[1], 'देव'शब्देन च तत्रस्थः प्राणरूपो भूतगणः। तस्मै प्रजापतये देवाय वयं हव्यरूपेणांशेन 'विधेम'[2] निर्माणकार्यं कुर्मः।

स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः।

इति याजुषमन्त्रे (३१।५) विराट्पुरुषस्य महदण्डस्य पूर्णतानन्तरं तस्यावरणस्य भेदात् रिक्तीभावाद्[3] भूम्यादीनां ग्रहोपग्रहादीनां प्रादुर्भावः संकीर्तितः।

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥

इत्यस्मिन् याजुषे मन्त्रे (३१।६) **यज्ञात्**=महदहङ्कारपञ्चतन्मात्रादीनां संगत्या प्रादुर्भूताद् विराट्पुरुषात्, यः **सर्वहुतः**[4] (=यस्य अन्तर्बहिर्वर्तमानाः सर्वे प्रकृत्यंशाः 'हुताः' अर्थात् कार्यरूपेण परिणता अभूवन्) आसीत्, तस्मात् **पृषदाज्यम्**[5]=क्वचित् प्रकाशः क्वचिच्चान्धकारः **संभृतम्**=संधारितोऽभूत्। एतेन विराट्पुरुषाख्ये सर्वहुते यज्ञे प्रकाशवताम् अप्रकाशवतां च सूर्यपृथिव्यादीनां समुत्पत्तिः परिकीर्तिता। तस्मादेव सर्वहुतो यज्ञात् **वायव्यान्** वायौ विचरणमानान पशून्, ये **आरण्या ग्राम्याश्च** पशव आसन्, **तान् चक्रे**=उत्पादितवान्।

ये वायुचरा **ग्राम्याः पशवः** समूहरूपेणैकत्र स्थिताः सूर्यरूपेण यूपेन तद्रश्मिरूपयाऽऽकर्षणशक्तिरूपया रज्ज्वा बद्धाः स्व-स्वनियतकक्षासु परिभ्रमणशीला बुधशुक्रादयो ग्रहाः,[6] **आरण्याश्च पशवः** स्वातन्त्र्येण विचरमाणा धूमकेतु-

---

१. प्रजापतिर्वै कः। ऐ० ब्रा० २।३८॥ को हि प्रजापतिः। शत० ६।२।२।५॥

२. विपूर्वो धाञ् करोत्यर्थे प्रयुज्यत इति वैयाकरणा आहुः।

३. स (=प्रजापतिः) सर्वाणि भूतानि सृष्ट्वा रिरिचान इव मेने। शत० ब्रा० १०।४।२।२॥

४. द्रष्टव्य—निरुक्त १०।२६—विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुह्वाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुह्वाञ्चकार।......विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् (ऋ० १०।८१।६) इति॥

५. यज्ञकर्मणि दधिसहितमाज्यं पृषदाज्यमुच्यते। पृषदाज्ये दध्नोंऽशाः पृषद्रूपेण श्वेतबिन्दुरूपेण घृताद् पृथग्गृहीता भवन्ति। अनेनैव साम्येनेह पृषदाज्यस्यार्थः क्वचित्प्रकाशः क्वचिच्चान्धकारः कृतः।

६. **असौ वा आदित्यो यूपः**। द्र०—ऐ० ब्रा० ५।२८॥ **पशवो वै यूपमुच्छ्रयन्ति**। शत० ३।७।२।४॥ पशुयागे पशुप्राणिनो यूपस्योच्छ्रयणस्य निमित्ता

प्रभृतयो ज्ञेयाः। इह भूलोकस्थाः पशवः पक्षिणश्चाभिप्रेता न सन्ति। उत्तरस्मिन्नष्टमे मन्त्रे श्रूयमाणा उभयादतोऽश्वादयः, एकदतश्च गवादयोऽपि नैव भूलोकस्थाः पशवः। विस्तरभिया नेहास्मिन् विषयेऽधिकं लिख्यते।

अतः परं चतुर्दशे मन्त्र उक्तम्—यस्मात् सर्वहुतः पुरुषाद् देवैः=आधिदैविकशक्तिभिर्यज्ञस्य विस्तारः कृतः, तस्याज्यं (व्यक्तेः कान्तेर्वा साधनं) वसन्त वासीत्, इध्मः (=प्रदीपकः) ग्रीष्मः, हव्यं च शरद् ऋतुरभूत्।

एतेन वर्णनेनैतद् विस्पष्टं यदस्मिन् प्रकरणे श्रूयमाणो यज्ञो न द्रव्यमयो लौकिको वर्तते। अस्य यज्ञस्य (=पुरुषाध्याये श्रूयमाणस्य सृष्टियज्ञस्य) द्रष्टा यजमानो[1] **नारायणो**[2] वर्तते। नारा नाम आपः=मूलभूता प्रकृतिः, तस्यां यस्यायनं व्याप्तिः, तस्य परमपुरुषस्य नाम नारायणो ज्ञेयः।[3]

आधिदैविक-पदार्थेभ्यः 'पशु'शब्दस्य व्यवहारः

आधिदैविकस्य जगतः '**अग्नि-वायु-सूर्य**, संज्ञकेभ्यः पदार्थेभ्यो वेदे न केवलं 'पशु'शब्दस्य व्यवहार उपलभ्यते, अपि तु तेषाम् आलभनं तैर्यजनं च श्रूयते। तथा चाश्वमेधप्रकरणे मन्त्रवर्णः—

अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त। वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त। सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त॥ शुक्लयजुः २३।२७; तै० सं० ५।७।२६॥

लौकिकेषु द्रव्यमययज्ञेषु तु अग्निवायुसूर्यरूपैः पशुभिर्यजनस्य तु सम्भव एव नास्ति। अतः स्पष्टमेवैते सृष्टियज्ञस्य साधनभूताः पशवः सन्ति। अयमेवाभिप्रायो निरुक्तकारेण यास्केन पुरुषाध्याये पुरुषसूक्ते च पठितस्यैकस्य मन्त्रस्य व्याख्यानं कुर्वता स्पष्टीकृतः। मन्त्रस्तद्व्याख्यानं चेत्थमस्ति।

भवन्ति। अनया दृष्ट्या सृष्टियज्ञे आदित्यरूपिणा यूपेन सम्बद्धा ग्राम्याः पशवो ग्रहोपग्रहा विज्ञेयाः।

१. लौकिकयज्ञेष्वपि यजमानो द्रष्टृवदेवास्ते। दक्षिणाभिः परिक्रीता ऋत्विज एव कार्यं कुर्वन्ति। यज्ञफलान्निर्मुक्त्यै स प्रत्याहुति 'इदं न मम' इति संकल्पमात्रमुच्चारयति।

२. यजुष एकत्रिंशदध्यायस्य ऋग्वेदस्य च दशममण्डलान्तर्गतस्य नवतितमस्य सूक्तस्य द्रष्टा 'नारायणः' एवास्ति। द्रष्टव्या—सर्वानुक्रमणी।

३. आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ मनु० १।१०॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः=अग्निनाऽग्निमयजन्त देवाः। अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त तेनायजन्त इति च ब्राह्मणम्। तानि **धर्माणि** प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त। यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः। द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः। पूर्वं देवयुगमित्याख्यानम् ॥ निरुक्त १२।४१॥

आख्यानविदां मते पूर्वदेवयुगस्य वर्णनमस्मिन् मन्त्रेऽभिहितम्।

अस्य मन्त्रस्य प्रायेणैतादृशमेव व्याख्यानं ऐतरेयब्राह्मणे (१।१६) उपलभ्यते। यास्केन **द्युस्थानो देवगणः** इत्यनेन आदित्यरश्मीनां निर्देशः कृतः। महीदासेनैतरेयेणापि **छन्दांसि वै साध्या देवाः** इत्युक्त्वा आदित्यरश्मय एव उक्ताः। यत ऐतरेयब्राह्मणे (२।१८) छन्दांसि प्रजापतेरङ्गानि उक्तानि—**प्रजापतेर्वा एतान्यङ्गानि यच्छन्दांसि** इति। पुराणेषु छन्दसाम् आदित्यस्याश्वरूपेण बहुधा वर्णनमुपलभ्यते—

छन्दोभिरश्वरूपैः। वायुपु० ५२।४५।

छन्दोरूपैश्च तैरश्वैः। मत्स्यपु० १२५।४२॥

छन्दोभिर्वाजिनरूपैस्तु। वायुपु० ५१।५७; मत्स्यपु० १२४।४॥

हयाश्च सप्त छन्दांसि। विष्णुपु० २।८।७॥

उक्तया निरुक्तव्याख्यया द्वे तत्त्वे स्पष्टं प्रतीयेते। प्रथमम—अग्न्यादय आधिदैविकपदार्थाः पशव उच्यन्ते। द्वितीयम्—केषाञ्चिद् वेदार्थविदां मते प्रकृते मन्त्रे तत्पूर्वपठितेषु च पुरुषाध्यायः पुरुषसूक्तस्थेषु मन्त्रेषु पूर्वदेवयुगस्य अर्थात् सर्गस्य पूर्वभागस्य वर्णनं विद्यते[1]।

इदमप्यत्रावधेयम्—वेदस्य शाखासु ब्राह्मणग्रन्थेषु च यत्र क्वापि पशुयागस्य वर्णनमुपलभ्यते तत्र प्रायेण सर्वत्र ततः पूर्वं पश्चाद्वा **पुराकल्परूपोऽर्थवादः** श्रूयते। पुराकल्परूपेऽर्थवादे कल्पस्य सर्गस्य यत्पुराकालिका(=सर्गकालिका) घटनास्तासां वर्णनं क्रियते।[2] यथा—

---

१. द्र०—पूर्वत्र ४६ तमे पृष्ठे निर्दिष्टः 'सप्तभिः पुत्रैरदितिरुपप्रैत **पूर्व्यं युगम्**' मन्त्रांशः।

२. परकृतिपुराकल्परूपार्थवादयोः स्वरूपे वैभिन्न्यं लक्ष्यते। भट्टकुमारिलस्त्वाह—'एकपुरुषकर्तृकमुपाख्यानं परकृतिः, बहुकर्तृकं पुराकल्पः' इति

१—तैत्तिरीयसंहितायां **'यः प्रजाकामः पशुकामः स्यात्, स एतं प्राजापत्यं तूपरमालभेत'** (२।१।१) इति विधेः पूर्वं पुराकल्परूपोऽर्थवाद इत्थं श्रूयते—

"प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्। सोऽकामयत प्रजाः पशून् सृजेयेति। स आत्मनो वपामुदक्खिदत्। तामग्नौ प्रागृह्णात्। ततोऽजस्तूपरः समभवत्। तं स्वायै देवताया आलभत, ततो वै स प्रजाः पशून् असृजत्।"

अस्मिन् पुराकल्पे उक्तः 'प्रजापतिः, तस्य वपा, तस्या अग्नौ प्रहरणम्, ततस्तूपरस्याजस्य प्रादुर्भावः, तं देवताया आलभ्य प्रजानां पशूनाम् उत्पत्तिः' इति सर्वं कथानकं सर्गकालिकमेव। भाष्यकारेण शबरस्वामिनाऽपि अस्य प्रकरणस्य व्याख्या सृष्टितत्त्वपरैव विहिता (द्र०—मी० १।२।१० भाष्यम्)।

२—तैत्तिरीयसंहितायां **'यो वरुणगृहीतः स्यात् स एतं वारुणं कृष्णमेकशितिपादमालभेत** (२।१।२।१) इति विधेः पूर्वमनन्तरं च विस्तृतः पुराकल्परूपोऽर्थवादः पठ्यते। अस्य स्पष्टीकरणं वयमग्रे **'सूर्यपशोरालभनं तेन यजनं च'** इत्यस्मिन् प्रकरणे करिष्यामः।

इमे द्वे प्रकरणे इह निदर्शनमात्राय उपस्थापिते।

अनया दृष्ट्या 'पुरुषमेध-अजमेध-गोमेध-अविमेध-अजमेध'संज्ञकानां यज्ञानां लौकिकाः पशवः सृष्टियज्ञे सर्गकाले तदुत्तरकाले च विद्यमानानाम् आधिदैविक-पदार्थानां प्रतिनिधिभूता एव इति विस्पष्टं भवति। द्रव्यमयाः पुरुषमेधादयो यज्ञाः केषां सृष्टियज्ञानां प्रतिनिधयः? द्रव्यमयेषु पुरुषमेधादिषु च यज्ञेषु पुरुषादिपशूनां प्राचीनकाले आलम्भनं भवति स्म उत न भवति स्मेत्यस्य मीमांसाऽग्रे यथास्थानं करिष्यते।

पशुयज्ञानां मीमांसाकरणात् प्राक् 'द्रव्यमययज्ञा मानवान् कथं संप्राप्ताः, **आलभते** इति पदस्य कोऽर्थः, **आलभन-आलम्भन**क्रिययोश्च को भेदः' इति विषयेष्विह विचारः क्रियते—

यज्ञ-सम्बन्धि-आख्यानम्

यज्ञविषयकं यदाख्यानं वैदिकवाङ्मय उपलभ्यते तद् द्विप्रकारकम्। एकं

(तन्त्रवार्तिक २।१।३३)। न्यायभाष्यकारस्त्वाह—'कस्यचिद् व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः। ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्पः' इति (न्यायभाष्य २।१।६४)।

सृष्टिगतानां देवासुराणां सम्बन्धि, द्वितीयं श्रौतसूत्रोक्तं मानुषं द्रव्ययज्ञविषयकम्। उभयोरप्याख्यानयोर्वर्णने देवासुरशब्दयोरेव प्रयोग उपलभ्यते। अत एतादृशयोराख्यानयोर्विषयविभागे महत् काठिन्यम् अनुभूयते। वयमिह स्वबुद्ध्यनुसारम् उभयप्रकारकयोर्वचनयोर्विभागं कृत्वा किञ्चिल्लिखामः।

प्रस्तुतानाम् आसुरयज्ञानां विषये विचारात् पूर्वमिदमवधेयम्, यद् भारतीयदर्शनदृष्ट्या सर्ग-प्रलययोश्चक्रम् अनादिकालात् प्रवृत्तम्, नेदं कदाचिद् विरंस्यते। यदा तु प्रवृत्तसर्गसम्बन्धे किञ्चिद् वक्तव्यं भवति, तदा भारतीया ग्रन्थकाराः प्रवृत्तसर्गात् पूर्वभाविनी या प्रलयावस्था तस्याः संक्षेपेण वर्णनमवश्यं कुर्वन्ति। प्रलयवर्णनानन्तरं च सर्ग-प्रक्रियां वर्णयन्ति।

अस्मत्सौरमण्डलस्य अहोरात्रसंज्ञकयोः स्थितिप्रलययोः कालश्चतुष्षष्टि-कोट्युत्तर-अष्टार्बुदवर्षाणां विद्यते। अनयोरर्धं कालोऽह्नोऽर्थात् सृष्टेः कालः, अर्धं रात्रेरर्थात् प्रलयस्य कालः। प्रलयकालस्य आरम्भाद् आसुरप्रवृत्तयः (=ध्वंसनात्मकप्रवृत्तयः) उत्तरोत्तरं प्रवर्धन्ते। प्रलयस्य मध्यमूले काले ता आसुरप्रवृत्तयः पूर्णतां प्राप्य उत्तरोत्तरं क्षीणा भवन्ति, दैवीप्रवृत्तयश्च उत्तरोत्तरं विकसन्ति।[1] अतो वर्तमानसृष्टेः प्राक् प्रलयकाले आसुरप्रवृत्तानां कारणाद् आसुरयज्ञा (=ध्वंसनात्मकयज्ञाः) बभूवुः। अर्थात् प्रलयात्मका यज्ञा आसुरशक्तीनामधीना आसन्। अस्यैव तथ्यस्य निर्देशस्तैत्तिरीयसंहितायाम् (६।३।७।२) इत्थमुपलभ्यते—

'असुरेषु वै यज्ञ आसीत्, तं देवास्तूष्णीं होमेनावृञ्जत'।

अस्मिन् प्रकरणे श्लेषेण सृष्टियज्ञो वर्णित इति तदीयपाठेन स्पष्टं प्रतीयते। दैवीभिः शक्तिभिः तूष्णीं भावेनार्थात् शनैः शनैः स्वीयं सर्जनात्मकं कार्यमारब्धि। उत्तरोत्तरं प्रवर्धमानाभिर्दैवीभिः शक्तिभिरसुराणां सकाशाद् ध्वंसनात्मकं यज्ञं स्ववशे कृत्वा सर्जनात्मको यज्ञः समुपलब्धः।

---

१. अस्य तत्त्वस्य निरूपणं गायत्र्यादिषु छन्दस्सु आसुरच्छन्दसां दैवच्छन्दसां ह्रसीयमानया प्रवर्धमानया चाक्षरसंख्यया कृतम्। (द्रष्टव्या—अस्मदीया वैदिकछन्दोमीमांसा, पृष्ठ ११३, पं० १२-२०, द्वि० सं०)। आसुरयज्ञेषु विघटनकारिण्यः प्रवृत्तेराधिक्यं सर्जनप्रवृत्तेश्च ह्रासम् आसुरच्छन्दसाम् उत्तरोत्तरं ह्रसीयमानयाऽक्षरसंख्यया दैवेषु यज्ञेषु सर्जनप्रवृत्तेरुत्तरोत्तरं प्रवृद्धिर्दैवच्छन्दसाम् उत्तरोत्तरं प्रवर्धमानयाऽक्षरसंख्यया प्रकटीक्रियते। इदं तत्त्वं छन्दोमीमांसायाः १२५ तमे पृष्ठे (द्वि० सं०) चित्रस्य माध्यमेन सम्यङ् निरूपितम्।

सर्गोन्मुखकाले दैव्यः शक्तयः कनीयस्य आसन् आसुरप्रवृत्तयश्च ज्यायस्यः । अत एव शतपथब्राह्मण उक्तम्—**कनीयसा एव देवाः, ज्यायसा असुराः** (१४।४।१।१) ।

ऐतिहासिका देवा असुराश्च

मानुषसर्गस्यारम्भे कश्यपस्य प्रजापतेः असुरसंज्ञका देवसंज्ञकाश्च संततय आसन् इति ऐतिह्याद् विज्ञायते ।[1] तेष्वपि वयोदृष्टया असुरा ज्येष्ठाः देवाश्च कनीयसा आसन् । ऐतिहासिकस्य असुरशब्दस्य प्रवृत्तौ असु+रः (मत्त्वर्थीयो रप्रत्ययः) मूलमासीत्, अर्थाद् असुरा प्राणवन्तो बलवन्त आसन् ।

पृथिव्याः प्रथमशासका असुराः

कश्यपपुत्रेषु असुराणां ज्येष्ठत्वात् त एवास्याः पृथिव्याः प्रथमशासका बभूवुः । तदुक्तं तैत्तिरीयसंहितायाम्—

असुराणां वा इयमग्र आसीत् । यावदासीनः परा पश्यति तावद् देवानाम् । ते देवा अब्रुवन् अस्त्वेव नोऽस्याम् ॥ ६।२।४।३-४॥

मैत्रायण्यां संहितायामपीत्थमेव श्रूयते—

असुराणां वा इयमग्र आसीद् यान्निषद्य परापश्यंस्तद्देवानाम्। ३।८।३॥

असुराणां वा इयं पृथिव्यासीत् । ते देवा अब्रुवन् दत्त नो अस्याः पृथिव्या इति । ४।१।१०॥

एषां वचनानामयमेवाभिप्रायो यद् असुरा ज्येष्ठत्वाद् अस्याः पृथिव्याः शासका आसन् । देवा ततो निर्भक्ता बभूवुः । देवैरपि अस्यां पृथिव्यां स्वं भागं प्रदातुम् असुरेभ्य उक्तम् ।[2]

---

१. यद्यपि वैदिकग्रन्थेषु देवासुरविषयकेषु प्रकरणेषु प्रायेणाऽऽधिदैविकानाम् ऐतिहासिकानां च देवासुराणां सम्मिश्रणमिवोपलभ्यते, पुनरपि तात्त्विकदृष्टया विचारे क्रियमाणे अनयोर्भेदः कर्तुं शक्यते ।

२. दायभागस्यासमानविभागात्, देवैः स्वभागस्य याच्ञायाम् असुरैस्तस्य अप्रदानात् कौरव-पाण्डवयुद्धवद् देवासुराणामपि द्वादश लोमहर्षका भयङ्करा युद्धा अभूवन् । दैवासुरयुद्धानां भयङ्करता रामायणमहाभारतादिषु देवासुरयुद्धानामुपमारूपेण निर्देशाद् अनुमातुं शक्यते । इमे युद्धा न्यूनातिन्यूनं वर्षाणां शतत्रयमभिव्याप्य बभूवुः। अन्ते च देवा जयमाप्नुवन् असुराश्च पराजयम् । पराजिता असुराः प्रायेण भारतभूमिं परित्यज्य तस्याः सीमान्तप्रदेशेषु आश्रयं

असुरैर्वर्णाश्रम-मर्यादाया यज्ञानां च प्रवर्तनम्

असुराणां प्रथमशासकत्वात् तैरेव प्रथमं वर्णाश्रममर्यादा व्यवस्थापिता, तैरेव च यज्ञानां प्रवर्तनमकारि ।

वर्णाश्रमविभागः—बौधायनधर्मसूत्रे पठ्यते—

तत्रोदाहरन्ति—**प्राह्लादिर्वै कपिलो नामाऽसुर आसीत् । स एतान् भेदान् चकार देवैः सह स्पर्धमानः ।** बौधा० धर्मसूत्र २।१२।३०॥

तैत्तिरीयसंहितायामपि श्रूयते—**देवाः पराजिग्याना असुराणां वैश्यमुपायन्** (२।३।७।१) ।

यज्ञानां प्रवर्तनम्—तैत्तिरीयसंहितायां श्रूयते—

प्रजापतिर्देवासुरानसृजत । तदनु यज्ञोऽसृज्यत, यज्ञं छन्दांसि । ते विश्वञ्चो व्यक्रामन् । सोऽसुरान् अनु यज्ञोऽपाक्रामत् । ३।३।७।१॥

एतेनेदं स्पष्टं यद् यज्ञान् पूर्वम् असुराः प्रावर्तयन्निति ।

सौत्रामणी[1]यज्ञविषये शतपथे श्रूयते—

असुरेषु वा एषोऽग्रे यज्ञ आसीत् सौत्रामणी । स देवान् उपप्रैत । १२।८।३।७॥

असुरेभ्यो देवा यज्ञान् प्राप्नुवन्—शतपथब्राह्मणस्योक्तवचनेनेदं विस्पष्टं यत्सौत्रामणीयज्ञम् असुरा विदुः, तदनु तं देवा विदांचक्रुः[2] । इत्थमेव पूर्वं

लेभिरे । तत्रैव चासुरी सभ्यता विकासं प्राप्ता । आसुरीसभ्यता भोगप्रधाना नगरबहुला आसीत् । सिन्धुप्रदेशे मोहंजोदड़ोस्थानेषु खननेन यस्याः सभ्यतायाः दर्शनं जायते सा आसुरी सभ्यतैवास्ति । आर्याणां वसतिस्तु ग्रामबहुला आसीत् ।

१. सौत्रामण्यां सुरापानं भवतीति लोके प्रसिद्धिरस्ति । वस्तुतस्त्वस्मिन् यज्ञे यः पदार्थः सुराशब्देनोक्तः,या च तस्या निर्माणप्रक्रिया तेन विस्पष्टं प्रतीयते यदत्र विहिता सुरा लौकिकी मदकारिणी सुरा न विद्यते । सा तु त्रिषु दिवसेषु सिद्धा पेयविशेषा एव । एतद्विषयेऽस्मदीये महाभाष्यस्य हिन्दीव्याख्याने (अ० १, पाद १, आ० १, भाग १, पृष्ठ २१) द्रष्टव्यम् ।

२. सायणाचार्येण प्राचीनैतिह्यस्य ज्ञानाभावात् पूर्वोद्धृतस्य तैत्तिरीयसंहितायाः ३।३।७।१ वचनस्य व्याख्याऽशुद्धा विहिता ।

५१ तमे पृष्ठे उद्धृते **असुरेषु वै यज्ञ आसीत् तं देवास्तूष्णीं होमेना-वृञ्जत** (तै० सं० ६।३।७।२) इति वचने श्लेषेण 'यज्ञाः प्रथममसुराणां सकाशे आसन् तेभ्यो देवा लेभिरे इत्युक्तं भवति । कालान्तरे देवा यज्ञविद्यायाम् असु-राणामपेक्षया प्रवीणतरा बभूवुः । अन्ततोऽसुरा यज्ञेषु देवानामनुकरणाय विवशा अभूवन् । अत एवोक्तम्—**देवा वै यद् यज्ञेऽकुर्वत तदसुरा अकुर्वत**। (तै० सं० ६।४।६।१) ।

देवेभ्यो यज्ञा मनुष्यान् प्रापुः——अनन्तरं देवेभ्यो मनुष्या यज्ञान् प्राप्नुवन् । 'ऐल'संज्ञकेन राज्ञा गन्धर्वेभ्यो (=देवजातिविशेषेभ्यः) अग्नि-विद्याया रहस्यं विज्ञायैकोऽग्निस्त्रिधा विभक्तः (द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ २८), ऋषिभिश्च तत्र विविधक्रियाकलापानां संयोजनेन यज्ञा वैविध्यस्य पराकाष्ठां प्रापिताः ।

मनुष्येषु यज्ञाः त्रेतायुगस्यादौ प्रवृत्ताः। असुरेषु देवेषु च कृतयुगस्योत्तरार्ध एव यज्ञाः प्रावर्तन्त । अतः पूर्वत्र २७ तमे पृष्ठे तृतीयस्यां टिप्पण्यां निर्दिष्टेषु यज्ञप्रवर्तनविषयकेषु वचनेषु विरोधो नाशङ्कनीयः ।

उक्तानाम् असुराणां विवेचना

असुरविषयिक्या विवेचनाया मूले कारणमिदं वर्तते यदसुरशब्दश्रवणमात्रे-णैव सम्प्रति वैदिकमर्यादाविरहितानां यज्ञविध्वंसकानां राक्षसानां पिशाचानां प्राणिविशेषाणां प्रतीतिर्भवति । अतः प्रसङ्गाद् असुराणां विवेचनेह क्रियते ।

भारतीयैतिह्यानुसारम् असुरा देवा मनुष्याश्च पुरुषजातेस्त्रीणि कुला-न्यासन् । सर्गादौ कश्यपप्रजापतेः **दितिः अदितिः दनू** संज्ञकाभ्यः पत्नीभ्यो यान्यपत्यान्यभूवन् तानि **दैत्य-आदित्य-दानव**नामभिः प्रसिद्धान्यभूवन् । दैत्या एव भारतीयेतिह्ये **असुर**नाम्नोच्यन्ते । दानवोऽप्यसुराणां सहयोगिनो बभूवुः । अदितेर्द्वादशापत्यानि आदित्यनामान्येव देवनाम्ना प्रसिद्धिं गतानि । इत्थम् असु-राणां देवानां च द्वे कुले प्रारभेताम् ।

असुराः पूर्वे देवाः—आदिकाले असुरा वैदिकमर्यादानां यथावत् परिपालकाः श्रेष्ठाचारवन्तो बभूवुः । कश्यपप्रजापतिना एषां श्रेष्ठत्वाज्ज्येष्ठत्वाच्च पृथि-व्याः शासन एते नियुक्ताः । एतैरेवासुरैर्वैदिको वर्णाश्रम-विभागः यज्ञाश्च प्रव-र्तिताः (द्र०—पृष्ठ ५३) । शासने विशेषाधिकारे च प्राप्ते यदि तत्र कस्यचिद् अङ्कुशभूतस्य पुरोहितादेः स्थितिर्न भवेत् तर्हि शासकानां विशेषा-धिकारसम्पन्नानां वा मनुष्याणां मतिः शनैः शनैः विकृतिम् आपद्यते । एत-

त्सिद्धान्तानुसारमेवासुराणां पतनमभूत् । आदौ योऽसुरशब्दः श्रेष्ठार्थे (असु+र =प्राणवान्=बलवान्) प्रयुक्तोऽभूत्[1] सोऽसुराणां कदाचारात् निकृष्टार्थस्य बोधकः समपद्यत । असुरा आदौ श्रेष्ठाचारवन्त आसन् इत्यस्यार्थस्य बोधकः, तेषां प्राचीनैतिह्यस्य च निदर्शक एकः **'पूर्वदेव'**शब्द इदानीमप्यमरकोशादिषु (१।१।७) उपलभ्यते । असुराणां कदाचारे प्रवृत्त्यैवोत्तरकालेऽसुरशब्दः संस्कृतभाषायां राक्षसपिशाचादीनाम् कृते प्रयोगमलभत ।

उत्तरकाले यदा देवा असुरान् पराजित्य शासका अभूवन् तदा देवा अपि निरङ्कुशां राज्यसत्तां प्राप्य असुराणामिव वैदिकमर्यादां परित्यज्य कदाचारे प्रवृत्ताः । देवराजस्येन्द्रस्यानेकेषां मर्यादाहीनकर्मणां वर्णनमितिहासपुराणेषूपलभ्यते । यज्ञेषु पश्वालम्भनमपि इन्द्र एव प्रवर्तितवान् इत्यग्रे वक्ष्यते ।

अस्माकं पूर्वजाः परमर्षयोऽसुराणां देवानां च निरङ्कुशशासनात् शिक्षां गृहीत्वा मानव-राज्ञां रक्षार्थं मानवीयराजनीतौ एकं विशिष्टं प्रावधानम् अकार्षुः, येन राजा सर्वथा निरङ्कुशो न भवेत् । तदासीत् राज्ञां कृते पुरोहितवरणरूपम् । अयं पुरोहितो न यज्ञसम्वादकरूप आसीत् । स राज्ञो भाव्यापदानां प्रतिकारे समर्थः परमतेजस्वी ब्राह्मणो भवति स्म । एतस्य स्वीकृतिं विना राजा स्वेच्छया पदमेकमपि चलितुमसमर्थो भवति स्म । रघुकुलप्रसूतानां राज्ञां पुरोहितो महर्षिर्वसिष्ठ एतादृश एवासीत् । मध्यकालेऽपि राजनीतिशास्त्रज्ञेनाऽऽचार्यकौटल्येनाऽपि स्वीयेऽर्थशास्त्रे लिखितम्—**तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यः स्वामिनमिव चानुवर्तेत** (अधि० १, अ० ६)। एकस्मिन् स्थाने तु—**मर्यादां स्थापयेद् आचार्यान् अमात्यान् वा । य एनं अपायस्थानेभ्यो वारयेयुः । छायानालिकया प्रतोदेन वा रहसि प्रमाद्यन्तमभितुदेयुः** (अधि० १; अ० ७) । राज्ञां निरङ्कुशतां वारयितुं यत् प्रावधानमस्माकं पूर्वजैः कृतं तदर्थं तेऽत्यन्तं धन्यवादार्हाः सन्ति ।

आलभते-आलभेत-पदयोः सम्बन्धे विचारः

सम्प्रति कर्मकाण्डेऽसकृत्प्रयुक्तयोः **आलभते आलभेत**पदयोः सम्बन्धे विचारः क्रियते । प्रायेण समस्तपशुयागानां प्रकरणे **आलभते आलभेत**पदयोः प्रयोगा

---

१. पूर्वत्र ५२ तमस्य पृष्ठस्य द्वितीयटिप्पण्यामुक्तमस्माभिः—असुरा देवैः पराजिता भारतस्य सीमान्तप्रदेशेषु आश्रयं लेभिरे । उत्तरकालेऽयमेवासुरशब्दः **'अहुर'**रूपे परिणतः । अत एवायम् 'अहुर'शब्दः 'जेन्दावस्ता'ग्रन्थे श्रेष्ठार्थे प्रयुज्यते ।

उपलभ्यन्ते। अनयोः पदयोर्मूलभूता प्रकृतिर्वर्तते—**डुलभष् प्राप्तौ** (धातु० १। ७०२)। तदनुसारमनयोः पदयोरर्थः प्राप्तिः स्पर्शनं चास्ति। उपनयने विवाह-संस्कारे च यत्र यत्र **हृदयमालभते**[1] इति प्रयुज्यते, तत्र सर्वत्र व्याख्याकारा **हृदयं स्पृशन्ति** इत्येवार्थं विदधति। परन्तु याज्ञिका **वायव्यं श्वेतमालभेत भूति-कामः** (तै० सं० २।१।१।१) प्रभृतिषु पशुयागविषयकेषु विधिवाक्येषु **आलभेत**-पदस्य **आलम्भनं कुर्याद्** अर्थात् 'तं पशुं हन्यात्' इत्यर्थं मन्यन्ते। सत्यप्येवं येषामारण्यकानां पशूनां पक्षिणां पुरुषाणां च द्रव्यदेवताविधायकेषु वचनेषु **आलभते** इति प्रयोगो दृश्यते, तत्र समस्ता अपि याज्ञिका **आलभते** इति विधौ सत्यपि न तान् घ्नन्ति, अपि तु तेषां पर्यग्निकरण-संस्कारानन्तरम् उत्सर्जनं कुर्वन्ति। यथा—

अश्वमेधे—**वसन्ताय कपिञ्जलानालभते, प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते** (शुक्ल यजुः २४।२०, २९) इत्येवं विहितानां पशु-पक्षिणां विषये **कपिञ्जला-दीन् उत्सृजन्ति पर्यग्निकृतान्** (कात्या० श्रौत २०।६।९) इति विधिर्दृश्यते। सर्वैरपि वेदभाष्यकारैरस्मिन् प्रकरण उक्तम्—**तेऽवारण्याः सर्वे उत्स्रष्टव्याः, न तु हिंस्याः** (द्र०—यजुः २४।४० उव्वटमहीधरभाष्यम्)।

पुरुषमेधे—शुक्लयजुषः ३० तमस्याध्यायस्य पञ्चमकण्डिकात आरभ्य द्वाविंशतिकण्डिकापर्यन्तं '**ब्रह्मणे ब्राह्मणम् [आलभते]**[1]' इत्यादिषु विधिवाक्येषु निर्दिष्टा अपि पुरुषाः पर्यग्निकरणानन्तरमुत्सृज्यन्ते—**कपिञ्जलादिवद् उत्सृ-जन्ति ब्राह्मणादीन्** (कात्या० श्रौत २१।१।१२)। अस्मिन्नेव प्रकरणे त्रिंश-

---

१. **अथास्यै दक्षिणांसमधि हृदयमालभते**। पार० गृह्य १।८।८; २।२। १५।। एवमन्यगृह्यसूत्रेष्वपि वचनमिदमुपलभ्यते।

इत्थमेव **अङ्गान्यालभ्य जपति** (पार० गृह्य २।४ बहुटीकाकारसम्मतः पाठः) इत्यत्र प्रयुक्तस्य **आलभ्य**पदस्य **स्पृष्ट्वा** इत्येवार्थः। शबरस्वामिनाऽपि मीमांसायाः १।२।१० सूत्रस्य भाष्ये **आलभ्य**पदस्य **उपयुज्य** इत्यर्थो विहितः। शाबरभाष्यस्य विवरणकारेण गोविन्दामृतमुनिना '**आलभ्येत्यस्य व्याख्यानमुप-युज्येति प्राप्येति व्याख्यानं कृतम्**।

१. शुक्लयजुषि केवलं द्रव्यदेवतयोरेव निर्देशः, '**आलभते**'पदं तु **अन्तिम**-कण्डिकायां श्रूयते। तस्य सर्वशेषत्वात् प्रतिवाक्यं सम्बन्धो भवति। **तैत्तिरीय-ब्राह्मणे** (३।४।१।१) तु '**ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते**' इत्यस्य **पूर्वत्रैव निर्देशः**। तस्योत्तरवाक्येष्वनुषङ्गो ज्ञेयः।

त्तमस्याध्यायस्य द्वाविंशतितमायाः कण्डिकाया व्याख्याने याज्ञिका भाष्यकारा आहुः—**पर्यग्निकरणानन्तरं इदं ब्रह्मणे इदं क्षत्रायेत्येवं सर्वेषां यथास्वं देवतोद्देशेन त्यागः। ततः सर्वान् ब्राह्मणादीन् यूपेभ्यो विमुच्योत्सृजति** (द्र०—महीधरभाष्यम्)।

एवमेव सोमयागेऽपि त्वाष्ट्रस्य पात्नीवतः पशोः पर्यग्निकरणानन्तरम् उत्सर्जनं विधीयते—**पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति···त्वाष्ट्रो भवति** (द्र०—तै० सं० ६।६।१-२)।

एतैर्वचनैरेतत् स्पष्टं यद् **आलभते आलभेत** क्रिययोः प्रयोगेऽपि बहुत्र पशोरालम्भनमर्थाद् हिंसनं न भवति। अतोऽनयोः क्रिययोरालम्भनमेवार्थ इति मतम् असाध्वेव।

आ-लभ, आ-लम्भ इति द्वौ स्वतन्त्रौ धातू

वस्तुतस्तु आङ्पूर्वात् 'लभ'धातोः आङ्पूर्वो 'लम्भ'धातुः स्वतन्त्रः। **आलभ** इत्यस्य तु प्राप्तिः स्पर्शश्चैवार्थः, **आलम्भ** इत्यस्य तु हिंसार्थत्वम्। **अर्थभेदाद्** धातुद्वयस्य निरूपणाय आयुर्वेदस्य चरकसंहिताया एकं वचनम् इह प्रस्तूयते—

"**आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्' पशवः प्रोक्षणमापुः।**" चिकित्सास्थान १९।४॥

अस्मिन्नुद्धरणे **समालभनीयाः** पदस्य **आलम्भाय** पदस्य च पार्थक्येन प्रयोगो दृश्यते। वाक्यविन्यासेन अनयोः पदयोर्द्वौ स्वतन्त्रावर्थाविति अपि विज्ञायते। पाणिनीयव्याकरणानुसारं तु 'श'भिन्नेष्वजादिषु प्रत्ययेषु **लभेश्च** (अष्टा० ७।१।६४) इति नियमेन सम्-आङ्पूर्वकस्य लभधातोः 'अनीयर्' प्रत्यये नुमि सति **समालम्भनीयाः** प्रयोगेण भाव्यम्। अनेनैव नियमेन **आलम्भाय** प्रयोगेऽपि आङ्पूर्वकस्य लभेर्घञि (='अ' प्रत्यये) नुमागमो भवति। चरकसंहितायां तु 'अनीयर्' प्रत्ययान्तस्य नुम्रहितस्य **समालभनीयाः** पदस्य, नुमा सहितस्य **आलम्भाय** पदस्य च प्रयोगाद् विज्ञायते यद् लभ लम्भ इति द्वौ स्वतन्त्रौ धातू स्तः।

उत्तरकाले यदा 'लम्भ'धातोः भूयांसः प्रयोगा विलुप्ताः, तदा केषांचिदेवावशिष्टानां प्रयोगाणां साधुत्वनिदर्शनाय पाणिनिप्रभृतिभिर्वैयाकरणैः 'लभ' धातावेव नुमागमस्य विधानं कृतम्। इत्थं च धात्वैककल्पनायाः कारणाद् **आलम्भ**धातोर्यो हिंसार्थ आसीत् स **आलभ**धातोः प्रयोगेष्वपि संक्रान्तः। **अतएव** आलभते आलभेत पदयोः '**आलम्भनं कुर्यात्**' इत्यर्थो व्याख्याकारैः कृतः।

आगमादेशादिविधानेन प्रकृत्यन्तर-कल्पना

वैयाकरणैर्येषां धातूनां प्रातिपदिकानां चाल्पाः प्रयोगा उपलब्धाः, तेषां साधुत्वनिदर्शनाय तदर्थकेषु प्रायेण समानरूपेषु धातुषु प्रातिपदिकेषु चागमादेश-वर्णव्यत्ययादिकल्पना समादृता। वस्तुतः पुराकाले तेषां प्रयोगाणां धातु-प्रातिपदिकरूपाः स्वतन्त्राः प्रकृतय आसन्। अयं विषयोऽस्माभिः **'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास'** नाम्नो ग्रन्थस्य प्रथमाऽध्याये, 'पाणिनीयव्याकरणस्य वैज्ञानिकी व्याख्या' इत्याख्ये द्वितीये परिशिष्टे (भाग ३, पृष्ठ १५-४५; सं० २०४१) विस्तरेण निरूपितः। प्रकृते त्वेतावदेवास्त्यस्मत्कथनं यद् **आलम्भः, आलम्भनीयः, आलम्भ्या** आदिप्रयोगाणां भगवता पाणिनिना **लभेश्च, आङो यि** (अष्टा० ७।१।६४-६५) इत्याभ्यां सूत्राभ्यां नुमागमं विधाय लभधातोरेव यः सम्बन्धः प्रदर्शितः स कल्पना-प्रसूत एव न वास्तविकः। एषां प्रयोगाणां मूलभूता प्रकृतिस्तु **लभि-लम्भरूपः** स्वतन्त्रो धातुः। विलुप्तानां प्रकृतीनां परिज्ञानाय महाभाष्यकारेण पतञ्जलिना **न धातुलोप आर्धधातुके** (अष्टा० १।१।४) इति सूत्रस्य भाष्ये यो निकषः (कसौटी) उपस्थापितः, स इत्थं वर्तते—

'बृंहेरच्यनिटि। बृंहेरच्यनिटि उपसंख्यानं कर्तव्यम्। निबर्हयति, निबर्हकः। अचि इति किमर्थम्? निबृंह्यते। अनिटि इति किमर्थम्? निबृंहिता, निबृंहितुम्। तत्तर्ह्युपसंख्यानं कर्त्तव्यम्? न कर्तव्यम्। बृहिः प्रकृत्यन्तरम्। कथं ज्ञायते? अचीति लोप उच्यते, अनजादावपि दृश्यते—निबृह्यते। अनिटीत्युच्यते, इडादावपि दृश्यते—निर्बहिता, निर्बहितुम्। अजादावित्युच्यतेऽजादावपि न दृश्यते—निबृंहयति, निबृंहकः'॥ महाभाष्य १।१।४॥

अस्मिन् भाष्ये प्रकृत्यन्तरकल्पनाया यो नियमो निर्दशितः सोऽत्यन्त विस्पष्टः।[1] उक्त नियममाश्रित्यैव वैयाकरणसम्बद्धानां लभधातोः प्रयोगाणां मीमांसा करिष्यते—

पाणिनिना द्वे सूत्रे प्रोक्ते—**लभेश्च, आङो यि** (अष्टा० ७।१।६४-६५) अनयोः सूत्रयोरयमर्थः—**लभेश्च**—लभेरङ्गस्य शब्लिड्वर्जितेऽजादौ प्रत्यये

---

१. महाभाष्यकारेण लोपागमादेशादिभिः प्रकृत्यन्तरविधानमसकृन्निर्दिष्टम्। यथा—महाभाष्य १।१।४; ३।१।३४; ३।१।७८; ३।२।१३५; ४।१।३५; ४।१।९७; ४।२।२; ४।३।२२; ५।२।२९; ६।१।३०; ६।३।३५; ६।४।२४; ७।३।८७॥

परतो नुमागमो भवति । यथा लम्भयति लम्भकः । **आङो यि**—आङ उत्तरस्य लभेर्यकारादिप्रत्ययविषये नुमागमो भवति । यथा—आलम्भ्या गौः, आलम्भ्या वडवा ।

लभेश्चेति प्रथमनियमानुसारम् 'अनीयर्'प्रत्यये परतो लभेर्नुमागमेन भाव्यम् । तथा सति समाङ्पूर्वाल्लभेः 'समालम्भनीय' इति प्राप्नोति, परन्तु चरकसंहिताया उक्तोद्धरणे (पृष्ठ ५७) **समालभनीयाः** इति प्रयोगे नुमाभावो दृश्यते । **आङो यि** इति द्वितीयनियमानुसारं **यति** प्रत्यये **ण्यति**[1] वा **आलम्भ्या**प्रयोगेण भाव्यम्, परन्तु **अग्निष्टोम आलभ्यः** (काशिकायाम् १।१।७५ उद्धृतः पाठः) इति प्रयोगे नुमाभावो दृश्यते ।

एवं चानयोर्नियमयोर्व्यत्यासेन विज्ञायते यन्मूलतः **लभ लम्भ** द्वौ स्वतन्त्रौ धातू स्तः । पाणिनेः प्राचीने काशकृत्स्नीये धातुपाठे **डुलभष् प्राप्तौ** (१।५६४) **लभि** (=लम्भ) **धारणे** (१।३६२) इति द्वौ स्वतन्त्रौ धातू पठ्येते[2] । अनयो रूपाण्यपि तट्टीकायां क्रमशः **लभते लभनम्, लम्भति लम्भनम्** इति निर्दिश्यन्ते ।

लभ-लम्भयोर्भिन्नार्थत्वम्

यतो 'लभ' 'लम्भ' इति स्वतन्त्रौ धातू स्तः, अतोऽनयोरर्थेऽपि पार्थक्येनावश्यं भाव्यम् । अस्यार्थभेदस्य संपुष्टिः चरकसंहितायाः पूर्वोद्धृते (पृष्ठ ५७) **आदिकाले पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म'** इति वाक्येनापि भवति । यद्युभयोरेकार्थोऽभविष्यत् तर्हि द्वयोः क्रिययोः पृथक्-

---

१. वैदिकग्रन्थेषु **आलम्भ्या** पदमन्तस्वरितं दृश्यते । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण (द्र०—अष्टा० ६।२।१३६) ण्यति प्रत्ययेऽयं स्वर उपपद्यते । नुमागमात् प्राक् लभधातोरदुपधत्वात् **पोरदुपधात्** (अष्टा० ३।१।९८) सूत्रेण यत्प्रत्ययेन भाव्यम् । यति तु **आलम्भ्या** इति स्वरेण भाव्यम् । अतो लभेर्ण्यत्प्रत्ययस्योपपत्तये काशिकाकारेण प्रत्ययोत्पत्तेः प्राक् नुमागमस्य कल्पना कृत्वा अदुपधत्वाभावात् **ऋहलोर्ण्यत्** (अष्टा० ३।१।१२४) इति सूत्रेण ण्यतः प्राप्तिरुक्ता (द्र०—काशिका ७।१।६५) । लम्भरूपप्रकृत्यन्तरस्वीकारे नास्ति कापि क्लिष्टकल्पनाया आवश्यकता ।

२. द्र०—काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम्, पृष्ठ ९४, ५६ । अयं ग्रन्थोऽस्माभिश्चन्नवीरकृतायाः कन्नडटीकायाः संस्कृतरूपान्तरं कृत्वा प्रकाशितः ।

प्रयोगो नाभविष्यत् । काशकृत्स्नधातुपाठे तु उभयोः पृथगर्थौ विनिर्दिष्टौ इति पुरस्तान्निर्दर्शितम् ।

लभधातोरर्थाः—१. प्राप्तिः—काशकृत्स्नपाणिनीयधातुपाठयोः लभधातोः प्राप्त्यर्थो निर्दिष्टः—**डुलभष् प्राप्तौ** (काश० १।५६४; पाणि० १।७०२) ।

२. **स्पर्शः**—उपनयने विवाहे च **दक्षिणांसमधि हृदयमालभते** (पार० गृह्य १।१।८) वाक्ये स्पर्शार्थ एव सर्वैर्व्याख्यातृभिरास्थीयते । सुश्रुतेऽपि **आलभेतासकृद् दीनः करेण च शिरोरुहान्** (कल्पस्थान १।१६) इत्यत्र स्पर्थार्थे एव प्रयुज्यते ।

३. **नियोजनम्**—महीधरेण शुक्लयजुषः २४।२० मन्त्रस्य व्याख्याने **आलभते नियुनक्ति** इत्यर्थो विहितः ।

४—**हिंसनम्**—वैखानसश्रौतसूत्रे **आलभ्यः** पदं 'वध्यः' इत्यर्थे त्रिः प्रयुक्तः । यथा—**दीक्षितस्याग्नीषोमीयः पशुरालभ्यः** (१४।१४।१); **अथाग्नेयः पशुरेकोऽग्निष्टोम आलभ्यः** (१५।१।१); [**उक्थ्ये**] **द्वितीयः पशुरैन्द्राग्नसवनीय आलभ्यः** (१७।१।४) ।

लम्भधातोरर्थाः—१. **हिंसनम्**—पूर्वत्र (पृष्ठ ५७) निर्दिष्टे चरकसंहिताया वचने **नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म** इत्यत्र हिंसार्थे प्रयुज्यते ।

२. **स्पर्शः**—क्वचिद् आङ्पूर्वो लम्भधातुः स्पर्शार्थे प्रयुज्यते यथा—

कुमारं जातं···पुरा अन्यैरालम्भात् ।। आश्व० गृह्य ।।

स्त्रीप्रेक्षणालम्भने मैथुनशङ्कायाम् ।। गौतमधर्म० २।२२।।

३. **प्राप्तिः**—निरुक्ते **नामधेयप्रतिलम्भमेकेषाम्** (१।१४) कठोपनिषदि (१।१।२५) च **महीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः** इत्यत्र लम्भेः प्राप्त्यर्थे प्रयोगो दृश्यते ।

४. **धारणम्**—काशकृत्स्नीये धातुव्याख्याने (१।३६२) लभि=लम्भधातोः धारणमर्थो निर्दिष्ट इति पूर्वमुक्तम् ।

एतैः प्रयोगैरेतावत् स्पष्टम् यद् आलभ-आलम्भयोरुभयोः स्पर्शार्थः समानः । आलभधातुस्तु केवलं वैखानसश्रौतसूत्रेष्वेव हिंसार्थे प्रयुक्त उपलभ्यते, नान्यत्र । आलम्भस्य स्पर्शार्थे प्रयोगदर्शनाद् **आलम्भ्या गौः आलम्भ्या वडवा** प्रभृतिषु मूलतः स्पर्शार्थ एव स्यादिति संभाव्यते । उत्तरकालिकैर्व्याख्याकारैर्लेखकैश्च **आलभ-आलम्भौ** समानार्थकाविति मत्वा **आलभते आलभेत** पदयो-

हिंसार्थः स्वीकृतः। अस्मन्मते तु 'आलभ' इत्यस्य हिंसार्थः सर्वथाऽप्रामाणिक एव।

'घ्नन्ति'पदस्य प्रयोगः; तस्यार्थश्च

ब्राह्मणग्रन्थेषु **घ्नन्ति वा एतत् पशून्** इति प्रयोगमुपलभ्यानेके व्याख्यातारो **मारयन्ति हिंसन्ति** इत्येवमर्थं व्याचक्षते। तदसत्। हन्धातोः हिंसा गतिश्चार्थं इति शास्त्रकारा आहुः। हनधातुर्हिंसार्थं एव प्रयुज्यते न गतौ,[1] इत्याग्रहवशादेव 'घ्नन्ति'पदस्य 'हिंसन्ति' प्राणैर्विमोचयन्ति अर्थं मन्यन्ते याज्ञिकाः। सत्येवं **घ्नन्ति वा एतत् सोमं यदभिषुण्वन्ति, यज्ञं वा एतद् घ्नन्ति** (मै० सं० ४।८।३) इत्यस्मिन् वाक्ये 'घ्नन्ति'पदस्य 'प्राणैर्विमोचयन्ति' इत्यर्थस्तु न कथमपि सम्भवति। गतेस्त्रयोऽर्था मन्यन्ते वैयाकरणाः—**ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च**। **घ्नन्ति यज्ञम्** इत्यत्र प्राप्त्यर्थ एव। ये सोमं घ्नन्ति कुट्टयन्ति तस्य रसं निस्सारयन्ति ते यज्ञं प्राप्नुवन्ति।

मेध-शब्दार्थ-विचारः

पशुयज्ञेषु **पुरुषमेधः अश्वमेधः गोमेधः अविमेधः अजमेधश्च** प्रमुखाः सन्ति। एषामन्ते मेधृधातोर्निष्पन्नो मेधशब्दः श्रूयते। मेधृधातोरपि द्वावर्थौ—हिंसनं संगमनं च) तदुक्तम्—**मिदृ मेदृ हिंसायाम्, मेधृ संगमे च** (पा० धातु० १।६०९, ६११)। पुरुषमेधादिषु मेधशब्दस्यार्थः संगमनमेव, न हिंसनम्। यत एषां पुरुषादीनां वेदे हिंसायाः साक्षात् प्रतिषेधाद् अस्मिन् विषये सप्रमाणमग्रे वक्ष्यामः।

पुरुषमेधादिषु विचारात् पूर्वं मन्त्रोक्तानाम् **अग्नि-वायु-सूर्य**-पशुभिः सम्पद्यमानानां यज्ञानां विषये विचारः क्रियते—

अग्निपशोरालभनं तेन यजनं च

शुक्लयजुषः त्रयोविंशस्याध्यायस्य सप्तदशे मन्त्रे श्रूयते—**अग्निः पशु-**

---

१. तथा चाह भामहः—'तुल्यार्थत्वेऽपि हि ब्रूयात् को हन्ति गतिवाचिनम्' (अलङ्कार ६।२४)। 'कुञ्जं हन्ति कृशोदरी। अत्र हन्तीति गमनार्थे पठितमपि न तत्र समर्थम्' (साहित्यदर्पण परि० ७; काव्यप्रकाश उल्लास ७)। 'धातुप्रदीपस्य सम्पादकेन श्रीशचन्द्रचक्रवर्तिना हन्तेर्गत्यर्थे एकः प्रयोगो निर्दिष्टः—'भूदेवेभ्यो महीं दत्वा यज्ञैरिष्ट्वा सुदक्षिणैः। अनुक्त्वा निष्ठुरं वाक्यं स्वर्गं गन्तासि सुव्रत॥' धातुप्रदीप, पृष्ठ ७६, टि० २। हरयाणाप्रान्तस्य हिसार-मण्डलस्य स्थानीयभाषायां **'कठे हणसे'** इत्यादिषु हन्तिर्गत्यर्थेऽद्यापि प्रयुज्यते।

रासीत् तेनायजन्त। अस्यैव मन्त्रस्य तात्पर्यं स्पष्टीकर्तुं यास्केन एकं ब्राह्मण-वचनमुद्धृतम्—अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त तेनायजन्त इति च ब्राह्मणम्[1] (निरुक्त १२।४१)।

अस्य अग्निरूपस्य पशोर्देवैरालभनं कृत्वा कथं यजनं कृतमित्यस्य वर्णनम् ऋग्वेद इत्थमुपलभ्यते—

> आपो ह यद् बृहती विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
> ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
> यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
> यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
>
> ऋ० १०।१२१।७,८॥

अनयोर्मन्त्रयोरयमभिप्रायः—सर्गारम्भे यदा प्रकृतेर्विकारभूताभिर्बृहतीभिरद्भिः (=वृद्धिगुणैः पञ्चतन्मात्रैः) यदा गर्भधारणं कुर्वतीभिः (महदण्डरूपे संघटन्तीभिः) अग्निरुत्पादितः, ततो देवानामेको असुः (=गतिमान्) महदण्ड उत्पन्नः। ता आपः (पञ्चतन्मात्राणि) स्वमहिम्ना दक्षं (अग्नि)[2] दधाना=धारयमाणा यज्ञम्[3] (=महदण्डम्) उत्पादयन्त्यः पर्यपश्यन्[4]। यो देवेष्वधिदेवः[5] (=महादेवः) आसीत्, तस्मै कस्मै प्रजापतये[6] देवाय हवि-

---

१. द्र०—ऐ० ब्रा० १।१६॥

२. उद्धृतयोर्मन्त्रयोः गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्' 'दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्' इत्यनयोश्चरणयोः प्रथमे चरणेऽग्नेर्गर्भरूपेण धारणस्य निर्देश उपलभ्यते, द्वितीये चरणे स एव गर्भस्थोऽग्निः 'दक्ष' इत्युक्तः। दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च (धातु० १।४०३), दक्ष गतिहिंसनयोः (धातु० १।५२१), दक्षतेरुत्साहकर्मणः, दक्षतेः इति च निरुक्तम् (१।७)।

३. इह यज्ञशब्देन हिरण्यगर्भरूपो प्रजापतिः विराट्पुरुष इत्यादिरनेकैर्नामभिः स्मृतः महदण्डोऽभिप्रेतः।

४. इह 'पर्यपश्यन्' क्रियाया भावोऽपां कारणरूपात् कार्यरूपे परिणतिमात्रे द्रष्टव्यः। 'अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारः' इति न्यायेन दर्शनक्रियायाः प्रयोगो ज्ञेयः।

५. महदण्डस्योत्पत्तेः प्राक् पञ्चमहाभूतानां पञ्चतन्मात्ररूपाणि सूक्ष्मतत्त्वानि उत्पन्नान्यभूवन्। द्र०—प्रशस्तपादभाष्ये सर्गप्रकरणम्। महदादयो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति वै (वायुपु० ४।७४)।

६. प्रजापतिर्वै कः। ऐ० ब्रा० २।३८; कौ० ब्रा० ५।४॥

प्रदानरूपेण कर्मणा अर्थात् सहयोगेन महदण्डरूपं कार्यं सम्पादयामः।

अद्भिः संघटिते महदण्डे पञ्चमहाभूतेषु प्रथमं पञ्चतन्मात्रस्थाद् = अग्नेः सूक्ष्मरूपाद् अग्निः प्रादुर्बभूव। अवशिष्टानि तन्मात्राणि तैश्च उत्पन्ना महाभूतास्तस्याग्नेः सहयोगं कृतवन्तः। अनेनैव सहयोगेन प्रजापतिरूपिणि महदण्डे ग्रहोपग्रहाणां निर्माणमभूत्। अस्या एव सर्ग-प्रक्रियाया वर्णनं **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः** (यजुः ३१।१६; ऋ० १०।९०।१६) इत्यृक् विदधाति। अयं यज्ञसंज्ञको महदण्डः सर्वहुत् आसीत्—**तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः** (यजुः ३१।६; ऋ० १०।९०।८) इति। अयमेव वेदे **विश्वकर्मा**[1] इत्युक्तः (द्र०—ऋ० मं० १०, सू० ८१)।

महदण्डे ग्रहोपग्रहाणां निर्मितिकाले दैवीभिः शक्तिभिः पूर्वतो विद्यमानस्याग्नेः पुनरालभनं विहितम्। तथा सति सोऽग्निः मुख्यरूपेण द्यु-अन्तरिक्ष-पृथिवीस्थानेषु विभज्य (रूपान्तरं कृत्वा) स्थापितः। अस्य वर्णनमप्यृग्वेदे (१०।८८।१०) इत्थमुपलभ्यते—

स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभिः रोदसिप्राम्।
तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः॥

अर्थाद् भौतिका देवाः स्वसामर्थ्येन दिवि रोदसिप्रां (= द्युलोक-पृथिवी[2]-लोकयोर्व्यापकं) अग्निमजीजनन्, तं सुखप्रदायकमग्निं (= पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि च स्थापनाय त्रेधा विभक्तवन्तः[3]) स विश्वरूपा ओषधीः (= ओषमग्निं दधानान् महदण्डस्थान् ग्रहोपग्रहरूपान् अवयवान्) पचति (= पाकेन समर्थयति)।

---

१. विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार।...'विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्' (ऋ० १०।८१।६) इति। निरुक्तम् १०।२६॥

२. पृथिवीपदं महदण्डे विकस्यमानानां स्वप्रकाशरहितानां ग्रहोपग्रहाणाम् उपलक्षकम्। **सूर्याचन्द्रमसौ धाता**.........। **दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः** इति ऋङ्मन्त्रस्य प्रथमचरणे सूर्यपदं स्वयंप्रकाशकानां चन्द्रपदमुपग्रहाणामुपलक्षकः। उत्तरार्धे द्युपदं सूर्यस्य बाह्यपरिधेः, पृथिवीपदं स्वप्रकाशाभाववतां ग्रहाणाम्, अन्तरिक्षपदं ग्रहोपग्रहाणां मध्ये वर्तमानस्यावकाशस्य, स्वःपदम् आकर्षणादिबन्धनरहितानां गतिशीलानां उल्कादीनाम् उपलक्षकं विज्ञेयम्।

३. तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय। पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः (निरु०

अस्याग्नेः प्रादुर्भावात् महदण्डस्था ग्रहोपग्रहा यदा स्वस्वरूपधारणे समर्था अभूवन् तदाऽयं महदण्डोऽग्नेस्तापेन सहस्रांशुसमप्रभोऽभूद् अर्थात् हिरण्यमयोऽभूत् । इदमेवाग्नितत्त्वं सृष्टेरुत्पत्तौ स्थितौ च अतितरां कारणं भवति । सर्वे देवा अनेनैवानुप्राणिता भवन्ति । अत एव ऋग्वेदेऽभिहितम्—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।
स देवाँ एह वक्षति ॥१।१।२॥

अर्थाद् अग्नेः पूर्वमुत्पन्ना ऋषयः प्राणस्वरूपा भौतिकशक्तय उत नूतना अग्नेः पश्चादुत्पन्ना ऋषयोऽमुमग्निमेव स्तुवन्ति तदनुकूलम् आचरन्ति । स एवाग्निः सर्वानपि देवान् भौतिकान् तत्त्वान् सर्गाय यथास्थानं वक्षति=प्रापयति । यथावन्निर्माणाय प्रयतत इति ।

वायुपशोरालभनं तेन यजनं च

यजुषः त्रयोविंशस्याध्यायस्य सप्तदशे मन्त्रे पठ्यते—**वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त** । अस्मिन् मन्त्रे सृष्टियज्ञे वायुपशुना यजनमुक्तम् । वायुपशोः प्रथममालभनं महदण्डे सौरमण्डलस्य अङ्गप्रत्यङ्गरूपाणां भागानां निर्माणाय यथास्थानं प्रापणायाभूत् । यथा गर्भे एक एव प्राणवायुः दशधा विभक्तः सन् शरीरावयवानां निर्माणे सहयोगं ददाति, तथैव महदण्डेऽपि ग्रहोपग्रहाणां निर्माणाय पार्थक्याय च एक एव वायुरनेकधा विभज्य सहभावमापद्यते । अत एव ऋग्वेद उक्तम्—

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः ।
तेषां पाहि श्रुधि हवम् ॥ १।२।१॥

सर्गायोन्मुखीभूता भौतिकशक्तयो ब्रुवन्ति—हे दर्शत ! दर्शनीयवायो त्वमायाहि । त्वदर्थमिमे सोमाः सर्जनसमर्थानि तत्त्वानि अलंकृतानि सन्ति, तेषां पाहि तानि स्वान्तरे संगृहाण । अस्मदीयं हवं हवनीयं यजनीयं वचनं शृणु श्रुत्वा च सर्गाय प्रवृत्तो भव । [अत्र 'अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारा भवन्ति' इति न्यायेनाचेतनस्यापि वायोः संबोधनं द्रष्टव्यम्] ।

वायु-पशोः पुनरालम्भनम्—जगतः सर्गकाले स्थितिकाले चाधिदैविकाः पशुयागाः प्रवर्तन्त एवेत्युक्तं प्राक् । वायुपशोः सर्गानन्तरमेकधा पुनरालभनम-

७।२८) । पृथिव्यां ज्वलनरूपेण, अन्तरिक्षे विद्युद्रूपेण, दिवि सूर्यरूपेणेति भावः ।

भूत् । पृथिव्या दिवश्चान्तराले यो वायुरासीत् स कार्यभेदेन स्थानभेदेम वा(=सप्त परिवहभेदेन सप्ताकाशभेदेन वा) सप्तधा विभक्तः। अनन्तरं प्रतिविभागं (=प्रतिपरिवहं) वर्तमानो वायुः पुनः सप्तविभागेषु विभागमलभत। एते एकोनपञ्चाशद्विभागेषु विभक्ता वायवः (७×७=४९) मरुन्नाम्ना वैदिक-वाङ्मये प्रसिद्धाः—सप्त-सप्त हि मरुतां गणाः। शत० ९।३।१।२५॥

सूर्यपशोरालभनं तेन यजनं च

यजुषस्त्रयोविंशेऽध्याये सप्तदशे मन्त्रे श्रूयते—सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त इति। सूर्योऽत्रादित्यः। महदण्डस्य प्रभेदे यदा तदन्तर्गता ग्रहोपग्रहाः पक्षिणां शावका इव बहिर्निर्गताः, तदा इमे सर्वे लोकाः समीपमासन्। शनैः शनैरेते परस्परतो दूरं गताः। पृथिव्या आदित्यस्य च यत्सामीप्यमासीत् तस्य वर्णनं मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च बहुत्रोपलभ्यते[1]। कालान्तरे आदित्योऽग्नेः प्रबलस्य च वायोः सहयोगेन दोलेव पृथिव्या दूरं गतः। अत्रान्तरे स आदित्योऽनेकवारं दोलेव पृथिव्याः समीपमागतो दूरं च गतः। तैत्तिरीयसंहितानुसारं त्रिवार-मित्थमभवत्, अन्ते च आदित्यः स्वस्थाने स्थितिमलभत[2]। आदित्यस्य इत्थं सरणेन (=दूरं गमनेन) एवादित्यः सूर्यनाम्ना प्रसिद्धिं गतः—सूर्यः सरतेर्वा (निरु० १२।१४)।

इत्थं यदा सूर्यः स्वस्थाने स्थितिमलभत, तदनन्तरं यथा विलीनस्य लोह-स्योपरि कृष्णवर्णं किट्टं समुत्पद्यते, तथैव सूर्यस्य जाज्वल्यमाने भागे किट्टं समुदपद्यत। तेन सूर्यस्य प्रकाशोऽवरुद्धोऽभूत्। तैत्तिरीयसंहितानुसारं सूर्यस्येयम-वस्था स्वर्भानु[3]नाम्नाऽसुरेणोत्पादिता। तदुक्तम्—स्वर्भानुरासुरः सूर्यं तमसा-

---

१. 'जामी सयोनी मिथुना समोकसा' ऋ० १।१५९।४॥ 'द्यावापृथिवी सहास्ताम्'। तै० सं० ५।२।३।३; तै० ब्रा० १।१।३।२॥ 'सह हैवेमावग्रे लोका आसतुः'। शत० ७।१।२।२३॥

२. आदित्या वा अस्माल्लोकादमुं लोकमायन्, तेऽमुष्मिँल्लोके व्यतृष्यन्त, इमं लोकं पुनरभ्यवेत्य···सुवर्गं लोकमायन्। तै० सं० १।५।४।४-५॥ आदित्यो वा अस्माल्लोकादमुं लोकमैत्, सोऽमुं लोकं गत्वा पुनरिमं लोकमभ्यध्यायत्··· सोऽग्निमस्तौत्। स एनं स्तुतः सुवर्गं लोकमगमयत्। तै० सं० १।५।९।४॥ अग्नेः स्तुत्या सूर्यस्य स्वर्गमनविषये दूरगमनविषये वा द्रष्टव्यम्—तै० सं० २।५।८।१-२; ५।१।५।८॥ शत० ब्रा० १।४।१।२२॥

३. स्वः सूर्यस्य भां प्रभां नुदति अपसारयति इति स्वर्भानुः (द्र०—सायण-

ऽविध्यत् (२।१।२।२)। सूर्यस्योपरि यन्मलं प्रादुर्भूतमासीत् तं दोषं दैव्यः शक्तयः चतुश्चरणेषु अपाकर्षुः। तदुक्तम्।

'तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिमैच्छन्। तस्य यत् प्रथमं तमोऽपाघ्नन् सा कृष्णाऽविरभवत्, यद् द्वितीयं सा फल्गुनी, यत् तृतीयं सा बलक्षी, यदध्यस्थाद् अपाकृन्तन् साऽविर्वशा समभवत्' । तै० सं० २।१।२।२॥

[एत्सदृश एव पाठो मैत्रायणीसंहितायां (२।५।२) काठकसंहितायां (१२।१३) चोपलभ्यते]।

अस्यायमभिप्रायः—स्वर्भानुनामासुरो यदा सूर्यं तमसाऽऽच्छादयत् तदा देवास्तस्यावरणस्य प्रायश्चित्तिम् (=दोषनिवृत्तिम्) ऐच्छन्। ते देवा यदा प्रथमवारं तमोऽपाघ्नन् तदा कृष्णवर्णा अविरभूत्, यदा द्वितीयवारं तमोऽपाघ्नन् तदा रक्तवर्णा[1]ऽविरभूत्, यदा तृतीयवारं तमोऽपाघ्नन् तदा श्वेतवर्णा (=धूसरवर्णा) अविरभूत्, यदा चतुर्थवारं सूर्यस्य अस्थ्न उपरिष्टात्[2] तमोऽपाघ्नन् तदा वशा अविरभूत्।

प्रकृते स्वर्भानुनाम्नासुरेण सूर्ये तमस आरोपणं, तस्यापाकरणम्, अपाकरणेन कृष्णादिवर्णवत्यवीनां प्रादुर्भाव इत्यादि यदुक्तं तदालङ्कारिकं वर्णनं ज्ञेयम्। अत्र सर्गावस्थायां सूर्यस्योपरि प्रादुर्भूतानाम् आवरकरूपाणां किट्टानामनेकधा अपाकरणस्य निर्देश एव तात्पर्यं द्रष्टव्यम्। सूर्ये सम्प्रत्यपि कृष्णवर्णाः पृषत्यो विद्यमानाः सन्ति।[3]

प्रकृते वचने यस्या अवेः प्रादुर्भाव उक्तः, सा न चतुष्पदा प्राणिविशेषा, अपि तु पृथिव्येव ज्ञेया।

भाष्यमत्रस्थम्)। आसुरः=असुर एवासुरः, प्रज्ञादित्वाद् (अष्टा० ५।४।३८) अण्। असुरस्यापत्यमासुरः, शिवादित्वाद् (अष्टा० ४।१।१२) अण् इति भट्टभास्करः।

१. फल्गुनी=नीलवर्णेति भट्टभास्करः, लोहितवर्णेति सायणः। मैत्रायणसंहितायां (२।५।२) फल्गुनीस्थाने 'लोहिनी' पठ्यते।

२. अध्यस्थात् अस्थिभ्यः।········अध्यस्थादिति विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव इति भट्टभास्करः। मैत्रायणसंहितायाम् (२।५।२) 'अध्यस्तात्' पाठः।

३. 'असावेव संवत्सरो योऽसौ तपति। तस्य यद् भाति तत् संवत्, यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं तत्सर इत्यधिदैवतम् इति। जै० ब्रा० २।२८॥

सूर्यस्य प्रकाशावरोधकं यदावरणमासीत् तदत्यन्तं घनीभूतमासीत् । तदवस्थायां प्रकाशस्य सर्वथाभावात् पृथिव्यादिलोका दृश्यावस्थायां नासन् अर्थादन्धे तमसि वर्तमाना आसन् । प्रथमवारं यदा किञ्चित् सूर्यस्यावरणं नष्टं तदाऽत्यन्तं क्षीणप्रकाशत्वात् पृथिव्यादयो लोकाः कृष्णवर्णरूपेण दृश्या अजायन्त । द्वितीयवारं यदा पुनः किञ्चिदावरणं दूरीभूतं तदा सूर्याद् यः प्रकाशो दृश्यतां गतः स रक्तवर्ण इवाभूत्, तेन पृथिव्यादयो लोका अपि रक्तवर्णरूपेण दृश्याः समपद्यन्त । यदा तृतीयवारं पुनः किञ्चिदावरणम् अपगतं तदा प्रकाशस्य मात्राया आधिक्यात् पृथिव्यादयो लोकाः श्वेतवर्णत्वेन=धूसरवर्णत्वेन दृश्या अभूवन् । यदा चतुर्थवारम् अवशिष्टं सर्वमावरकं विनष्टं तदेयम् अविः= पृथिवी वशा आसीत् । वशाशब्दस्यार्थोऽनुपदमेव **'वशाया अवेरालभनम्'** इति प्रकरणे वक्ष्यते ।

यद्यप्यस्मिन् काले प्राणिजगन्नासीद् अतः पृथिव्या उक्तानां विभिन्नस्थितीनां द्रष्टाऽपि कश्चिन्नासीत् । अत्र उक्तवचने याः पृथिव्या विशिष्टोपलब्धिदशा वर्णिताः, तास्तादृशोपलब्धिशक्त्यवच्छिन्नपदार्थस्वरूपवर्णनपरा विज्ञेयाः ।

स्वर्भानुनाम्नासुरेण सूर्यस्य तमसाऽऽच्छादनस्य, तमस आवरणस्य अपाकरणस्य च निर्देश ऋग्वेदे (५।४०।५-९)ऽप्युपलभ्यते । अत्र षष्ठे मन्त्रे इन्द्रद्वारा त्रिवारं[1] तमस आवरणस्य दूरीकरणं वर्णितम्,चतुर्थवारम् अत्रिद्वारा । अष्टमे मन्त्रेऽत्रिद्वारा सूर्ये चक्षुषः (=प्रकाशकस्य तेजसः) आधानम्, स्वर्भानोर्मायाया अपाकरणस्योल्लेखोऽस्ति । मन्त्रपाठ इत्थं वर्तते—

अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरपमाया अघुक्षत् ।

जैमिनिब्राह्मणे श्रूयते—**स्वर्भानुरासुर आदित्यं तमसाऽविध्यत् । तद् देवाश्चर्षयश्चाभिषज्यन् । तेऽत्रिमब्रुवन्नृषे त्वमिदमपजहि** (१।८०) इति ।

ऋग्वेदे जैमिनिब्राह्मणे च निर्दिष्टोऽत्रिः किं भौमः (=भूमेः पुत्रः) अग्निरभिप्रेतः ? सूर्यस्य तमसोऽपवारणे भौमाग्नेः कीदृशः सहयोग आसीदिति विचारणीयम् ।

तैत्तिरीयसंहितायाः २।१।२।१; २।१।८।१; २।२।१०।१ इत्यादिषु

---

१. मन्त्रे साक्षात् त्रिवारं तमसोऽपनोदनस्योल्लेखो नास्ति, तथापि **तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः** (ऋ० ५।४०।६) इत्यत्र तुरीयपदनिर्देशाद् अत्रेः पूर्वमिन्द्रेण त्रिवारं तमो दूरीकृतमिति विज्ञायते ।

असावादित्यो न व्यरोचत इत्युक्त्वा तस्य रोचनायानेके निर्देशा उपलभ्यन्ते । एतस्मिन् विषये सायणाचार्येणोक्तम्—'आदित्यविषये बहवः प्रायश्चित्तयः कल्पयुगादिभेदेन व्यवस्थापनीयाः (तै० सं० भाष्य २।१।८) इति ।

वशाया अवेरालभनम्

यद्यपि प्रस्तूयमाणे वशाया अवेरालभनविषये विचारः पुरुषमेधादीनां प्रधानानां पञ्चपशुयागानां प्रकरण एव कर्तुं योग्यस्तथापि सूर्यपशोरालभनप्रकरणे यस्या वशाया अवेः प्रादुर्भाव उक्तः, तस्या आधिभौतिकं स्वरूपमत्यन्तं विस्पष्टमिति कृत्वेहैव वशाया अवेरालभनविषये विचारः क्रियते—

अविर्नाम लोके मेष्याः प्रसिद्धः । अविमेधस्यापि वर्णनं वैदिकग्रन्थेषूपलभ्यते । मेध इति यज्ञनाम । मेधशब्दस्यार्थो व्युत्पत्तिश्च पूर्वमुक्ता (पृष्ठ ६१) ।

पूर्वत्र (पृष्ठ ६५-६६) तैत्तिरीयसंहिताया यद् वचनमुद्धृतम्, तस्मिन् स्वर्भानुनाम्नाऽऽसुरेण आदित्यस्य तमसाऽऽवृतकरणं, तदपाकरणं चोक्तम् । तत्र अस्य उपरिष्टाद् भागात् तमसोऽपाकरणे वशाया अवेः प्रादुर्भावः श्रूयते । तदग्रे तैत्तिरीयसंहितायामित्थं पठ्यते—

साविर्वशा समभवत् । ते देवा अब्रुवन् देवपशुर्वा अयं समभूत् । कस्मा इममालप्स्यामह इति । अथ वै तर्ह्यल्पा पृथिव्यासीत् । अजाता ओषधयः । तामविं वशामादित्येभ्यः कामायाऽलभन्त, ततो वा अप्रथत पृथिवी, अजायन्त ओषधयः । तै० सं० २।१।२।३।।

अस्मिन् वचने प्रादुर्भूताया वशाया अवेर्देवपशुत्वमुक्तम् । तदानीमेषा पृथिव्यल्पाऽऽसीत् । अस्या उपरि ओषधीनामुत्पत्तिर्नभूत् । तां तथाभूतां पृथिवीं 'तामविं वशामादित्येभ्यः कामायालभन्त,' ततः साऽविः (=अल्पा पृथिवी) प्रथनात् पृथिवी बभूव । ओषधीनां प्रादुर्भावाच्च तस्या वशात्वमपगतम् ।

मैत्रायणसंहितायाम् इत्थं श्रूयते—

अथवा इयं तर्हृक्षाऽऽसीद् अलोमिका । ते अब्रुवन् तस्मै कामायालभामहै, यथाऽस्यामोषधयो वनस्पतयश्च जायन्ता ।। मै० सं० २।५।२।।

अस्मिन् पाठे पृथिवी 'ऋक्षा अलोमिका' उक्ता, तस्या उपरि वनस्पतीनामोषधीनां च प्रादुर्भावकामनया तस्या आलभनमुक्तम् ।

यद्यप्युभौ पाठौ समानार्थकौ प्रतीयेते, तथापि सूक्ष्मेक्षिकया दर्शनेऽनयोः स्वल्पो भेदोऽवगम्यते । स च भेदः **'ऋक्षा, ओषधयः, वनस्पतयः' पदैः** प्रकटी भवति । तैत्तिरीयसंहितायां **'वशा'** इत्युक्तम् । तस्यायं भावस्तदानीं पृथिव्या उपरि घास-तृणादीनामपि प्रादुर्भावो नैवाभूत् । यदा घास-तृणादयः समुत्पन्ना तदा सा पृथिवी लोमिका=रोमवती अजनि । ओषधीनां लक्षणम् **ओषध्यः फल-पाकान्ताः** इत्युक्तम् । अर्थाद् याः फलपाकानन्तरं स्वयं नश्यन्ति ता ओषधय उच्यन्ते । एतल्लक्षणानुसारेण घास-तृणादीनामपि ओषधिष्वेवान्तर्भावो भवति । यदेयं पृथिवी घास-तृणादिभिः संपूरिता तदेयम् **ऋक्षा** अभवत् । 'ऋक्ष'शब्दो लोके 'भालू'नामके हिंस्रे पशौ प्रसिद्धः। तस्य समस्तेष्वङ्गेषु दीर्घाणि लोमानि भवन्ति। तत्सादृश्यात् तादृशी पृथिवी 'ऋक्षा' उक्ता । फलवन्तो वृक्षा वनस्पतय उच्यन्ते —**फली वनस्पतिर्ज्ञेयः** इति । यदेयं पृथिवी **ऋक्षा** आसीत् तदानीं वनस्पतीनां प्रादुर्भावो नैवाभूत् । ऋक्षावस्थायाः पृथिव्या उपरि वनस्पतीनां प्रादुर्भावो-ऽभूत् । एवं पृथिव्या अलोमिका=तृणादिरहिता, सलोमिका=तृणादियुता ये द्वे अवस्थे निर्दिष्टे, तयोः प्रथमावस्था तैत्तिरीयसंहितायां वशाशब्देन वर्णिता, द्वितीयावस्था च मैत्रायणसंहितायां ऋक्षाशब्देन । जैमिनिब्राह्मणे द्वे अप्यवस्थे एकीकृत्योक्ते—**ओषधिवनस्पतयो वा लोमानि** (२।५४)इति ।

अजा वशा—तैत्तिरीयसंहितायां वशारूपाया अजाया यागस्य वर्णनमुपलभ्यते —**सा वा एषा सर्वदेवत्या यदजा वशा, वायव्यामालभेत भूतिकामः** (३।४। ३।२) इति ।

वशा अविः, वशा अजा—अनयोर्भेदः—'वशा अविः' शब्दाभ्यां पृथिव्याः साऽवस्था उक्ता यदेयं पृथिवी पिलिप्पिला (=पिलपिली) अभूत्—**अवि-रासीत् पिलिप्पिला** (यजुः २०।१२) इति । तदानीम् ओषधीनां प्रादुर्भावाभा-वात् सा वशा=वन्ध्याऽऽसीत् । 'वशा अजा' शब्दाभ्यां पृथिव्याः साऽवस्था वर्णिता यदेयं दृंहिता सती स्वकक्षायां अजा=[1]गतिमत्यभूत् । तस्यामवस्थाया-मपि ओषधीनां प्रादुर्भावाभावात् सा वशैवाऽभूत् ।

अवेरनेकवारम् आलभनम्

तैत्तिरीयमैत्रायणसंहितयोर्यौ पाठौ पुरस्तादुद्धृतौ, तयोर्वशाया **अवेः ऋक्षा-**याश्चावेर्द्विवारमालभनमुक्तम् । यदेयं पृथिवी वशा अविरासीत् तदेयम् **अवि-रासीत् पिलिप्पिला** (यजुः २०।१२) वचनानुसारं पिलिप्पिला (पिलपिली)

---

१. 'अज गतिक्षेपणयोः' (धातु० १।१३९) ।

अकठोराऽऽसीत् । यदेयं पृथिवी ऋक्षा अविरूपाऽऽसीत्, तदानीमस्या उपरि ओषधिरूपाणि लोमान्युत्पन्नानि । अत एवेयं यजुषि (१३।५०) ऊर्णायुशब्देनोक्ता ।

अस्या वशाविरूपायाः पृथिव्या अनेकवारमालभनमभूत् । यजुषस्त्रयोदशाध्यायस्य सप्तदशे मन्त्रे भूः, भूमिः, अदितिः, विश्वधा, पृथिवी पदैः पृथिव्याः पञ्च विभिन्ना अवस्था वर्णिताः । पृथिव्यवस्थानन्तरमस्यां दृंहणमभूत्—पृथिवीं दृंह (यजुः १३।१८) पृथिव्यां दृंहणं शर्करोत्पत्यनन्तरमजायत । अत एवोक्तम्—

'शिथिरा वा इयमग्र आसीत् तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत्' ।

मै० स० १।६।३॥

'आर्द्रेव हीयमासीत् तां देवाश्शर्कराभिरदृंहन् तेचोऽग्ना अवदधुः' ।

काठक सं० ८।२॥

सलिलावस्थात आरभ्य पृथिव्यां सुवर्णोत्पत्तिपर्यन्तमस्या नववारमालभनमभूत् । पृथिव्या विभिन्नावस्थानां प्रक्रिया याज्ञिकग्रन्थेषु वेदिनिर्माणप्रक्रियया निर्दशिता । एतद्विषयेऽस्माभिः पूर्वत्र (पृष्ठ १६-२३) विस्तरेणोक्तम् ।

प्रसिद्धाः पशुयागाः

वैदिकवाङ्मये पुरुषमेध-अश्वमेध-गोमेध-अविमेध-अजमेधाख्याः पञ्च पशुयागा वर्णिता उपलभ्यन्ते । सम्प्रति एषां पशुयागानां सम्बन्धे विचार्यते—एते पशुयागाः किंस्वरूपाः ? पुरुषमेधादिषु निर्दिष्टाः पुरुषादयः पशवः प्राणिविशेषा एवाभिप्रेता उतैते सृष्टियज्ञे वर्तमानानां केषांचिद् आधिदैविकपदार्थानां प्रतिनिधिभूताः ? अपि च, किं पुरुषमेधादिषु द्रव्ययज्ञेषु पुरुषादीनां वधोऽभिप्रेतः ?

उक्तविषयेषु विचारात् पूर्वं पुरुषादिप्राणिनां सम्बन्धे वेदेषु किमुक्तमित्यस्य निदर्शनं संक्षेपेण प्रस्तूयते—

यज्ञीयानां पुरुषादीनां पञ्चपशूनां सम्बन्धे वैदिकी चोदना

अथर्ववेदे गवाश्वपुरुषा न केवलमहिंस्या एवोक्ता अपितु यस्तेषां वधकस्तस्य वधोऽप्यादिष्टः । तदुक्तम्—

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि वा पूरुषम् ।

तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥ अथर्व० १।१६।४॥

शुक्लयजुषस्त्रयोदशाध्यायेऽपि पुरुष-अश्व-गो-अविरूपाणां पशूनां हिंसा प्रतिषिद्धा । अत्र इदमपि ध्येयम्—यजुषोऽयमध्यायो याज्ञिकानां मतेऽग्निचयने विनियुक्तः । तथाहि—

इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुं सहस्राक्षो मेधाय चीयमानः । यजुः १३।४७॥

अश्वं जज्ञानं सरिरस्य मध्ये ।.........अग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् । यजुः १३।४२॥

इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु । यजुः १३।४८॥

गां मा हिंसीरदितिं विराजम् । यजुः १३।४३॥

इमं साहस्रं शतधारमुत्सं......। घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥ यजुः १३।४९॥

अविं जज्ञानां......अग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥ १३।४४॥

इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम् ।

त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ।।यजुः १३।५०।

एतैर्वेदप्रमाणैरिदं सुव्यक्तं भवति यद् वेदेषु पुरुषादीनां पशूनां हिंसा सर्वथा वर्जिताऽस्ति ।

सम्प्रति पुरुषमेधादियागानां सम्बन्धे क्रमशो विचारः क्रियते ।

पुरुषमेधे पुरुषालभनम्

शुक्लयजुषस्त्रिशैकत्रिंशावध्यायौ पुरुषमेधे विनियुक्तौ स्तः । त्रिंशत्तमस्याऽऽरम्भिकाश्चत्वारो मन्त्राः सवितृदेवताकाः सन्ति । तेष्वाद्यैस्त्रिभिर्मन्त्रैस्तिस्रो घृताहुतयो विहिताः सन्ति । तदनन्तरम् पञ्चमकण्डिकात आरम्भ द्वाविंशतिकण्डिकापर्यन्तं विभिन्नकार्यकर्तॄणां विभिन्नाकारवतां च पुरुषाणां वर्णनमुपलभ्यते । अत्राऽऽहत्य चतुरशीत्युत्तरशतं पुरुषाः परिगणिताः । अत्र ब्राह्मण-राजन्यादयः पुरुषविशेषा द्वितीयविभक्त्यन्ताः पठ्यन्ते, तद्देवताश्च (याज्ञिकानां मतेन) चतुर्थ्यन्ताः[1] । आलभते क्रिया द्वाविंशत्यां कण्डिकायां निर्दिश्यते, तस्याः प्रतिवाक्यं सम्बन्धो भवति[2]—**ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते, क्षत्राय राजन्यमा-**

---

१. चतुर्थ्यन्ता देवताः, द्वितीयान्ताः पशवः । भट्टभास्करः तै० ब्रा० भाष्यम् ३।४।१ इत्यस्यारम्भे ।

२. तै० ब्राह्मणे (३।४।१-१९) अपीदं प्रकरणं पठ्यते । तत्र आलभते

लभते इत्येवमादि । श्रौतसूत्रेषु एषा चतुरशीत्युत्तरशतं पुरुषपशूनां यूपेषु बन्धनं निर्दिश्यते ।

ब्रह्मा यूपेषु नियुक्तान् पुरुषपशून् सहस्रशीर्षा इत्यनुवाकेन (यजुः अ० ३१। १-१६) स्तुत्वा अश्वमेधे यथा कपिञ्जलादीनाम् आरण्यानां पशुपक्षिणाम् उत्सर्जनमुक्तं (कात्या० श्रौत २०।६।६) तथैव ब्राह्मणादयोऽप्युत्सृज्यन्ते । तदुक्तम्—

नियुक्तान् ब्रह्माभिष्टौति होतृवदनुवाकेन सहस्रशीर्षेति ।
कपिञ्जलादिवद् उत्सृजन्ति ब्राह्मणादीन्[1] ॥
कात्या० श्रौत २१।१।११-१२॥

ब्राह्मणादीनाम् उत्सर्जने कृते यस्य पुरुषस्य या देवता मन्त्रे उक्ता तस्यै सकृद्गृहीतेनाज्येन यजन्ति । यथा ब्रह्मणे स्वाहा क्षत्राय स्वाहा । एता देवता आज्याहुतिभिरेव तृप्यन्ति इत्यप्युक्तम्—

तान् पर्यग्निकृतानेवोदसृजत् । तद्देवत्या आहुतिरजुहोत्, ताभिस्ता देवता अप्रीणात् । ता एनं प्रीता अपृणन् सर्वैः कामैः । शत० ब्रा० १३।६।२।१३॥

एता आज्याहुतय एकादशानाम् अनुबन्ध्यानां गवां यजनं कृत्वा[2] स्विष्टकृदाहुतेः पूर्वं दीयन्ते (द्र०—कात्या० श्रौत २१।१।१६) ।

पुरुषमेधस्यैकत्रिंशेऽध्याये निर्दिष्टो विराट् पुरुषः आधिदैवते (=सृष्टियज्ञे) महदण्डो वर्तते, अध्यात्मे च परमपुरुषो नारायणः ।

सम्प्रतीह पुरुषमेधस्य सम्बन्धे केचिद् विचारणीया विषयाः प्रस्तूयन्ते—

पुरुषमेधस्य प्रयोजनम्—कात्यायनश्रौतसूत्रे (२१।१।१) पुरुषमेधस्य प्रयोजनमित्थं निर्दिश्यते—**पुरुषमेधस्त्रयोविंशतिदीक्षोऽतिष्ठाकामस्य**[3] । अस्यायमर्थः—सर्वाणि भूतान्यतिक्रम्य तिष्ठत इत्यतिष्ठाः,तां कामयते इत्यतिष्ठाकामः। तस्य त्रयोविंशतिदीक्षो द्वादशोपसत्कः पञ्चसुत्यः, एवं चत्वारिंशदहोरात्रसाध्यः पुरुषमेधसंज्ञको यज्ञो भवति ।[4]

क्रियापदं प्रथमवाक्य एव पठ्यते—ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते……। एतत्पाठानुसारेण आलभते क्रियायाः प्रतिवाक्यमनुषङ्गो ज्ञेयः ।

१. द्र०—शत० ब्रा० १३।६।२।१३॥

२. द्र०—शत० ब्रा० १३।६।२।१६॥

३. द्र०—शत० ब्रा० १३।६।१।१॥

४. द्रष्टव्या उक्तसूत्रस्य विद्याधरीया व्याख्या ।

पुरुषमेधानन्तरम् अरण्य प्रव्रजनम्—कात्यायनश्रौतसूत्र पुरुषमेधं विधायान्ते श्रूयते—

त्रैधातव्यन्ते समारोह्यात्मन्नग्नी सूर्यमुपस्थायाद्भ्यः सम्भूत इत्यनुवाकेनानपेक्षमाणोऽरण्यं गत्वा न प्रत्येयात् । ग्रामे वा विवसन्नरण्योः । कात्या० श्रौत २१।१।१७-१८।।

अनयोः सूत्रयोरयमभिप्रायः—त्रैधातवीमिष्टि (कात्या० श्रौत १३।७।८) कृत्वा आत्मनि स्वशरीरेऽग्नी समारोप्य=ऊष्माणमास्ये कोष्ठे वा प्रवेश्य सूर्यमुपस्थाय पश्चादनवलोकयन् अरण्यं गत्वा ग्रामं नागच्छेत् । अथवा ग्राम एव वास करिष्यन् अरण्योरेवाग्नी समारोप्य सूर्ममुपस्थाय ग्रामं प्रत्यागच्छेत् (शत० १३।६।२।२०) ।

एवं पुरुषमेधानन्तरं अरण्ये प्रव्रजनम्, ग्रामं वा प्रतिनिवर्तनं द्वे पक्षे विहिते स्तः । केचन अरण्येप्रव्रजनस्य संन्यासं गृह्णीयादित्यर्थं मन्यन्ते । अत एव महीधर आह—**पुरुषमेधानन्तरं संन्यास एव** (यजुः महीधरभाष्य ३०।२२) ।

अत्रेदमप्यवधेयम्—**पुरुषमेधस्यारम्भे सूर्यदेवताको होमो विहितः, अन्ते च सूर्योपस्थानम्** (द्र०—कात्या० श्रौत २१।१।६,१७) ।

पुरुषमेधे विनियुक्तयोः ३०-३१ तमयोरध्याययोर्ऋषि-देवताः—यजुर्वेदस्य ३०-३१ तमयोरध्याययोर्ऋषिर्नारायणः । त्रिंशत्तमस्याध्यायस्य आद्यानां चतुर्णां (१-४) मन्त्राणां देवता सविता, ब्रह्मक्षत्रादयः चतुर्थ्यन्ता देवताः । उव्वटस्य मतानुसारेण एकत्रिंशत्तमाध्यायस्य **ऋषिर्नारायणः[१] पुरुषो देवता, १-२१ अनुष्टुप् छन्दः, २२ त्रिष्टुप्छन्दः । मोक्षे चास्य विनियोगः** । अस्याध्यायस्यारम्भे उव्वट आह—**अस्य भाष्यं शौनको नाम ऋषिरकरोत् ।......सर्वमेतज्जनकाय मोक्षार्थं कथयामास ।[२]**

पुरुषमेधस्य निर्वचनम्—शतपथब्राह्मणे पुरुषमेधस्य निर्वचनमित्थमुपलभ्यते—

'इमे वै लोकाः पूः, अयमेव पुरुषो योऽयं पवते । सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात्

---

१. पुरुषो ह नारायणोऽकामयत.........स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत् (शत० ब्रा० १३।६।१।१) । अयं नारायणोऽधिदैवे आदित्यो वायुर्वा, अध्यात्मे परमपुरुषः, शारीरपुरुषो वा ।

२. अयं पाठो मुम्बइस्थे निर्णयसागरयन्त्रालये मुद्रितो वर्तते ।

पुरुषः । यदेषु लोकेष्वन्नं तदस्यान्नं मेधः । तद्यदस्यैतदन्नं मेधस्तस्मात् पुरुषमेधः । अथो यदस्मिन् मेध्यान् पुरुषानालभते तस्मादेव पुरुषमेधः ।' १३।६।२।१।।

अस्यायमभिप्रायः—इमे पृथिव्यादयो लोका एव पूः (=शरीरम्), स एव पुरुषो योऽयं पवते [योऽयमादित्यः] । स एवास्मिन् पुरि शेते तस्मात् पुरुषः । यदेषु लोकेष्वन्नम्=अदनीयं भक्षणीयं रसरूपम्, तदेव तस्य पुरुषस्य=आदित्यस्यान्नं (=भक्षणीयो रसः) मेधः (=सारः) । तस्मात् पुरुषमेधः । अथो (=अधियज्ञपक्षे) यदस्मिन् यज्ञे मेध्यान् पुरुषान् आलभते, तस्मादेव पुरुषमेधः ।

अनया संक्षिप्तविवेचनया स्पष्टमिदं भवति यत् पुरुषमेधे पुरुषा न वध्यन्ते, कर्मणः समाप्तेः पूर्वमेव त उत्सृज्यन्ते । यतः पुरुषमेधस्य विधानं सर्वोत्कर्षप्राप्त्यर्थं क्रियते, अतोऽस्मिन् यज्ञे ते सर्वेऽपि पुरुषा एकत्रीक्रियन्ते, ये यत्कार्यार्थं लोके प्रसिद्धा वर्तन्ते । पुरुषमेधस्य यजमानः स्वात्मानं लौकिकपुरुषाणामपेक्षया अतिष्ठापयेद् इति भावनया तुलनार्थम् अथवा विविधपुरुषाणां चरित्रविज्ञानार्थं चतुरशीत्युत्तरशतं पुरुषान् एकत्री करोति,तथा पुरुषमेधानन्तरं तेभ्योऽतिष्ठानाय अरण्ये गत्वा तपश्चरति, परिव्रजति वा । यदि यजमानस्य शारीरिकी स्थितिररण्यगमनयोग्या परिव्रजनयोया वा न भवति चेत् स्वग्रामे निवसन्नेव तपश्चर्यया स्वात्मानमुत्कर्षाय प्रयतेत । अस्यैव पक्षस्य मनुस्मृतौ वेदसंन्यासनाम्नानिर्देश उपलभ्यते । तदुक्तम्—

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषान् अपानुदन् ।
नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत् ।। मनु० ६।९५।।

अनुबन्ध्याया गोरालभनम्—पुरुषमेधे अनुबन्ध्याया गोरालभनमुक्तम् । सा अनुबन्ध्या गौर्वर्तते अफला अपुष्पा वाक्—

अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् । ऋ०१०।७१।१५।

अस्य व्याख्यानं निरुक्तकारेण यास्केनैवं विहितम्—

"अधेन्वा ह्येष चरति मायया वाक्प्रतिरूपया । नास्मै कामान् दुग्धे वाग्दोह्यान् देवमनुष्यस्थानेषु । यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामिति । अफलास्मा अपुष्पा वाग्भवतीति । निरुक्त १।२०।।

अत्र यास्केन वैदिकवाचः फले क्रमशो याज्ञदैवते, देवताध्यात्मे वेत्युक्तम् । इममेवमभिप्रायं प्रकारान्तरेण अपरा ऋगेवं वदति—

ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥
ऋ० १।१६४।३९॥

शतपथब्राह्मणे (१४।७।२।२३) ऽप्युक्तम्—

नानुध्यायान् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् । अस्याभिप्रायं सायण एवमाह—यदप्यसौ काव्यनाटकं शृणोति तथापि निरर्थकमेव तच्छ्रवणम्, तेन सुकृतमार्गज्ञानाभावात् ।[1]

आधिदैविकपक्षे—गोशब्दः सूर्यस्य, तदीयरश्मीणां, पृथिव्या (= स्वयमप्रकाशितलोकानाम्) दीनामनेकेषां पदार्थानां नाम वर्तते । याज्ञिकग्रन्थेषु वशाया एव गोरालभनं निर्दिश्यते । अयमेको रहस्यमयः संकेतो वर्तते । वन्ध्या गौः सन्तर्ति दुग्धं च नैव ददाति । अतः सानुपयोगिनीव भवति । आधिदैविकपक्षे स्वर्भानुनाऽसुरेण (=प्रकाशकावरोधकेन मलेन) विद्ध आदित्य एव वशा गौरस्ति । सर्गारम्भे तमालम्य दैवीभिः शक्तिभिः सूर्यः प्रकाशमानः कृतः । सूर्यस्य रश्मयोऽपि यदा वर्षाकाले मेघैराच्छादिता भवन्ति तदा ते अपि वशा गावो भवन्ति । अन्तरिक्षस्था देवगणाः सूर्यरश्मीणां वन्ध्यात्वदोषनिवारणाय मेघान् विच्छिद्य तान् पृथिवीं प्रापय्य ओषधिवनस्पतीनां प्रजननाय पाकाय च समर्थान् कुर्वन्ति । ऊषरभूमिरपि वशा गौः, यतः तस्यां धान्यादिकं न किमपि उत्पद्यते । कृषको गोमयादिरूपं खाद्यं तस्यां निपात्य ऊषररूपं वन्ध्यात्वकारणं निवारयति । इत्थमेव यज्ञेषु यत्रापि वशाया गोरालभनस्य निर्देशो वर्तते तत्र चिकित्सया गवां वशात्वधर्मस्य निवृत्तिरेव प्रयोजनं भवितुमर्हति ।

वानप्रस्थसंन्यासाश्रमयोर्विधानस्य इदमेव प्रयोजनं यद् ब्रह्मचर्यगृहस्थाश्रमयोर्यत् पठितं यदाचरितं यदनुभूतं तस्य निदिध्यासनपूर्वकसाक्षात्कारं कुर्यात् । आत्मसाक्षात्कार एव मनुष्यजीवनस्यान्तिमसोपानं वर्तते । यमारुह्य मानवजीवनं कृतकृत्यं सम्पद्यते । इदमेव हि पुरुषमेधयज्ञस्य लक्ष्यम् । अत एव पुरुषाध्यायस्य विनियोगः शौनकाचार्येण मोक्षे विहितः (द्र०—पृ० ७३ उद्धृतम्, उव्वटभाष्यम्) ।

पुरुषमेधे अजानामप्यालम्भनं भवति । तद् विषयेऽग्रेऽजमेधे वक्ष्यामः ।

शतपथकारेण परमब्रह्मिष्ठेन याज्ञवल्क्येन पुरुषमेधप्रकरणस्यारम्भे (श०

---

१. द्रष्टव्या—सायणीय-ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिका, वेदभाष्य-भूमिका-संग्रहः, पृष्ठम्—३९, काशी, संवत् १९९१ ।

१३।६।१।१-११) एव पुरुषमेधस्य आधिदैविकाध्यात्मिकस्वरूपं निरूपितम्, तदनन्तरं च याज्ञिकप्रक्रिया वर्णिता। एतेन पुरुषमेधयागस्य आधिदैविकजगतः आध्यात्मिकतत्त्वस्य च व्याख्याने तात्पर्यमिति स्पष्टं विज्ञायते। पुरुषमेधानन्तरम् अरण्यवासस्य निर्देशो (शत० १३।६।२।२०) ऽपि अस्यार्थस्यैव सम्पोषकः।

अधिदैवतं सृष्टियज्ञो वा—अधिदैवतपक्षे नारायण आदित्यः पुरुषः, इमे लोका एव च तस्य मेधाः (शत० १३।६।१।६) समस्तेषु पशुयज्ञेषु पशूनां बन्धनाय यूपो भवति। पुरुषमेधेऽपि पुरुषपशूनां कृते यूप-निर्देश उपलभ्यते। अश्वादिपशूनान्तु यूपे निबन्धनमुचितम्, यतस्ते यज्ञशालातः न पलायेरन्। पुरुषास्तु यथानिर्देशं कार्यकारिणो भवन्ति, अतस्तेषां अन्यपशूनामिव यूपे रज्ज्वादिना बन्धनं नोचितम्। पुरुषमेधस्य आधिदैविकस्वरूपे पुरुषो नारायण आदित्यः, लोकलोकान्तराण्येव तस्य मेधः (=अन्नम्) इत्युक्तम्। अतः सृष्टियज्ञे आदित्यरूपे यूपे तस्य रश्मिरूपिभी रज्जुभिर्लोकलोकान्तराणि बद्धानि सन्ति। अतोऽधियज्ञे पुरुषमेधेऽपि यूपस्य निर्देश उचितः, लोकलोकान्तररूपाणां पुरुषाणां बन्धनमपि। परन्त्विदं बन्धनं नान्यपशूनामिव, अपि तु साङ्केतिकं बन्धनम्। लोके यथा भगिनी रक्षाबन्धनपर्वणि भ्रातुर्हस्ते रक्षारूपं प्रेमसूत्रं बद्ध्वा तं प्रेम्णा बध्नाति, तथैव पुरुषमेधेऽपि पुरुषाणां बन्धनं यूपं निर्दिश्य तत्समीपे उपवेश-मात्रं ज्ञेयम्। अश्वमेधेऽपि कपिञ्जलादीनाम् आरण्यानां यूपान्तराले नियोजनं विहितम्—**कपिञ्जलादीन् पृषतान्तांस्त्रयोदश त्रयोदश यूपान्तरेषु** (का० श्रौ० २०।६।६)। कपिञ्जलादयः कथं नियोजनीया इति विषये महीधर आह—**अत्र यूपान्तरालेष्वारण्यपशूनां बन्धनोपायः उक्तो मानवसूत्रे। नाडीषु प्लुषि-मशकान् करण्डेषु सर्पान् पञ्जरेषु मृगव्याघ्रसिंहान् कुम्भेषु मकरमत्स्यमण्डूकान् जालेषु पक्षिणः कारासु हस्तिनो नौषु चौदकानि यथार्थमितरानिति** (महीधर-भाष्य यजु० २४।२०)।

अश्वमेधस्याश्वः तस्य चालभनम्

पुरुषमेधानन्तरम् अश्वमेधविषये विचार्यते। अस्मिन् क्रतौ याज्ञिकसम्प्र-दायो याज्ञिकप्रक्रियानुसारेण यज्ञीयं अश्वमालभ्य तस्याङ्गैः आहुतिप्रदानं मन्यते। अतः किंरूपोऽश्वमेधः कश्च तस्याश्व इत्यत्र विचारणाऽऽवश्यकी। प्रथमं वयम् अश्वमेधयज्ञस्य कांश्चिन्मुख्यांशान् निदर्शयामः—

अश्वमेधः प्रायेण संवत्सरैकसाध्यं कर्म। अस्य कर्मणोऽधिकारी अभि-षिक्तः सार्वभौमो राजा भवति। फाल्गुनमासस्य शुक्लपक्षस्य अष्टम्या नवम्या,

वा अस्यारम्भः क्रियते (कात्या० श्रौत २०।१।२)। अश्वमेधाय यस्य अश्वस्य वरणं क्रियते, तस्य पूर्वोऽर्धभागः कृष्णः, पश्चात्तनो भागः श्वेतः, ललाटे च शकटाकारं श्वेतं लक्ष्म अपेक्षितम् (द्र०—शत० ब्रा० १३।४।२।४)। अश्वमेधीयाश्वस्य द्वादशारत्निप्रमाणा त्रयोदशारत्निप्रमाणा वा रशना भवति। तां घृतेन अञ्जयन्ति। राज्ञ आभरणादिभिरलङ्कृताश्चतस्रः पत्न्यः (=महिषी= प्रथमपरिणीता, वावाता=वल्लभा, परिवृक्ता=अवल्लभा, पालागली=दूतपुत्री) सानुचर्यः शतेन शतेन (=४००) यजमानस्य समीपमुपयान्ति (कात्या० श्रौत २०।१।१२) वावातायाः (=वल्लभायाः) पत्न्या उर्वन्तरे शिरः कृत्वा ब्रह्मचर्यं पालयन् राजा रात्रौ शेते (कात्या० श्रौत २०।१।१७)। अश्वमेधीयोऽश्व ईशान्यां दिशि उत्सृजते। तेन सह शस्त्रास्त्रकवचधारिणः शतं राजपुत्राः, शतं क्षत्रियपुत्राः, शतं सूतपुत्राः, शतं क्षतारः (=४००) रक्षिणो अनुयान्ति (कात्या० श्रौत २०।२।१०)। वडवाभ्यः स्नानार्हादुदकादश्ववारणाय आदेशो दीयते (कात्या० श्रौत २०।२।१२,१३)। संवत्सरैकपर्यन्तमश्वं भ्रामयित्वा प्रत्यानयन्ति। मार्गे शस्त्रधारिणो रक्षकास्तमश्वं रक्षन्ति। अस्मिन्नन्तराले यदि कश्चिद् राजा स्वराज्ये भ्रमणं कुर्वन्तमश्वमवरोधते, तर्हि तं युद्धे पराजित्य स्वानुचरं विधायाग्रे प्रयान्ति। इत्थमश्वमेधस्याश्वो यस्य यस्य राज्ये भ्रमति ते सर्वे राजानोऽश्वमेधे उपहारानादायोपतिष्ठन्ति। संवत्सरपर्यन्तं भ्रमणं कृत्वाश्वस्य प्रत्यागमने अश्वमेधस्य अन्यत्कर्म सम्पद्यते। अश्वमेधीयस्याश्वस्य कृत्स्नं शरीरं रज्जुभिः परिवेष्टयन्ति। रज्जूनां पर्यन्तभागैर्विभिन्नदेवताकान् अजादीन् पशून् बध्नन्ति (द्र०—कात्या० श्रौतभूमिका पृष्ठ ६६ विद्याधरटीका)। सप्तविंशत्युत्तरं शतत्रयं ग्राम्याः पशवः, षष्ट्युत्तरद्विशतमारण्याः पशवः, द्वाविंशतिरेकादशिनीपशवः, आहत्य नवोत्तराणि षट्शतानि (६०९) पशवो भवन्ति (द्र०—उव्वटमहीधरभाष्य यजु० २४।४०)। आरण्यानां पशूनामुत्सर्जनं भवति (कात्या० श्रौत २०।६।९), शिष्टा ग्राम्याः पशव आलभ्यन्ते।

अश्वमेधविषये विचारः—सम्प्रति अश्वमेधक्रतोः सम्बन्धे विचार्यते। अश्वमेधस्य कर्मणो ये प्रमुखा अंशाः पुरस्तान् निर्दशिताः तैर्विस्पष्टं भवति यदिदम् आश्वमेधिकं कर्म आधिदैविकस्य जगतः कस्यचित् यज्ञस्य प्रतिरूपकं वर्तते। इह वयम् इदमेव तत्त्वं स्पष्टीकर्तुं प्रयतामहे—

सार्वभौमो राजा—लौकिकेऽश्वमेधे यद्यपि यजमानरूपः सार्वभौमो राजा अश्वश्च पृथक् पृथग् भवतः, तथापि अश्वस्य राज्ञस्तेजसः प्रतीकत्वाद्

उभौ परस्परं सम्बद्धौ स्तः। आधिदैविकेऽश्वमेधे सूर्य एव सार्वभौमो राजा, स एव चाश्वः। अश्वमेधसूक्तेषु (ऋ० १६२, १६३, १६४) क्वचिद् अश्व-शब्देन तत्पर्यायवाचिशब्देन च तत्साहचर्यात् तत्प्रसूतत्वाद्वा सूर्यरश्मीनामपि निर्देश उपलभ्यते।

अश्वः—अश्वमेधीयाश्वस्य यानि लक्षणानि निरूपितानि, तानि आधि-दैविकस्य जगतः सूर्यस्यैव सन्ति। सूर्योदयात् सार्धत्रिघटीपूर्वं (=सार्धघण्टा-पूर्वं) रात्रेः तमो भवति। पूर्वस्यां दिशि शकटाकारा ऊर्ध्वम् आकाशे व्याप्ता उषसः रश्मयो दृश्यन्ते। इदम् अश्वस्य पूर्वतने कृष्णभागः ललाटे च श्वेतं लक्ष्म विज्ञेयम्। उषसोऽनन्तरं सूर्योदये सति प्रकाशो भवति। अयम् अश्वस्यापरो-ऽर्धश्वेतभागः। अग्रेऽग्रे उषःकालयुक्ता रात्रिर्भवति, तदनु च सूर्यस्य प्रकाशः प्रचलति।

अश्वस्य रशना—अश्वस्य रशनायाः परिमाणं द्वादशारत्नयः, त्रयोदशा-रत्नयो वा उक्तम् (अरत्निशब्दः द्वाविंशत्यङ्गुलपरिमाणस्य वाचकः)। सूर्यस्य एकस्मिन् परिक्रमणे चन्द्रमसो द्वादश मासा भवन्ति[1], तृतीयवर्षे मलमासस्या-धिक्ये त्रयोदश मासाः सम्पद्यन्ते[2]। अनयैव द्वादशमासात्मिकया त्रयोदशमासा-त्मिकया वा रशनया बद्धः सूर्यो भवति। अश्वस्य रशनां घृतेन अञ्जन्ति। घृतं नाम दीपकस्य तेजस्विनः पदार्थस्योपलक्षणम्। (घृ क्षरणदीप्त्योः)। सूर्यस्येयं रशना प्रकाशेन दीप्ता तेजस्विनी च भवति।

राज्ञः चतस्रः पत्न्यः—सार्वभौमस्य सूर्यस्य राज्ञः चतस्रः पत्न्य उक्ताः, ताः पूर्वपश्चिमोत्तरदक्षिणरूपाः चतस्रो दिशः। पूर्वा दिक् महिषीनाम्नी प्रधाना पत्नी। यतोऽनया सार्धमेव सूर्यस्याभिषेको भवति। पश्चिमा दिक् वल्लभानाम्नी

---

१. सर्वमपि कर्मकाण्डं चान्द्रमासानुसारेणैव प्रवर्तते। चान्द्रमासः सौरमा-सात् किञ्चिन्न्यूनो भवति। अत एव रशनायाः पूर्णहस्तप्रमाणं (=२४ अङ्गुल्यात्मकम्) नोक्तम्, अपि तु द्वाविंशत्यङ्गुल्यात्मकम् अरत्निप्रमाण-मुक्तम्।

२. ऋग्वेदस्य **वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उपजायते** (१। २५।८) इति मन्त्रे द्वादशमासैः सह उपजायमानस्य त्रयोदशस्य मासस्यापि निर्देश उपलभ्यते। प्रतिवर्षं सौरवर्षापेक्षया चान्द्रवर्षे प्रायेण दश दिवसा न्यूना भवन्ति। इदमन्तरं दूरीकर्तुं चान्द्रवर्षस्य तृतीये वर्षे मासमेकमधिकं गण्यते। अयमधिकमासो मलमासो वोच्यते।

दिक् । अस्यामेव दिशि सूर्यो निम्रोचति (=विश्राम्यति) । अत एव अश्वमेधे राज्ञो वल्लभाया उर्वोरन्तराले शिरो निधाय शनयमुक्तम् । अस्मिन् काले यद् ब्रह्मचर्यस्य विधानमुक्तम्, तस्येदं कारणम्—अस्माकं दृष्टौ सूर्यो वल्लभायां पश्चिमस्यां दिशि यदा निम्रोचन् भवति, तदा तद्दिशः प्रजानां दृष्टौ सूर्य उद्यन् भवति । एवम् आस्माकीना पश्चिमा-दिक् तद्देशस्थानां प्राणिनां पूर्वा दिक् सम्पद्यते । अर्थात् वल्लभायां पश्चिमस्यां दिशि सूर्यस्य निम्रोचने सत्यपि न तया सह तस्य सम्बन्धो भवति । इत्थमेव अवल्लभादूत-पुत्रपत्न्यौ उत्तरदक्षिणे दिशौ स्तः, आभ्यां सह सूर्यस्य उत्तरायणे दक्षिणायने चैव संयोगो भवति, न सर्वदा ।

इदमप्यत्रावधेयम्—एकपत्नीव्रतपरायणा दाशरथिरामादयो बहवो राजानोऽपि अश्वमेधं चक्रुः। याज्ञिकप्रक्रियानुसारेण राज्ञो न्यूनतमाश्चतस्रः पत्न्योऽपेक्षन्ते । सत्येवम्—एकपत्नीव्रतपरायणैः राजभिः कथमयं कटुः सम्पादितः स्यात् ? अस्मन्मते तु आधिदैविकस्याश्वमेधस्य कृत्स्नं कर्म द्रव्यमयेऽश्वमेधे तावन्मात्रमेवानुक्रियते यावत्तत् सम्भवति ।

अश्वस्य एकवर्षमितं परिभ्रमणम्—इदपि सूर्यस्य वार्षिक्या गतेरुपलक्षकम्।

कवचिनो रक्षकाः—अश्वस्य रक्षायै मार्गे प्राप्तां बाधां दूरीकर्तुं शत-चतुष्टयं शस्त्रास्त्रसम्पन्नानां कवचिनां राजपुत्रादीनां विधानमपि सूर्यस्य रश्मीनामेव निदर्शकम् । ऋग्वेदे सूर्यस्य सहस्रविधा रश्मय उक्ताः—**युक्ता ह्यस्य हरयश्शतादश** (६।४७।१८) । एषां सहस्रविधानां रश्मीनां त्रयो भेदा वायु-पुराणे (५३।१९-२३), ब्रह्माण्डपुराणे (पूर्वभाग २४।२६-३०), मत्स्य-पुराणे (१२८।१८-२२) च निर्दशिताः सन्ति । तेषु चित्रमूर्तिनामानः शत-चतुष्टयं रश्मयो वर्षयन्ति[1]। वर्षाकाले मेघानामवरोधात् सूर्यस्य रश्मयः प्रकाशो वा पृथिवीपर्यन्तं नाप्नोति । अश्वस्य विचरणे शत्रोः प्रतिरोधं दूरीकर्तुं शत-चतुष्टयं शस्त्रास्त्रधारिणः कवचिनः सैनिका अनुयान्ति । सृष्टियज्ञेऽपि सूर्यस्य रश्मीनां प्रकाशस्य वा प्रसरणे मेघा अवरोधका भवन्ति,तान् विच्छिद्य वर्षकाः चित्रमूर्तिनामानो रश्मयोऽपि शतचतुष्टयमिता एव सन्ति । ऋग्वेदस्य **आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुः** (१।३५।६) मन्त्रे सृष्टिसर्जका रश्मयोऽमृता उक्ताः ।

---

१. तस्य रश्मिसहस्रं तु वर्षशीतोष्णनिस्रवम्। तासां चतुःशता नाड्यो वर्षन्ते चित्रमूर्त्तयः ।। वायुपुराण ५३।१९; मत्स्यपु० १२८।१८, ब्रह्माण्डपु० पूर्वभाग २४।२६।।

अश्वस्य सर्वाङ्गानां रज्जुभिर्बन्धनम्—अश्वमेधे अश्वस्य कृत्स्नं शरीरं रज्जुभिर्वेष्टयन्ति। तथा तत्तत्स्थानीयैः रज्जूनामन्तभागैः केचन अन्ये पशवः बध्यन्त इत्युक्तम्। इदमपि कर्म सृष्टियज्ञीयमश्वमेधमेव सङ्केतयति। सूर्यमण्डलस्य सर्वतः सूर्यरश्मयः प्रसृता भवन्ति। एतै रश्मिभिरेव सूर्यमण्डलं कृत्स्नरूपेण बद्धम् अर्थाद् आच्छादितं वर्तते। एषां सूर्यरश्मीनामपरैरन्त्यभागैः सूर्यमण्डलस्य पशुरूपाः पृथिव्यादयो ग्रहोपग्रहा बद्धाः सन्ति।

विजितेभ्यो राजभ्य उपहाराणां ग्रहणम्—इदमपि सृष्टियज्ञस्यैव घटनायाः स्मारकम्। सूर्यः स्वरश्मिभिरवरोधकान् मेघान् विच्छिद्य येन येन प्रदेशेन सम्बद्धो भवति, तस्मात् तस्मात् प्रदेशात् स स्वतेजसा रसान् गृह्णाति।

एवमस्माभिर्विस्पष्टीकृतमेतद् यद् द्रव्यमयरूपस्य अश्वमेधस्य सम्बन्धः सृष्टियज्ञस्य अश्वमेधेन सह वर्तते। एतेन साकं लौकिकस्याश्वमेधस्य एकं राष्ट्रियरूपमप्यस्ति। तस्य व्याख्या शतपथ-तैत्तिरीयब्राह्मणयोः विस्तरेणोपलभ्यते, सा तत्रैव द्रष्टव्या।

लौकिकेऽश्वमेधे ग्राम्यपशूनां हिंसाया यद् विधानं दृश्यते, तद्विषये अस्माभिः किञ्चित् पूर्वं लिखितम्, किञ्चिच्च पञ्चानां पशुमेधानामनन्तरं लेखिष्यते।

ऋग्वेदीयानि अश्वसूक्तानि—ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलस्य १६२, १६३, १६४ तमानि सूक्तानि अश्वमेधे विनियुक्तानि सन्ति। सम्प्रति एषां सूक्तानां विषय अतिसंक्षेपेण लिख्यते—

त्रिषष्ट्युत्तरशततमस्य सूक्तस्य प्रथममन्त्रे अश्वस्योत्पत्तिः समुद्रात् पुरीषाच्च उक्ता, द्वितीयमन्त्रे यमेन प्रदत्तस्य त्रितेन युक्तस्य अश्वस्योपरि इन्द्रः प्रथममध्यतिष्ठत्, गन्धर्व अस्य रशनामगृह्णात्, वसवः सूराद् अश्वमतक्षन् इति निर्दिश्यते। चतुर्थे मन्त्रे अश्वस्य दिवि अप्सु समुद्रे च त्रीणि बन्धनान्युक्तानि। षष्ठे मन्त्रे पतङ्गः (=गतिशीलोऽश्वः) द्युलोके गच्छन्निर्दिष्टः। दशमस्य ईर्मान्तासः मन्त्रस्य व्याख्या निरुक्तकारेण सूर्यरश्मिपरा व्यधायि (द्र०—निरुक्त ४।१३)। एकादशे मन्त्रे अश्वस्य जर्भुराणि देदीप्यमानानि शृङ्गाणि अरण्ये विचरन्तीत्युक्तम्। लौकिकस्याश्वस्य शृङ्गाण्येव न भवन्ति, पुनः कथं तेषां देदीप्यमानानाम् अरण्ये विचरणं सम्भवति? सूर्यस्य तु देदीप्यमानानि[गतिमन्ति शृङ्गाणि तस्य रश्मयः। एतैः सङ्केतैर्विस्पष्टं भवति यद्

अश्वमेधे क्रतौ विनियुक्ते त्रिषष्ट्युत्तरशततमे सूक्ते उक्तोऽश्वः सूर्य एव, न लौकिकः पशुः ।

चतुष्षष्ट्युत्तरशततमस्य सूक्तस्यारम्भ **अस्य वामस्य पलितस्य** इत्येवं भवति। आदौ निर्दिष्टम् **अस्य** इति सर्वनामसंज्ञकम् । सर्वनामानि च पूर्वनिर्दिष्टस्य स्मारकानि उत वा अभिधायकानि भवन्ति। अनया दृष्टचा पूर्वपठितयोः १६२, १६३ तमयोः सूक्तयोर्यस्याश्वस्य वर्णनमभूत् तमेव **अस्य**पदेन स्मारयित्वा तद्विषये विशेष उच्यते । अस्मिन् **अस्यवामीये** सूक्ते सूर्यस्य तद्रश्मीनां च वर्णनमुपलभ्यते । इदं च वर्णनं एतावत् स्पष्टं वर्तते, यदस्मिन् प्रकरणे सूर्यस्य तद्रश्मीनाञ्च वर्णनम् अतिरिच्य नान्यस्य कस्यचित् वर्णनं स्वीकर्तुं शक्यते । निरुक्तकारो यास्कोऽप्यस्य सूक्तस्यानेकेषां मन्त्राणां सूर्यपरामेव व्याख्यां निरुक्ते कृतवान् ।

सम्प्रति द्वाषष्टच्युत्तरशततमस्य सूक्तस्य समस्यावशिष्यते । यद्यप्यस्मिन् सूक्ते अनेके मन्त्राः पदसमूहाश्च एतादृशः सन्ति ये आपाततोऽश्वमेधक्रतुसम्बन्धिन एव प्रतीयन्ते, तथाप्युत्तरयोः सूक्तयोः प्रकाशे तेषामप्याधिदैविकोऽर्थ एव कर्तव्यः । बृहदारण्यकोपनिषद आरम्भे द्वाषष्टच्युत्तरशततमे सूक्ते निर्दिष्टानाम् अश्वाङ्गानाम् आधिदैविकी व्याख्या द्रष्टव्या । एतद्विषये देवप्रकाशपातञ्जलस्य **'ए क्रिटिकल स्टडी आफ ऋग्वेद'** (१।१३७-१६३) ग्रन्थो द्रष्टव्यः ।

वेदार्थपारिजातस्य लेखकेन करपात्रस्वामिना अश्वमेधक्रतौ अश्वस्यालम्भननिर्देशाय द्वाषष्टच्युत्तरशततमस्य सूक्तस्य केचन मन्त्रा उद्धृत्य व्याख्याताः (द्वितीयभाग पृष्ठ २०४०—२०४४) । वस्तुतस्तु यद्यस्मिन् सूक्ते अश्वस्यालम्भनं तदवयवानां पाचनादिमेव स्यात् तर्हि न केवलम् उत्तराभ्यां सूक्ताभ्यां विरोध आपद्यते, अपि त्वस्यैव सूक्तस्य या एकविंशा ऋक्— **'न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः'** इत्यनया सार्धं दृष्टविरोधः प्रत्यक्ष एव । अश्वमेधे आलभ्यमानोऽश्व म्रियते । अस्यामृचि तु **न वा उ एतन्म्रियसे** इति पदैः स्पष्टमेव अश्वस्य मृत्योरभाव उक्तः । वस्तुतस्त्वस्यामृचि सूर्यरूपस्याश्वस्यैव वर्णनं विद्यते । यतो हि सोऽस्तङ्गतोऽपि न स्वरूपं जहाति, न च रिष्यति । अपरदिने स एव पुनरुदीयमानः प्रत्यक्षमुपलभ्यते । अयमेवाभिप्रायः प्रकारान्तरेण ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रकटीकृतः । तथाहि—

स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति..........**स वा एष न कदाचन निम्लोचति** (ऐ० ब्रा० अ० १४। ख० ६) ।

स वा एष न कदाचनास्तमयति, नोदयति..........स वा एष न कदाचनास्तमयति नोदयति। न ह वै कदाचन निम्लोचति (गो० ब्रा० उत्तरार्द्ध ४।१०) इति ।

गोमेधस्य गौः, तस्याश्चालभनम्

यथा याज्ञिकग्रन्थेषु साक्षाद् अश्वमेधयोर्निर्देश उपलभ्यते, न तथा गोमेधसंज्ञकस्य कस्यचित् कर्मणः सम्पूर्णेऽपि याज्ञिकवाङ्मये साक्षान्निर्देशो विद्यते । एकं गवामयननामकं संवत्सरसाध्यं सत्रं विधीयते । अस्मिन् गोपशोरालभनस्य विधानं नास्ति । ऐतरेयब्राह्मणे (४।१७) गवामयनसत्रस्य विधानं वर्तते । तस्यारम्भ एवमुक्तम्—"**गवामयनेन यन्ति । गावो वा आदित्याः । आदित्यानामेव तदयनेन यन्ति । गावो वै सत्रमासत ।**"

अस्मिन् निर्दिष्टा गाव आदित्याः । यद्यपि आदित्य एक एव, तथापि कालभेदेन कर्मभेदेन च स द्वादशधा भिन्नः । अयनं नाम तस्या गतेर्वाचकं यतः सा प्रारभते तत्रैव चावृत्य परिसमाप्तिमेति ।[1] आदित्यानां गतिरेव गवामयनम् । आदित्यस्य दक्षिणायनोत्तरायणे गती[2] प्रसिद्धे स्तः । अनयोरेव गत्योरनुकरणं षट्सु षट्सु मासेषु गवामयनसत्रे भवति । इत्थं गवामयनसत्रं मूलत आधिदैविकमेव ।

कतिपयेषु क्रतुषु अङ्गरूपेण काम्यकर्मरूपेण वा गोरालभनं दृश्यते । यथा —पुरुषमेधे अङ्गरूपोऽनुबन्ध्याया यागः । महाभाष्ये (१।१। आ० १) उद्धृतम्—'**स्थूलपृषतीमनड्वाहीमालभेत**' इति काम्यं कर्म । पूर्वत्र (पृष्ठ ७४) पुरुषमेध प्रकरणेऽस्माभिरुक्तम्—यत्र क्वचिदपि गोरालभनमुपलभ्यते, तत्र प्रायेणानुबन्ध्या वशा शब्दाभ्यामेव निर्देशः क्रियते । अनुबन्ध्याशब्दस्यार्थो

---

१. यथा रामोऽयोध्यातो निर्गत्य तत्रैवागतस्तेन रामस्यायनं पूर्तिमगात् । अत एव तस्य वर्णको ग्रन्थोऽपि रामायणेति नाम्ना प्रसिद्धः। रामायणस्य परिसमाप्तिर्युद्धकाण्डान्त एव भवति, तत्रैव फलश्रुतिदर्शनात् । केचनाधुनिका हिन्दीभाषायाः कवयः 'कृष्णायन' इत्यादीनि ग्रन्थनामानि लिखन्ति, तान्ययनगतेर्मुख्यार्थस्यापरिज्ञानमूलकान्येव । नहि कृष्णो मथुरातो निर्गत्य पुनर्मथुरामागतः । द्वारकायामेव स निधनं लेभे ।

२. यद्यप्यादित्यस्य वार्षिकी एकैवायनाख्या गतिः, तथापि लोकव्यवहारमनुसृत्य दक्षिणोत्तरभेदेन विभज्येह द्विर्वचनेन निर्देशः कृतः ।

वर्तते—यज्ञस्य अनु=पश्चात् (=अन्ते) बध्यते इत्यनुबन्ध्या।[1] एवं वशाशब्दस्यार्थोऽस्ति वन्ध्या गौः। महाभाष्योद्धृते पाठे 'अनड्वाही'शब्देन निर्देशो दृश्यते। अनड्वान् शकटवाहको बलीवर्दः। स्त्रीलिङ्गेन अनड्वाहीशब्देन सा गौरुच्यते, या अनसि योज्यते। यद्यपि गोरनसि योजनं धर्मशास्त्रे प्रतिषिद्धम्, परन्तु तदपवादरूपेण वन्ध्याया गोरनसि योजनमुक्तम्। अतोऽनड्वाहीशब्दस्यापि बन्ध्या गौरेवार्थः। वशाया गोर्विषये तदालभने च अस्माभिः पूर्वम् (पृ० ७५) अलेखि।

इदमप्यत्रावधेयम्—पाराशरस्मृतिनाम्नैकः श्लोकः प्रसिद्धो वर्तते—

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैत्रकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥[2]

एतद्वचनानुसारेण कलियुगे गोमेधाश्वमेधयोः, गवाश्वयोरालम्भनं प्रतिषिद्धम्। अश्वमेधस्य कलियुगे प्रतिषेधे सत्यपि पुष्यमित्रादिभिरनेकै राजभिरश्वमेधानुष्ठानं कृतमितीतिहासे प्रसिद्धम्। श्रौत्रसूत्रादिषु यत्र क्वचिदपि गवालम्भनं विहितं तत्र प्रायेण सर्वत्रैव गोः स्थाने आमिक्षया पयस्यया घृतेन[3] वा तत्कर्मसमापनमुक्तम्। आयुर्वेदीयचरकसंहितायाः चिकित्सास्थाने (१९।४) अतिसाररोगोत्पत्तिविषये एवं विहितम्—

"आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्' पशवः प्रोक्षणमापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामभावाद् गवालम्भः प्रवर्तितः·········प्रतिसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे।"

अस्मिन् पाठे **'आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म'** इति वाक्येन विस्पष्टं प्रतीयते यद् आदिकाले कस्यचिदपि पशोरालम्भनं न भवति स्म। उत्तरकालेन गवालम्भनम् अन्यपशूनामालम्भनानन्तरं प्रचलितम्।

---

१. द्र०—कात्या० श्रौत १०।९।१३ विद्याधरटीका।

२. अयं श्लोकः पाराशरस्मृतिनाम्ना निबन्धकारा उद्धरन्ति। अस्माभिस्तु पाराशरस्मृतेर्लघुवृद्धग्रन्थयोर्नायं श्लोक उपलब्धः।

३. मैत्रावरुणीमामिक्षामनूबन्ध्यायाः स्थाने बह्वृचाः समामनन्ति। आप० श्रौत १३।२५।१०। उभयाभावे पयस्या। कात्या० श्रौत १०।९।१६॥ अत्र विद्याधरटीका द्रष्टव्या।

अविमेधस्य अविः, तस्याश्चालभनम्

अविमेधनाम्नः कस्यचित् स्वतन्त्रस्य कर्मणो याज्ञिकसम्प्रदाये निर्देशो नोपलभ्यते। केषुचित् क्रतुषु अङ्गरूपेण अवेरालम्भनं दृश्यते। अस्माभिः पूर्वत्र (पृष्ठ ६८-७०) वशाया अवेरालम्भनप्रकरणे का नाम अविः, किञ्च तस्या वशात्वं, कथं च देवैः तस्या आलम्भनं कृतम् इति निर्दर्शितम्। अतः कर्मकाण्डीयग्रन्थेषु यत्रापि अवेरालभनं विहितं, तस्य मूले पूर्वनिर्दर्शिता आधिभौतिकी अविरेव ज्ञेया।

अविमेधस्य सम्बन्धे एकः प्रसङ्गो ज्ञातुमर्होऽस्ति—चातुर्मास्यान्तर्गते वरुणप्रघाससंज्ञके द्वितीये पर्वणि निस्तुषानां यवानां पिषाणेन मेषमेष्योः शरीराकृत्योर्निर्माणमुक्तम् (शत० ब्रा० ५।५।२।१५-१६)। तयोः शरीराकृत्योरुपरि च एडक-पशोर्भिन्नस्य पशोर्लोमानां श्लेषणं विहितम् (कात्या० श्रौत ५।३।७)। यज्ञकाले मारुत्या पयस्यायां मेषाकृतिः, वारुण्याञ्च पयस्यायां मेष्याकृतिर्निधीयते (कात्या० श्रौत ५।५।२-३) उभयोः पयस्ययोराहुतिकाले पयस्याभ्यां सह मेषमेष्योराकृती अपि हूयेते (कात्या० श्रौत ५।५।१६-१९)।

इदमप्यत्रावधेयम्—समस्तेऽपि वैष्णवसम्प्रदाये तत्तद्यागेषु साक्षात् पशूनां विधाने सत्यपि यवानां पिषाणेनैव तत्तत्पशोराकृतिं विधाय तदवयवैरेव पशुयागः क्रियते। अयं पिष्टपशुरित्युच्यते। संभाव्यते पिष्टपशोर्मूले वरुणप्रघासस्थयोः पिष्टमय्योः मेषमेष्योः होम एव स्यात्।

अजमेधस्याजः, तस्यालभनञ्च

अजमेधनामकं न किञ्चित् स्वतन्त्रं कर्म विद्यते। याज्ञिके कर्मकाण्डे प्रायेण पशुयागेषु अज एवालभ्यते। अतोऽजशब्दविषये प्रथमं विचारः क्रियते।

वैदिकशाखानां ब्राह्मणग्रन्थानां चानुसारेण समस्तपशुयागानां प्रकृतिः सोमयागस्याग्नीषोमीयः पशुयागो विद्यते। श्रौतसूत्रप्रवक्तृभिः वैदिकशाखासु ब्राह्मणेषु चाग्नीषोमीये पशुयागे विहितः समस्तोऽपि धर्मो निरूढपशुबन्धे निर्दिष्टः। अतः श्रौतसूत्राणामनुसारेण निरूढपशुबन्धः पशुयागानां प्रकृतिर्भवति। प्रकृतिभूतस्य अग्नीषोमीयपशुयागस्य प्रकृतिः दर्शेष्टेः सान्नाय्ययागः; तत्रापि च पयोयाग एव प्रकृतिः (द्र०—कात्या० श्रौत ४।३।१४-१६)।

अजशब्दार्थः—अजशब्दस्य व्युत्पत्तिभेदेन द्वावर्थौ सम्भवतः। एकः—अजति सातत्येन गच्छतीति अजः। द्वितीयः—न जायते इति अजः, अर्था-

दुत्पत्तिधर्मशून्यो नित्यं वर्तमानः। यथा आत्मा परमात्मा प्रकृतिश्च। एतेषां कृते अजशब्दस्य प्रयोगो वैदिकवाङ्मये बहुधा उपलभ्यते। उभयार्थकस्यापि अजशब्दस्य स्वरो वैदिकवाङ्मये अन्तोदात्त एवोपलभ्यते।

पशुयागविधायकानां वचनानां पुरस्तात् परस्ताच्च बहुधा पुराकल्पसंज्ञकानामर्थवादानां निर्देश उपलभ्यते इत्युक्तं प्राक् (द्र०—पूर्व पृष्ठ ५०)। पुराकल्परूपेष्वर्थवादेषु जगतः सर्गस्य निर्देशः प्राप्यते। अतः सम्पूर्णपशुयागानां पशवोऽपि प्राकृतानामाधिदैविकतत्त्वानामेव प्रतिनिधयः सन्ति। अनया दृष्टया कृत्स्नपशुयागानां प्रकृतेरग्नीषोमीययागस्य पशुरजः, सूर्यस्याभितः सततं भ्रमणशीलः पृथिवीलोकः। यथा—अविः पृथिव्याः पिलिप्पिल्या (=अदृढायाः) अवस्थाया वाचकः (द्र०—पृ० ६९), तथैवाग्नीषोमीयो योऽजः सोऽपि अग्नीषोमगुणवत्यः प्रारम्भिकाया अकृष्टपच्यायाः पृथिव्या वाचकः। वर्तमानकालेऽपि कृषियोग्या अनूषरभूमिरपि न्यूनाधिकरूपेणाग्नीषोमीयोऽज एव। मूलतो लौकिकोऽजपशुरग्निप्रधानः, तस्य दुग्धमप्यग्नितत्त्वप्रधानम्। एतेन 'अज' नाम अग्नितत्त्वप्रधानाया ऊषरभूम्या वाचकः। गोमयादीनां सोमप्रधानानां द्रव्याणां संयोगेन ऊषरभूम्यामग्नीषोमीयगुणवत्त्वमाधाय तस्याः कृषियोग्यत्वसम्पादनमेवाग्नीषोमीयपशोरालभनम्। वसन्तर्तुः, यस्मिन् अग्नीषोमीयस्य पशुयागस्य विधानमुक्तम्, स्वयमग्नीषोमगुणप्रधानः। तस्मिन् काले पत्रविहीनासु ओषधिवनस्पतिषु नवाः पल्लवाः प्रादुर्भवन्ति। महाभारतस्य, वायुमत्स्यपुराणयोः, पञ्चतन्त्रस्य, स्याद्वादमञ्जर्याश्च वचनैः (एतानि वचनानि अग्रे उद्धरिष्यामः) प्रतीयते यद् 'अज' इति नाम प्रजननशक्तिरहितानां त्रिवर्षपुराणानां सप्तवर्षपुराणानाञ्चान्नानां वाचकः। एतादृशैरजसंज्ञकैर्बीजैरेव यज्ञस्य विधानं वेदेषु विहितमिति महाभारत उक्तम्।

पशुयज्ञसम्बन्धिनि एकार्थवादे विचारः

ऐतरेयब्राह्मणे (२।८-९) पशुयज्ञसम्बन्धी एकोऽर्थवाद इत्थं पठ्यते—

"पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्त। तस्मादालब्धान्मेध उदक्रामत्। सोऽश्वं प्राविशत्। तस्मादश्वो मेध्योऽभवत्। अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जत स किंपुरुषोऽभवत्। तेऽश्वमालभन्त। सोऽश्वादालब्धादुदक्रामत्। स गां प्राविशत्। तस्माद् गौर्मेध्योऽभवत्। अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जत स गौरमृगोऽभवत्। ते गामालभन्त। स गोरालब्धादुदक्रामत्। सोऽविं प्राविशत्। तस्मादविर्मेध्योऽभवत्। अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जत स गवयोऽभवत्। तेऽविमालभन्त। सोऽवेरालब्धादुदक्रामत्।

सोऽजं प्राविशत् । तस्मादजो मेध्योऽभवत् । अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जत स उष्ट्रोऽभवत् । सोऽजे ज्योक्तमामिवारमत । तस्मादेष एतेषां पशूनां प्रयुक्ततमो यदजः। तेऽजमालभन्त । सोऽजादालब्धादुदक्रामत् । स इमां प्राविशत्। तस्मादियं मेध्याऽभवत् । अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जत स शरभोऽभवत् । त एत उत्क्रान्तमेधा अमेध्याः पशवः । तस्मादेतेषां नाश्नीयात् । तमस्यामन्वगच्छन् सोऽनुगतो व्रीहिरभवत् । तद्यत् पशौ पुरोडाशमनुनिर्वपन्ति समेधेन नः पशुनेष्टमसत्……।।८।। स वा एष पशुरेवालभ्यते यत्पुरोडाशः ।।"

अर्थात्—कदाचिद् देवाः पुरुषं पशुमालभन्त । तस्मादालब्धात् पुरुषात् मेधो निर्गत्याश्वं प्रविष्टः,तेनाश्वो मेध्योऽभूत् । देवा अश्वमालभन्त । तस्मादालब्धाद् अश्वान्मेधो निसृत्य गवि प्रविष्टः, तेन गौर्मेध्याऽभूत् । देवा गामालभन्त । तस्या आलब्धाया गोर्मेधो निर्गत्य अविं प्रविष्टः, साऽविर्मेध्याभूत् । देवा अविमालभन्त । तस्या मेधो निसृत्य अजं प्रविष्टः, तेनाजो मेध्योऽभूत् । देवा अजमालभन्त । तस्मादालब्धादजान्मेधो निसृत्येमां पृथिवीं प्रविष्टः, तेन सा पृथिवी मेध्याभूत् । तस्मादेत उत्क्रान्तमेधाः पशवः । देवा अजादुत्क्रान्तं मेधं पृथिव्यां प्रविष्टमन्वगच्छन् । स मेधः देवैरनुगतो व्रीहिरभवत् । यत् पशुयागे पुरोडाशमनुनिर्वपन्ति, तेन समेधः पशुरिष्टो भवति । स वा एष पशुरेवालभ्यते यत्पुरोडाशः ।

एतस्य पुराकल्परूपस्य अर्थवादस्य प्रयोजनं याज्ञिकानां मते पशुयागानन्तरं क्रियमाणस्य पशुपुरोडाशस्य प्रशंसनमस्ति । सत्यप्येवमेतेनार्थवादेनेदं स्पष्टं भवति, यत् पुरुष-अश्व-गो-अवि-अजा अमेध्या अर्थाद् यज्ञयोग्या न सन्ति । पुरोडाश एव यज्ञीयः ।

पशुयागेषु पशुपुरोडाशस्य विधानम्

पशुयागे **'यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाशः'** इति नियमेन पशुदेवतायै पुरोडाशस्यापि विधानं क्रियते । याज्ञिकाः पशुपुरोडाशं छिद्रापिधानार्थं मन्यन्ते । तेषां कथनमस्ति यदा यज्ञे हिंसितः पशुः स्वर्गे जीवितो भवति, तदा तस्य पशोः शरीरात् निष्क्रान्तानामङ्गानां यानि छिद्राणि सन्ति तेषां पूर्णताऽनेन पशुपुरोडाशेन भवति । वस्तुत इदं कल्पनामात्रम् । यतो हि यज्ञे हुतः पशुर्यज्ञप्रभावात् स्वर्गं प्राप्नोति, तर्हि किं तस्यैव यज्ञस्य प्रभावात् स सर्वाङ्गपूर्णो न भवितुमर्हति ? तथा इदमप्यत्र विचारणीयम्—यदि यज्ञे हुतः पशुः स्वर्गेऽपि पशुयोनिमेव प्राप्नोति, तर्हि किमत्र तस्य यज्ञस्य माहात्म्यम् ? सा पशुयोनिस्तु

इह प्राप्तैवास्ति । तथा इदमप्यत्र चिन्त्यं किं याज्ञिकानां स्वर्गे पशवोऽपि भवन्ति ?

पश्वालम्भनस्याभावे यज्ञस्य पूर्तिः

पूर्वत्र (पृ० ८३) चरकसंहिताया यत् प्रमाणं निर्दिष्टम्, उपरिष्टाच्च महाभारतादीनां यानि प्रमाणानि उपस्थापयिष्यामः, तैरिदं स्पष्टं भवति—आदिकाले पशूनामालम्भनं न भवति स्म, केवलमालभनम्=स्पर्शमात्रमेव बभूव । यस्य यस्य पशोर्या या देवता अभवत् तां तां निर्दिश्य पशुं स्पर्शयित्वा स यज्ञीयः पशुरुत्सृज्यते स्म । अस्माभिर्वैदिकशाखानां ब्राह्मणग्रन्थानाञ्चानुसारेण इदमपि स्पष्टीकृतं यद् यज्ञीयाः पशव आधिदैविके सृष्टियज्ञ अग्निवाय्वादित्यपृथिव्यादयो विशिष्टाः पदार्था एव सन्ति । तेषां सृष्टियज्ञ आलम्भनं (=वधः=नाशः) नैव भवति स्म, अपि तु भौतिकानां देवानां स्पर्शेन (=सहयोगेन) तेषु गुणाधानमेव बभूव । अतः सृष्टियज्ञानुकृतिरूपेषु पशुयागेषु लौकिकपशूनामालम्भनं कथं भवितुमर्हति ? वस्तुतस्तु यथा सम्प्रत्यपि पुरुषमेधे पुरुषपशूनामश्वमेधे चारण्यपशूनां तत्तद्देवतानिर्देशपूर्वकमुत्सर्जनं भवति, तथैवादिकाल अन्यपशूनामपि उत्सर्ग एव भवति स्म । कस्यचिदपि प्रारम्भस्य कर्मणो मध्ये परित्यागोऽनुचितो भवति । अतः पुरुषयागेषु पशूनामुत्सर्गे कृते यज्ञकर्मपूर्त्यै आज्य-पुरोडाश-पयस्या-आमिक्षादीनां[1] द्रव्याणां विधानं

---

१. **आज्येन**—'तस्मिस्त्वाष्ट्रं साण्डं लोमशं पिङ्गलं पशुमुपाकृत्य पर्यग्निकृतमुत्सृज्याज्येन शेषं संस्थापयेत् । यावन्ति पशोरवदानानि स्युस्तावत्कृत्व आज्यस्यावद्येत् । पशुधर्माज्यं भवति' । (आप० श्रौत १४।७।१३-१५) । अत्र त्वाष्ट्रस्य पात्नीवतः पशोरुत्सर्जनं विधाय आज्येन तत्कर्मसमाप्तिरुक्ता ।

पुरुषमेधेऽपि 'स्विष्टकृद् वनस्पत्यन्तरे पुरुषदेवताभ्यो जुहोति' (कात्या० श्रौत २१।१।१३) । 'पुरुषाणां या ब्रह्मादयो देवताः·········ताभ्यः प्रत्येकं सकृद् गृहीतमाज्यं ब्रह्मणे स्वाहा क्षत्राय स्वाहा इत्येवं पदं चतुर्थ्यन्तमुच्चार्यं स्वाहाकारेण जुहुयात्' (विद्याधरीया व्याख्या) ।

पुरोडाशेन—अभिचाररूपे 'गो'संज्ञके सोमयागे अग्नीषोमीयपशोरालम्भनं न भवति । तत्र 'अग्नीषोमीयस्य स्थानेऽग्नीषोमीय एकादशकपालः' (आप० श्रौत २२।३।१०) इत्यनेन अग्नीषोमीयस्य एकादशकपालस्य पुरोडाशस्य विधानं क्रियते ।

पयस्यया—'उभयाभावे पयस्या' (कात्या० श्रौत १०।९।१६) । वशाया

तत्तत्प्रकरणेषु दृश्यते। संभवतः यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाशः इत्यस्य विधानमप्यारम्भे अनया दृष्ट्यैव कृतं स्यात्। सत्येवं, पशुदेवत्यस्य पुरोडाशस्य छिद्रापिधानार्थरूपोऽर्थवादोऽप्युपपद्यते। उत्तरकाले यदा यज्ञेषु पशूनामालम्भनं प्राचलत्, तदापि पौर्वकालिकं पुरोडाशविधानमपि सम्बद्धमेवातिष्ठत्।

पुरस्तादस्माभिरैतरेयब्राह्मणस्य यत्सुदीर्घमर्थवादवचनम् अलेखि। तेनापीदमेव ध्वन्यते यत् पुरुषादीनां पशूनामङ्गैर्यज्ञो न भवितुमर्हति। यतस्ते उत्क्रान्तमेधाः सन्ति। तेषां मेधाः पृथिवीं प्रविश्य व्रीहिरूपेण प्राकाट्यमलभन्त। अतो व्रीहिरेव मुख्यं यज्ञीयं द्रव्यं वर्तते। सत्येवं यदि पुरुषादिभिः पशुभिरेव यज्ञः क्रियते, तर्हि स उत्क्रान्तमेधेन (=अमेध्येन) पदार्थेन कृतं स्यात्। इदमप्यत्रास्ति विचारणीयम्—देवैः पुरुषादीनामालम्भने कृते,यदा पुरुषादय उत्क्रान्तमेधा बभूवुस्तदा पुनरेतेषु मेध्यत्वं कथम् उदपतत्? एतद् वैदिकवाङ्मयस्य नहि कस्मिंश्चिदपि ग्रन्थ उक्तम्।

वस्तुत ऐतरेयब्राह्मणस्य पूर्वोक्तोऽर्थवादोऽपि पुराकल्परूप एव। अत एतस्मिन् निर्दिष्टाः 'पुरुष-अश्व-गो-अवि-अजा' अपि सृष्टिगता विभिन्ना लोकलोकान्तरा एव। एभ्यो मेधस्य (=शक्तेः) उत्सर्जनं सर्वदा भवति,तच्च मेधोत्सर्जनं रश्मिभिर्वर्षाजलैर्वा इमां भूमिं प्राप्नोति। तेनैव व्रीहियवादय ओषधिवनस्पतय उत्पन्ना भवन्ति। द्रव्यमयस्य यज्ञस्य एते व्रीह्यादय ओषधय एव मेध्याः पदार्थाः सन्ति।

शास्त्रकाराणामिदं कथनमस्ति—'यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवता'[1] इति। एवं सति निरामिषभोजिनाम् ऋषिमुनीनां ब्राह्मणवर्णस्थानां यजमानानां च देवता अपि निरामिषा एव भवन्ति। सत्येवं कथं ताभ्यो देवताभ्यो यज्ञेषु पश्वङ्गानां प्रदानं भवितुमर्हति? वेदार्थपारिजाते करपात्रस्वामिना गवालम्भनस्य निराकरणन्तु प्रयत्नपूर्वकमकारि, परं साहसिकेन स्वामिनोत्तर-

---

गोः उक्ष्णोरप्यभावे पयस्या कार्या। कलौ गवालम्भनस्य निषिद्धत्वात् पयस्यायाग एव तत्स्थाने कार्यः (विद्याधरीया व्याख्या)।

आमिक्षया—मैत्रावरुणीमामिक्षामनूबन्ध्यायाः स्थाने बह्वृचाः समामनन्ति' (आप० १३।२४।१०)। अनूबन्ध्याया वपायां हुतायाम् आमिक्षाया वा प्रधाने इष्टे ....' (आप० श्रौत १४।७।१२ रुद्रदत्तवृत्तिः)। अनूबन्ध्यास्थाने मैत्रावरुण्यामिक्षा।' (आप० श्रौत २२।३।११)।

१. द्र०—यदन्नः पुरुषस्तदन्ना स्याद् देवता। निदानसूत्र १०।६॥

रामचरितादिग्रन्थेषु प्रत्यक्षम् उल्लिखितस्य गोवत्सस्य गवां चालम्भनमपि न स्वीकृतम्। तेन स्वामिनेदमपि प्रतिज्ञातं यद् कदाचिदपि गवालम्भनं न भवति स्म। इदं सर्वमपि करपात्रस्वामिनः कथनं **'गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः'** इत्याभाणकानुसारमेव। यदि करपात्रस्वामी ब्राह्मणश्रौतादिषु निर्दिष्टं गवालम्भनं स्वीकुर्याच्चेत् समस्ता अपि वैदिकधर्मानुयायिनः तस्य स्वामिनो ब्राह्मणश्रौतादिग्रन्थानाञ्च विरोधिनो भवेयुः। अनेनैव भयेन सः संन्यस्तोऽपि स्वामी 'कस्मिन्नपि काले गवालम्भनं न भवति स्म' इति मिथ्याडम्बरं रचितवान्। यदि भूतकाले पुराणपन्थिनो गवालम्भनं नाचरन्ति स्म, तर्हि श्रौतगृह्यादिषु महाभारते पुराणेषु च गवालम्भनस्योल्लेखः कथङ्कारमुपलभ्यते। इमे करपात्रस्वाम्यादयः श्रौतगृह्यादिषु न तु प्रक्षेपं मन्तुमर्हन्ति, न च वेदविरुद्धत्वाद् एषामप्रामाण्यमपि वक्तुं शक्नुवन्ति। अतो नास्ति करपात्रस्वामिनः सकाशे किमपि शरणमिति कृत्वा मिथ्याप्रलापैः श्रद्धालून् जनान् वञ्चयन्ति। नैतावदेव, कलिवर्जप्रकरणे पठितम्—

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैत्रिकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥

इति वचनं करपात्रस्वामिना प्रमाणभूतं स्वीकृतम्[1]। सत्येवं यदि गोरालम्भनं भूतकाले न कदापि समाचरितम्, तर्ह्युक्तवचने कलौ गवालम्भनस्य निषेधः कथङ्कारं विहितः? प्रतिषिद्धमश्वालम्भनमपि, कलौ पुष्यमित्रादिभिरनेकैः राजभिः, जयपुरमहाराजेन जयसिंहेन च समाचरितोऽश्वमेधो भवन्मतानुयायिभिर्याज्ञिकैः कथं सम्पादितम्? नैतावदेव, कलौ तु संन्यासोऽपि वर्जितः, तथा सति भवत्सदृशां परसहस्राणां कलियुगे संन्यासधारणं किं धर्मविरुद्धं नास्ति[2]?

---

१. अश्वालम्भं........पञ्च विवर्जयेत् इति वचनं बहुनिबन्धकृच्चर्चितत्वात् प्रमाणभूतमेव। वेदार्थपारिजात, भाग २, पृष्ठ २०४६।

२. प्रश्नोऽयं करपात्रस्वामिनो हृदयेऽप्युदितः। अत एवास्य समाधानाय **'यावद् वर्णविभागः स्याद् यावद्वेदः प्रवर्तते। अग्निहोत्रं च संन्यासं तावत्कुर्यात् कलौ युगे॥'** इत्यनिर्दिष्टग्रन्थस्य वचनान्तरमुपस्थाप्य यथाकथंचित् सन्तोषमलभत (द्र०—वेदार्थपारिजात, भाग २, पृष्ठ १९७९)। करपात्रस्वामिनो मतानुसारेण कलौ वित्तैषणायाः पुत्रैषणाया लोकैषणाया निवृत्तेर्दुष्करत्वात् संन्यासस्य प्रतिषेध उक्तः (द्र०—वे० पा० भाग २, पृष्ठ १९७९)। सत्येवं

अपि च, गवातिरिक्तैरजाश्वमेषादिभिरन्यैः पशुभिः करपात्रस्वामिनः किमपराद्धम्, यत्तेषां यज्ञ आलम्भनविधानाय बहूनि पृष्ठानि कृष्णानि कृतानि। तथा चोक्तं करपात्रस्वामिना—

याज्ञिकपशुवधोऽपि पशूनां स्वर्गप्रापकत्वात् पशुयोनिनिवारणपूर्वकहिरण्य-शरीरप्राप्तिहेतुत्वात् पशूपकारक एव।... ....यज्ञे पशूपयोगस्तु पशु-कल्याणाय भवति।.........यस्मात् पशुरपकृष्टयोनेर्विमुक्तो देवयोनौ जायते। वेदार्थपारिजात भाग २, पृष्ठ १९७७, १९७८।

करपात्रमहोदय! 'किं भवान् गां पशुयोनिं मन्यत उत देवयोनिम्? यदि पशुयोनिः स्वीक्रियते तर्हि तस्या अपकृष्टयोनेर्गां विमुच्य दिव्यहिरण्यशरीरस्य प्राप्तिपूर्वकं स्वर्गप्रापणस्य श्रेयसा कथं भवान् आत्मानं वञ्चयति? तामपि श्रौतसूत्रग्रन्थानुसारं यज्ञेष्वालम्भ्यापकृष्टयोनेर्विमुक्तेरवसरं कथं न ददाति? **गोरालम्भनं नहि क्वचिद् विहितमिति** कुतो मिथ्याप्रपञ्चं विदधाति, तदर्थं च सर्वत्र गोशब्दस्यार्थान्तरं कल्पयति'।

अभ्युपगमसिद्धान्तेन पशुयागेषु विचारः

यद्यभ्युपगमसिद्धान्तेन दुर्जनसन्तोषन्यायेन वापि पशुयागविषये विचारः क्रियेत, तथापीदं स्वीकर्तव्यमेव भवति यद् यज्ञेषु पशुहिंसा वर्जितास्ति। समस्ता अपि द्रव्यमया यज्ञा आधिदैविकान् सृष्टियज्ञान् प्रत्यक्षवत् परिज्ञापनाय रूपका नाटकानि वा सन्ति। यज्ञानां विषये सम्पूर्णस्य वैदिकवाङ्मयस्यायमेव सारः। एतस्मिन् विषये आरम्भ एवास्माभिर्विस्तरेण लिखितम्। अतो यदि सृष्टियज्ञे केषाञ्चित् पशूनां (=द्रव्याणां) आलम्भनं (=हिंसनम्) भवति, तेषां च वर्णनं मन्त्रेषूपलभ्यते, तथा सत्यपि यदा सृष्टियज्ञस्य परोक्षां प्रक्रियां प्रत्यक्षरूपेण विज्ञापयितुं तां द्रव्यमययज्ञेषु नाटकरूपेण प्रस्तुमः, तदा नाट्यसम्प्रदायस्य यथावत् परिपालनमावश्यकम्। भारतीये नाट्यसम्प्रदाये नाटकप्रस्तुतिकाले हिंसा प्रतिषिद्धा वर्तते।

किं संन्यासस्य प्रतिप्रसवात्मकेन **'यावद् वर्णविभागः स्याद्'** इति वचनम् एषणात्रययुक्तस्य पुरुषस्य संन्यासविधानार्थमस्ति? संभाव्यते पौराणिकसम्प्रदायानां लक्षपतीनां मठाधीशानां करपात्रस्वामिसदृशानाम् एषणात्रयाभिभूतानां जनानां संन्यासविधानायैव वचनमिदं कल्पितं स्यात्। वैदिकमर्यादानुसारं तु एकयाऽप्येषणया ग्रस्तः पुरुषः संन्यासस्याधिकारी न भवति, किमु एषणात्रयग्रस्ताः पुरुषाः।

काव्यानि श्रव्य-दृश्यभेदेन द्विविधानि। श्रव्यकाव्यानि रामायणमहाभारतादीनि, दृश्यकाव्यानि विक्रमोर्वशी-अभिज्ञानशाकुन्तलादीनि। श्रव्यकाव्येषु रामायणमहाभारतादिषु रामरावणयुद्धस्य कौरवपाण्डवयुद्धस्य च यथावद् वर्णनं कृतम्। तस्मिन् घातप्रत्याघातादीनामेतादृग् वर्णनं प्रस्तुतम्, येन पठतां सहृदयानां पाठकानां पुरस्ताद् युद्धस्य घातप्रत्याघातरूपा घटना हस्तामलकमिव उपतिष्ठन्ति। परन्तु यदा ईदृशान् प्रसङ्गान् आधारीकृत्य नाटकानां रचना भवति, तदा एषु घातप्रत्याघातादीनां वर्णनं न क्रियते। अत एव रंगमञ्चेऽपि तासां निदर्शनं न भवति। अस्यैव लौकिकस्य नाट्यधर्मस्य यज्ञीयनाटकेष्वपि परिपालनमावश्यकम्। सत्येवं, यज्ञेषु पशोः साक्षात् हिंसाया निदर्शनं न भवितुमर्हति। यज्ञार्थं सम्पादितानां पशूनां कर्मणो मध्य एव पर्यग्निकरणसंस्कारानन्तरमुत्सर्जनं भवति। अवशिष्टस्य नाटकरूपस्य कर्मणः परिपूर्तिः पुरोडाशादिद्रव्यैः सम्पाद्यते।

वैष्णवसम्प्रदाये पशुयागः

वैष्णवसम्प्रदायः पूर्णतो निरामिषभोजी वर्तते। सोऽपि वेदान् अन्यसम्प्रदायवत् स्वतःप्रमाणान् मन्यते। तस्य पुरस्ताद् यदा यज्ञेषु पश्वालम्भनस्य समस्या समुत्पन्ना, तदा तेन पश्वालम्भनात् स्वात्मानं रक्षणाय पिष्टपशुयागस्य कल्पना कृता। माध्वसम्प्रदायस्य आचार्यैः पिष्टपशोः सिद्ध्यर्थं बहु प्रयतितम्। साक्षात् पशोः स्थाने प्रतिनिधिरूपेण पिष्टपशोर्विधानमपि याज्ञिकपरम्पराया अनुरूपं नास्ति। प्रतिनिधिद्रव्यस्य ग्रहणं सर्वत्र प्रधानद्रव्यस्य नाशे तदप्राप्तौ चोपदिश्यते। पिष्टपशुवादिनां कृते वयमेकमेतादृग् वचनम् उद्धरामः, यत् सम्भवतः तेषामज्ञातमेव स्यात्।

चातुर्मास्यवरुणप्रघासपर्वणि यवानां पिषाणेन मेषमेष्योर्विधानं शतपथब्राह्मण इत्थमुपलभ्यते—

"तद्यन्मेषश्च मेषी च भवतः। एष वै प्रत्यक्षं वरुणस्य पशुर्यन्मेषः। तत्प्रत्यक्षं वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति। यवमयौ भवतः।" (शत० ब्रा० २।५।२।१६)।

वैष्णवसम्प्रदायस्य पिष्टपशुयागपक्षे तदपि प्रमाणमुपस्थापयितुं शक्यते यदस्माभिः पूर्वत्र (पृ० ८६-८७) उद्धृतम्। तदनुसारेण पुरुषादिभ्य मेधो उत्क्रम्य पृथिवीं प्रविश्य व्रीहिरूपेण प्रकटितो बभूव। पशुभ्यो मेधस्योत्क्रमणात् ते अमेध्या अभवन्। अमेध्यपदार्था यज्ञे प्रयोगार्हा न भवन्ति। अतः साक्षा-

त्पशवो यज्ञेषु अप्रयोगार्हाः, तेषां स्थाने पशुपुरोडाशा एव प्रयोगार्हाः । एवं पशुपुरोडाशमेव वैष्णवसम्प्रदायस्याचार्याः पश्वाकृतिरूपेण निर्माय पिष्टपशुयागं प्रयुञ्जते । इत्थं पशुयागसम्बन्ध अस्माभिः पुरस्ताद्यद् लिखितम्, तस्यायं संक्षेपः—

१—वेदप्रतिपादिताः पशुयज्ञाः सृष्टियज्ञस्यैव भागाः सन्ति (पृष्ठ ४५)।

२—आधिदैविकपदार्थानां कृते पशुशब्दस्य व्यवहारः (पृष्ठ ४८) ।

३—आलते आलभेत पदयोः सम्बन्धे विचारः (पृष्ठ ५५) ।

४—आलभ आलम्भ द्वौ स्वतन्त्रौ धातू (पृष्ठ ५७) ।

५—लभलम्भयोर्विभिन्नार्थाः (पृष्ठ ५९) ।

६—अग्निपशोरालम्भनं, तेन च यजनम् (पृष्ठ ६१) ।

७—वायुपशोरालभनं, तेन च यजनम् (पृष्ठ ६४) ।

८—सूर्यपशोरालभनं, तेन च यजनम् (पृष्ठ ६५) ।

९—वशाया अवेरालभनम् (पृष्ठ ६८) ।

१०—प्रसिद्धाः पशुयागाः (पृष्ठ ७०) ।

११—पुरुषमेधस्य पुरुषः, तस्य चालम्भनम् (पृष्ठ ७१) ।

१२—अश्वमेधस्याश्वः, तस्य चालम्भनम् (पृष्ठ ७६) ।

१३—गोमेधस्य गौः, तस्याश्चालम्भनम् (पृष्ठ ८२)।

१४—अविमेधस्याविः, तस्याश्चालम्भनम् (पृष्ठ ८४) ।

१५—अजमेधस्याजः, तस्य चालभनम् (पृष्ठ ८४) ।

१६—पशुयज्ञसम्बधिन एकस्यार्थवादस्य सम्बन्धे विचारः (पृष्ठ ८५)।

१७—पशुयागेषु पशुपुरोडाशस्य विधानम् (पृष्ठ ८६) ।

१८—पश्वालम्भनस्याभावे यज्ञपूर्तिः (पृष्ठ ८७) ।

१९—अभ्युपगमसिद्धान्तेन पशुयागेषु विचारः (पृष्ठ ९०) ।

२०—वैष्णवसम्प्रदाये पशुयागाः (पृष्ठ ९१) ।

यज्ञेषु पुराकाले पशूनामालम्भनं न भवति स्म, तस्यारम्भस्तूत्तरकाले बभूव इत्यस्माभिः पुरस्ताद् निर्दशितम् । यज्ञेषु पशुहिंसा कस्मिन् काले कथं प्रारब्धा इत्यस्य निदर्शनायेदमपि विचारणीयम्—यद् आदिमानवा निरामिषभोजिन

आसन्, उत वा मांसाहारिणः। साम्प्रतिकाः तथाकथिता वैज्ञानिका मानव-शरीरविज्ञानं मानवमानसविज्ञानञ्चावहेल्य कथयन्ति यद् आदौ मानवा आरण्यानां पशूनामाखेटं कृत्वा तेषां मांसैः स्वक्षुधां शमयन्ति स्म। फलमूलैर्निर्वहणं कृष्या चान्नोत्पादनं तैर्बहुकालानन्तरं समधिगतम्।

कल्पनाया अपेक्षयेतिहासस्य प्रामाण्य दृढतरं भवति। तदर्थमिदं द्रष्टव्यं यदेतस्मिन् सम्बध इतिहासः किं ब्रवीति ? अनेनैव साकं मानवशरीररचनायाः सम्बन्धेऽपि विचारणा अत्यन्ताऽऽवश्यकी वर्तते।

आदिमानवा निरामिषभोजिनः

न केवलं भारतीयवाङ्मयमिदं तथ्यं प्रकटयति, अपि तु सर्वसम्प्रदायानामादिग्रन्था अपीदमेव तथ्यं प्रतिपादयन्ति यत् सृष्टेरादौ मानवाः कन्दमूलफलैरकृष्टपच्यैरर्थात् स्वयमुत्पन्नैरन्नैर्निर्वाहं चक्रुः[1]। मांसाहारिणाम् ईसाई-मुसलमानानां बाइबल-कुरानग्रन्थयोरुल्लिखिता हव्वाऽऽदमयोः कथा इदमेव तथ्यं प्रकाशयति। ईश्वरेणैतावादिमानवौ 'अदनस्य' उद्याने रक्षयित्वा एकं फल परित्यज्य समेषां फलानां भक्षणस्यानुज्ञा प्रत्ताऽऽसीत्।

विकासमतानुयायिनोऽनुमानाभासस्याधारेण आदिमानवान् असभ्यान् आखेटजीविनो मन्यन्ते। एतस्य प्रामाण्ये विविधस्थानेषु उत्खननेनोपलभ्यमानानि पाषाणानां कतिपयानि कल्पितशस्त्राण्यपि विकासवादिनां मतानुसारेण पञ्च-सप्तवर्षसहस्रेभ्यः पुरातनानि न सन्ति। भारतीयैतिह्यग्रन्थैरन्यदेशीयग्रन्थैश्च परिज्ञायमानं मानवैतिह्यमतिपुरातनं वर्तते। भारतीय-इतिहासस्तु न्यूनातिन्यूनम् अष्टादशवर्षसहस्राणां क्रमबद्धरूपेणोपलभ्यते। सत्येवं, सत्येतिहासस्य विद्यमाने वृथानुमानस्योदय एव न भवति। भारतीयैतिह्यस्यानुसारेणादिमानवाः कन्दमूलफलानि अकृष्टपच्यानि चान्नानि बुभुजिरे। मानवसमाजे मांसाहारस्य प्रचलनम् उत्तरकाले बभूव (एतस्मिन् विषय अग्रे वक्ष्यते) आधुनिकानामैतिहासिकानामनुसारेण सर्वप्राचीन ऋग्वेदाख्ये धर्मग्रन्थे स्पष्टमुक्तम्—
अजीजन ओषधीर्भोजनाय (ऋ० ५।८३।१०) इत्थमेवाथर्ववेदेऽपि दन्तानुद्दिश्योक्तम्—

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय......।। (६।१४०।२)

---

१. द्र०—पं० भगवद्दत्तकृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग १, पृष्ठ २१०-२१२ (द्वि० सं०)।

अस्मिन् मन्त्रे स्पष्टरूपेण दन्तानां भागा व्रीहि-यव-माष-तिला निर्दिष्टा न तु मांसम् ।

शरीरविज्ञानस्य साक्ष्यम्—भारतीयाः पाश्चात्याश्च सर्वेऽपि चिकित्सकाः समानरूपेण स्वीकुर्वन्ति यन्मानवानां दन्तानामुदरस्थानामान्त्राणाञ्च रचना मांसाहारिणां जीवानामिव नास्ति,अपि त्वेषां कन्दफलमूलभक्षिणां वानराणामिव वर्तते। अत एव सम्प्रत्यनेके पाश्चात्याश्चिकित्सकाः नीरोगजीवनाय मांसाहारस्य त्यागमावश्यकं मन्यन्ते ।

नैतावदेव, घासतृणफलमूलभक्षकाः पशवो बुभुक्षया म्रियमाणा अपि न कदाचिन्मांसं भक्षयन्ति । नैव केनापि वानरा मृगादिपशवश्च मांसं भक्षयन्तो दृष्टाः । मानवोऽपि स्वभावेन निरामिषभोजी वर्तते । अतः स आदिकाले मांसाहारे स्वभावतः प्रवृत्तो नैव भवितुमर्हति ।

मांसाहारस्यारम्भः

पूर्वमस्माभिरुक्तम् यत् प्रजापतेः कश्यपस्य दितिसंज्ञकाया भार्याया उत्पन्ना दैत्या अर्थाद् असुरा अस्याः पृथिव्याः प्रथमशासका आसन्[१] । त अत्यन्तं बलवन्तोऽभूवन् । अत एव ते असुरा (असु=प्राण+र=युक्तः[२]) इति नाम्नः प्रसिद्धिं गताः[३] । एते दैत्या आदौ श्रेष्ठाचारसम्पन्ना अभूवन् । अत एव ते देवशब्देन प्रसिद्धिमगच्छन् । उत्तरकाले एषामसुराणामाचाराद् भ्रष्टेषु सत्सु अदितिसुतेभ्यो भेदनिदर्शनायेमे असुराः पूर्वदेव शब्देन प्रसिद्धा अभूवन्[४] ।

यूनानदेशीयग्रन्थेषु देवानां तिस्रः कोटयो निर्दिष्टाः[५] । तत्र प्रथमकोटिस्था देवा एतेऽसुरा एव । हरक्यूलिसः (सुरकुलेशः=विष्णुः) द्वितीयकोट्या देवः,

---

१. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ ५२ । तथा 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग १, पृष्ठ २१३-२१५ (द्वि० सं०) ।

२. मत्वर्थीयो 'र' प्रत्ययः । यथा—पाण्डुरः, पांसुरः, नगरः ।

३. तस्य वा असुरेवाजीवत्, तेनासुना सुरान् असृजत । तदसुराणामसुरत्वम् । मै० सं० ४।२।१॥

४. अमरकोश १।१।१२ । स पूर्वदेव-चरितम्······महा० सभा० १।१७॥ पूर्वदेवो वृषपर्वा दानवः(नीलकण्ठटीका)। देवान् यज्ञमुषश्चान्यान् असृजत् । द्र० —महा० वनपर्व २२०।१०। अत्र देवानां विशेषणं 'यज्ञमुषः' निर्दिष्टम् । अत एते पूर्वदेवा असुरा ज्ञेयाः । द्र०—असुरसृष्टिमाह—देवान् । नीलकण्ठटीका ।

५. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १, पृष्ठ २१३-२१५ (द्वि० सं०)।

तथा वेक्कसः (=विप्रचित्तिः=दानवः) तृतीयकोटया देवः। दैत्यानां पृथिव्यां निष्कण्टकाधिपत्यात् शनैः शनैस्तेष्वहङ्कारः समुत्पन्नः। तेन च कामक्रोधलोभमोहादयो दुर्गुणाः प्रादुर्बभूवुः। तैः सह सुरापानमांसाहारयोः प्रवृत्तिरभूत्। तथा सति शरीरपोषणमेव तेषां लक्ष्यमभवत्[1]। अस्यामवस्थायाम् असुरशब्दः 'असुषु रमते' इति निर्वचनानुसारं निन्दार्थस्य वाचकः समजायत। अदितेः सुता इन्द्रादयोऽसुरेभ्यः कनीयांसा आसन्। तेभ्योऽसुराः पृथिव्याः भागं (=राज्यम्) नैव प्रददुः[2]। अतो दायभागं निमित्तीकृत्यासुरेषु देवेषु च विरोध उदपद्यत। तद्धेतुका द्वादश महान्तो दैवासुरसङ्ग्रामा बभूवुः[3]। अन्ते च देवा असुरान् पराजित्य तान् स्वर्गान्निर्गमयामासुः[4]। अनन्तरं महता विजयेनैश्वर्यस्य च मदेन देवेष्वपि तामसी प्रवृत्तिः प्रावर्धत। तेऽपि आचारादिषु उच्छृंखलाः सन्तो मांसाहारादिषु च प्रावर्तन्त। देवेषु विष्णुरेक एव मांसाहारदोषान्निर्मुक्त आसीत्[5]। निवृत्तिमार्गानुयायिनः स्कन्दादयः केचन अन्येऽपि देवा मांसाहारदोषान्निर्मुक्ता आसन्।

त्रेतायुगस्यारम्भपर्यन्तम् ऋषिमुनीनां महत्याऽनुकम्पया आर्या आचारविचारेषु सर्वथा पवित्रा आसन्। तदनन्तरं भिन्नमर्यादानां देवानां विशेषसंसर्गेणार्यराजेष्वपि मांसाहारस्य प्रवृत्तिरुद्भूयोत्तरोत्तरं प्रावर्धत। सत्यप्येवम्, ऋषिमुनयः तां प्रवृत्तिं मर्यादायां स्थापनाय समये समये 'वृथा मांसं नाश्नीयात्' इत्यादिप्रतिबन्धान् विदधिरे। एतेन प्रयत्नेनोच्चवर्गीया उच्चकुलीनाश्च मद्यमांसादिदोषेभ्यो मुक्ता अतिष्ठन्त।

---

१. छान्दोग्योप० ८।८।२-५ ॥

२. असुराणां वा इयं पृथिव्यासीत्, ते देवा अब्रुवन् दत्त नोऽस्याः पृथिव्याः। मै० सं० ४।१।१०। तुलना कार्या—काठकसंहिता ३१।८ ॥

३. तेषां दायनिमित्तं वै संग्रामा बहवोऽभवन्। वराहेऽस्मिन् दश द्वौ च षण्डामर्कान्तगाः स्मृताः। वायुपु० ९७।७२॥

४. ततो वै देवा इमामसुराणामविन्दत, ततो देवा असुरान् एभ्यो लोकेभ्यो निरभजन्। मै० सं० ४।१।१०। तु० कार्या—काठक सं० ३१।८॥

५. इदमेव कारणं यत् समस्ता अपि वैष्णवा निरामिषभोजिनः सन्ति। लोकेऽपि 'वैष्णव-भोजनालय' 'वैष्णव ढाबा' इत्यादिनामपट्टप्रयोगेण निरामिषभोजनालयः प्रतीयते।

यज्ञेषु पशुहिंसायाः प्रवृत्तिः

पूर्वमस्माभिर्वर्णितं यद् यज्ञानां प्रादुर्भावः प्रथममसुरेष्वजायत, तदनन्तरञ्च देवा यज्ञान् प्रावर्तयन्[1]। इन्द्रः शतं महाक्रतून् समाहृत्य 'शतक्रतुः' नाम लेभे। अनन्तरञ्च यज्ञानां प्रचारो मानवेषु समजायत। मानवेषु यज्ञप्रवर्तनं त्रेतायुगस्यारम्भे कृतयुगस्य वान्ते बभूव[2]। शनैः शनैर्मानवेषु यज्ञानां प्रवृत्तिः प्रावर्धत। तथा च शतशः काम्यानां नैमित्तिकानाञ्च यज्ञानां सृष्टिरभूत्।

कृतयुगे यदा यज्ञानां प्रवृत्तिर्देवेष्वेवासीत् तस्मिन् काले कदापि यज्ञेषु पशूनामालम्भनं नाभवत्। उत्तरकाले यदा देवेषु मांसाहारस्य प्रवृत्तिर्जनि लेभे, तदा इन्द्रेण यज्ञेषु पशुहिंसा प्रावर्ति। ऋषिभिरस्यानर्थरूपस्य कर्मणो महान् विरोधः कृतः। इन्द्रादिभिर्देवैरहङ्कारमदमत्तैर्ऋषीणां वचनं न स्व्यकारि। इत्थं यज्ञेषु पश्वालम्भनं देवैः प्रारम्भि।

एतस्मिन् विषये कानिचिद् ऐतिहासिकानि प्रमाणान्युपस्थापयामः—

(१) महाभारतस्याश्वमेधिकपर्वणः ९१ तमेऽध्याये, शान्तिपवर्णः ३३७ तमेऽध्याये, अनुशासनपर्वणः ११५ तमेऽध्याये, मत्स्यपुराणस्य १४२ तमेऽध्याये, वायुपुराणस्य च ५७ तमेऽध्याये; **उपरिचरस्य वसोः** कथा विस्तरेणोपलभ्यते। तस्यायं संक्षेपः—

"इन्द्रेण सर्वप्रथममश्वमेधयागे पशूनामालम्भनमकारि। **दीर्घदर्शिन ऋषय इमं नूतनमनर्थं दृष्ट्वोद्विग्ना बभूवुः। तैरुक्तो वेदेषु पशुहिंसाया विधानं नास्ति।** यदि आगमस्थविधिना यजनीयं चेत् त्रिवर्षाधिकपुराणैरजसंज्ञकैः (= अप्ररोहिभिः) बीजैर्यज। मदमोहयोर्वशीभूय इन्द्रेण ऋषीणां वचनं न स्वीकृतम्। इन्द्रेण देवैश्चास्य निर्णयार्थमुत्तानपादस्य पुत्रः उपरिचरो वसुः मध्यस्थत्वेन स्वीकृतः। उपरिचरेण वसुना देवानाम् ऋषीणां च बलाबलं विचार्य

---

१. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ ५१।

२. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ २७, टि० ३।

३. अयं पृषध्रो न मनोः पुत्र इति चरकसंहिताया उक्तवचनेन स्पष्टम्। यतश्चरकस्य वचने मनुपुत्रेभ्यः पृषध्र औत्तरकालिको निर्दिष्टः। अस्मन्मतेऽयं पृषध्रः पुरुरवसः पौत्रो नहुष एवेत्युपरिष्टात् स्पष्टं भविष्यति। अयमेव किञ्चित् कालाय इन्द्रपदे प्रतिष्ठापितोऽभूत्।

देवानां पक्षे स्वनिर्णयः प्रदत्तः। ऋषिभिः पक्षपातेन मिथ्यानिर्णयप्रदानहेतोरुप-रिचरो वसुः शप्तः।"

(२) अग्निवेशकृतायाः (विक्रमात् पञ्चवर्षसहस्रपूर्वभाविन्याः) वैशम्पायनेन चरकनाम्ना प्रसिद्धेन प्रतिसंस्कृतायाः (विक्रमात् त्रिवर्षसहस्रपूर्वभाविन्याः) चरकसंहितायाः चिकित्सास्थाने (१९।४) एकं महत्त्वपूर्णं वचनमस्माभिः पूर्वत्र (पृ० ५७) उद्धृतम्। तेन वचनेन पञ्च तथ्यानि स्पष्टी भवन्ति—

(क)—आदिकाले (=कृतयुगे) यज्ञेषु पशूनामालम्भनं न भवति स्म।

(ख)—[मानवेषु] सर्वप्रथमं मनोः पुत्रैः यज्ञेषु पशूनामालम्भनं प्रावर्ति।

(ग)—वेदेषु पशूनामालम्भनस्य विधानमस्ति इति मिथ्याज्ञानकारणादेव यज्ञेषु पशुहिंसारूपा निन्दनीया प्रवृत्तिः प्रारब्धा।

(घ)—आङ्पूर्वकौ लभलम्भौ द्वौ स्वतन्त्रौ धातू स्तः।[1]

(ङ)—गवालम्भस्य प्रवृत्तिः पृषध्रस्य (अयं मनुपुत्रात् पृषध्रादीत्तर-कालिकः पुरूरवसः पौत्रः) काले अभूत्।

(३) पूर्वोद्धृतस्य चरकवचनस्य संपुष्टिः 'वसिष्ठधर्मसूत्रस्य' वचनेन भवति तदुक्तम्—

> त्रय एव पुरा रोगा ईर्ष्या अनशनं जरा।
> पृषध्रस्तनयं हत्वा अष्टानवतिमाहरेत् ॥ (२१।१३)

अत्र उत्तरार्धस्य पाठो भ्रष्टो वर्तते। शुद्धः पाठः 'पृषध्रस्त्वघ्नियां हत्वा अष्टानवतिमाहरत्' इति ज्ञेयः (द्र०—अग्रिममुद्धरणम्)।

वसिष्ठधर्मसूत्रस्यायं भावः—पुरा [मानवेषु] केवलं त्रय एव रोगा आसन्—ईर्ष्या, क्षुधा, जरा च। पृषध्रो गवामालम्भनं विधाय अष्टानवतिसंख्याकान् नूतनान् रोगानुत्पादितवान्।

(४) पूर्वं वसिष्ठधर्मसूत्रस्य यद् वचनमुद्धृतम्, तस्य सर्वथा समाना प्रतिच्छाया ब्राह्मणधम्मिकसुत्तस्य[2] अष्टाविंशे वचन उपलभ्यते। तत्रोक्तम्—

> तयो रोगा पुरे आसुं इच्छा अनशनं जरा।
> पसूनं च समारम्भा अट्ठनावुतिमाण गमुं ॥

(५) जैनाचार्येण उग्रादित्येन स्वविरचिते 'कल्याणकारक'नामके वैद्यक-

---

१. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ ५७।
२. खुद्दकनिकायान्तर्गते सुत्तनिपाते।

ग्रन्थे २७४ तमे पृष्ठेऽप्ययं प्रसङ्ग उपलभ्यते । यथा—

> अवन्तिषु तथोपेन्द्रः पृषध्रो नाम भूपतिः ।
> विनयं समतिक्रम्य गोश्चकार वृथा वधम् ॥

अर्थाद् अवन्तिषु कश्चिद् उपेन्द्रः पृषध्रनामा[1] भूपतिरभूत्, तेन विनयं समतिक्रम्य गोर्वृथा वधः कृतः ।

(६) महाभारते शान्तिपर्वणः २६५ तमेऽध्यायेऽपि गवालम्भनेनैकशतं रोगाणामुत्पत्तेर्वर्णनमुपलभ्यते । यथा—

> अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति ।
> महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत्तु यः ॥४७॥
>
> ऋषयो यतयो ह्येतन्नहुषे प्रत्यवेदयन् ।
> गां मातरं चाप्यवधीर्वृषभं च प्रजापतिम् ॥४८॥
>
> अकार्यं नहुषाकार्षीर्लप्स्यामहे त्वत्कृते व्यथाम् ।
> शतं चैकं च रोगाणां सर्वभूतेष्वपातयन् ॥४६॥
>
> ऋषयस्ते महाभागाः प्रजास्वेव हि जाजले ।
> भ्रूणहं नहुषं त्वाहुर्न ते होष्यामहे हविः ॥५०॥

अयं भावः—"अघ्न्या (=हिंसितुमनर्हा) इति गवां नाम, क एता हिंसितुं समर्थः? त्वं गोर्वृषभस्य चालम्भनं रूपं महदकुशलं (=हानिप्रदम्) कर्माकार्षीः। पुनर्ऋषय ऊचुः—गां मातरं वृषभं च प्रजापतिं त्वमवधीः, तवानेनाकार्यकर्मणा वयं दुःखं लप्स्यामहे । अनेन कार्येण सर्वभूतेष्वेकशतं रोगाः प्रवर्त्स्यन्ति । महाभागा ऋषयः प्रजानां मध्य एव नहुषं भ्रूणहणमूचुः, तथा च न वयं तव यज्ञं कारिष्यामहे इति निरणयन्त ।

महाभारते शान्तिपर्वणः २६८ तमेऽध्यायेऽपि 'नहुषः प्रथमो गवालम्भकः' इत्युक्तम् । महाभारतस्यास्य प्रसङ्गस्य पूर्वलिखितैर्द्वित्रिचतुःसंख्यकैर्वचनैः तुलनया स्पष्टं भवति—यत् नहुषः पृषध्रश्चैकस्यैव राज्ञो नाम स्तः । महाभारतस्य टीकाकारेण नीलकण्ठेन पूर्वोद्धृतस्य ४७ तमस्य श्लोकस्य चतुर्थचरणस्य

---

१. न मनोः पुत्रस्य पृषध्रस्य, न च पुरुरवसः पौत्रस्य पृषध्रस्य अवन्तेरर्थाद् उज्जयिन्याः कश्चित् सम्बन्ध आसीत् । जैनाचार्यस्योग्रादित्यस्य लेखेऽवन्तेरुल्लेखः कथमभूदिति विचारार्हं वर्तते ।

पाठान्तरं "पृषध्रो गां लभन्निव" इति निर्दिष्टम् । अनेनाप्युक्तमतस्यैव सम्पुष्टिर्भवति (अस्य पाठान्तरस्य नीलकण्ठकृता व्याख्याशुद्धा वर्तते)। महाभारते एकशतस्य[1] रोगाणामुत्पादको नहुष इत्युक्तम् । वसिष्ठधर्मसूत्रे अष्टनवतिरोगाणां प्रवर्तयिता पृषध्र कथितः ।[2] महाभारतोक्तेषु एकशतेषु रोगेषु वसिष्ठधर्मसूत्रोक्तानाम् ईर्ष्या-क्षुधा-जराणाम् त्रयाणां प्राचीनरोगाणामपि संख्या सङ्कलितास्ति । चरकसंहितायाः चिकित्सास्थानस्य (१९।४) अनुसारेणाष्टनवतिषु नवीनेषु रोगेषु 'अतिसार' नामाप्येको महान् रोग आसीत् ।

पृषध्र इति कस्य नहुषो नाम ?

एकः पृषध्रो मनुपुत्राणां नाभागेक्ष्वाकुशर्यात्यादीनां भ्राता अभूत् । अयं पृषध्रो गवामालम्भनस्य प्रवर्तयिता न भवितुमर्हति । यतः चरकसंहितायामुक्तोद्धरणे (पृ० ५७) गवालम्भप्रवर्तयितारं पृषध्रं मनोः पुत्रेभ्यो नाभागेक्ष्वाकुशर्यातिभ्योऽवरकालिकम् इत्युक्तम् । गवालम्भप्रसङ्गे पृषध्रनहुषौ पर्यायौ स्त इति पूर्वोक्तैः प्रमाणैः स्पष्टं भवति । इतिहासे नहुषनामकौ द्वौ राजानौ प्रसिद्धौ। एकश्चन्द्रवंश्यः, अपरः सूर्यवंश्यः (बाल्मीकीयरामायणानुसारेण) ।

महाभारतस्य 'नहुषः पूर्वमालेभे त्वष्टुर्गामिति नः श्रुतम्' (शान्ति० ३६८। ६) इति श्लोके श्रुतः त्वष्टा द्वादशादित्येष्वन्यतमः । अतः त्वष्ट्रा सह श्रुतो नहुषश्चन्द्रवंश्यो नहुष (पुरूरवसः पौत्रः) एव सम्भवति । सूर्यवंश्यो नहुषो बह्वोत्तरकालिकः, स त्वष्टुः समकालिको न भवितुमर्हति । अस्य पुष्टिरुग्रादित्यस्य पूर्वनिर्दिष्टेन (सख्या ५) श्लोकेनापि भवति । तस्मिन् नहुषस्य 'उपेन्द्र' इति विशेषणं निर्दिष्टमस्ति । महाभारतस्योद्योगपर्वणि लिखितमस्ति—'ब्रह्महत्याभयेन इन्द्रे अन्तर्हिते सति देवाः पुरूरवसः पौत्रं नहुषम् इन्द्रस्य स्थानेऽधिस्थापयामासुः (अ० ११) । एतेन सम्मानमदेन हतबुद्धिर्नहुषः इन्द्राणीं स्वभार्यां भावयितुं चेष्टयामास (अ० ११।१७-१९) । ऋषिभिश्च

---

१. एकं च शतं च=एकशतम् एकोत्तरशतमित्यर्थः । द्र०—महाभाष्ये (१।१। आ० १) एकशतमध्वर्यु शाखाः प्रयोगः । अत्र पञ्चदश शुक्लयजुर्वेदस्य, षडशीतिः कृष्णयजुर्वेदस्य । आहत्य १५+८६=१०१ शाखा उक्ताः ।

२. ब्राह्मणधम्मसुत्ते (२७-२८) इक्ष्वाकुः पशुयज्ञप्रवर्तको गवालम्भप्रवर्तकश्च निर्दिष्टः । तेनैव च गोघातेन अष्टानवतिरोगाणां समुत्पत्तिरुल्लिखिता । अस्मन्मते ब्राह्मणधम्मसुत्ते इक्ष्वाकोर्निर्देशे काचिद् भ्रान्तिः कारणं स्यात् ।

स्वीयां शिविकामुत्थापयामास (अ० १७।२५) एतादृशस्य हतबुद्धेः पुरुषस्य गवालम्भप्रवर्तनं सम्भवति ।

सम्प्रति यज्ञेषु पश्वालम्भनप्रवृत्तेः किं कारणमभूद् इति विचार्यते—

यज्ञेषु पश्वालम्भविधायकभ्रान्तेर्द्वे प्रधानकारणे

प्रथमं कारणम्—'वेदेषु पशुहिंसाया विधानमस्ति' इति भ्रान्त्यैव यज्ञेषु हिंसा प्रवृत्ता । इदं चरकसंहितायाः पूर्वोद्धृते वचने **'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्'** इति पाठेन, उपरिचरवसोश्च **'संहितामन्त्रा हिंसालिङ्गाः'** (वायुपुराण ५७, १०७) कथनेन स्पष्टम् । अस्य भ्रमस्यापि द्वे कारणे स्तः । एकम्—अजादि-शब्दानामनेकार्थत्वम्, द्वितीयम्—**'आलभ आलम्भ'** क्रिययोः साङ्कर्यम् ।

अजशब्दार्थे भ्रमः

अजशब्दस्य द्वावर्थौ स्तः । एकः **छागः**, अपरः **'प्ररोहणसामर्थ्यरहितः'** । प्राचीनागमग्रन्थेषु **अजैर्यष्टव्यम्** इत्यादिवाक्येषु अजशब्दः छागस्य वाचकः, अथवा **'प्ररोहणसामर्थ्यरहितस्य'** अर्थस्य वाचकः, अस्य मीमांसामकृत्वा **'योगाद् रूढिर्बलीयसी'** इति न्यायेन 'अजशब्दस्य छागार्थग्रहणेन यज्ञेषु पशुहिंसा प्रावर्ति' । अत्र कानिचित् प्रमाणानि उद्धरामः—

(क) महाभारतस्य शान्तिपर्वणः ३३७ तमेऽध्याये देवानां ऋषीणाञ्चैकः संवाद उपलभ्यते । तत्रोक्तम्—

अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान् ।
स च छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः ।।

ऋषयः ऊचुः

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ ।।
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वै बध्यते पशुः ।।

अत्र अजशब्दस्य छागोऽर्थ इति देवानां मतमुक्तम् । ऋषयश्च अजसंज्ञानि बीजानि इत्याहुः । पशूनां वधो नैव सतां धर्म इति च प्रोचुः ।

(ख) यद्यप्युक्तप्रकरणे कानि अजसंज्ञकानि बीजानीति न स्पष्टी भवति, तथापि वायुपुराणान्तर्गतायामुपरिचरवसोः कथायामुक्तम्—

'यज्ञबीजैः सुरश्रेष्ठ येषु हिंसा न विद्यते ।
त्रिवर्षपरमं कालमुषितैरप्ररोहिभिः ॥५७।१००,१०१॥

वायुपुराणस्यास्मिन् श्लोके अजशब्दस्यार्थं अप्ररोहिभिः शब्देन निर्दशितः । अप्ररोहित्वस्य निदर्शनाय 'त्रिवर्षपरमं कालमुषितै'रित्युक्तम् । एतेन वचनेन इदमपि ध्वन्यते यद् ऋषीणां मते क्षेत्रेषु प्ररोहणसमर्थैर्धान्यैरपि यज्ञानुष्ठानमनुचितम्, किं पुनः पशुभिः ।

(ग) मत्स्यपुराणेऽपि उपरिचरवसोः कथायामुक्तम्—

यज्ञबीजैः सुरश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिमोषितैः ॥१४३।१४॥

अत्र त्रिवर्गपरिमोषितैः इत्यस्य स्थाने त्रिवर्षपरमोषितैः इति पाठेन भाव्यम् ।

(घ) महाभारते पुराणेषु च अजशब्दस्य योऽर्थो निर्दिष्टः; स जैनग्रन्थेष्वप्युपलभ्यते । तदुक्तं स्याद्वादमञ्जर्याम्—

"तथाहि किल वेदे 'अजैर्यष्टव्यम्' इत्यादिवाक्येषु मिथ्यादृशोऽजशब्दं पशुवाचकं व्याचक्षते । सम्यग्दृशस्तु जन्माप्रायोग्यं त्रिवार्षिकं यवव्रीह्यादि, पञ्चवार्षिकं तिलमसूरादि, सप्तवार्षिकं कङ्कुसर्षपादि धान्यपर्यायतया पर्यवसायन्ति ।।" (द्र०—२३ तमस्य श्लोकस्य व्याख्या, पृष्ठ १०७, १०८) ।

(ङ) अस्यैव प्रतिध्वनिः पञ्चतन्त्रेऽप्युपलभ्यते । तद्यथा—

"एतेऽपि याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति, ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति । तत्र किलैतदुक्तम्—'अजैर्यष्टव्यम्' । अजा व्रीहयः सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते, न पुनः पशुविशेषः ।।" काकोलूकीयं, कथा २, १०४ श्लोकानन्तरम् ।

अत्रापि अजशब्दस्यार्थः सप्तवार्षिका व्रीहय उक्ता न पुनः पशुविशेषः । एतेन विस्पष्टं यदोत्तरकाले भ्रान्त्या अजशब्दस्यार्थश्छाग इति स्वीकृतम्, ततो यज्ञेषु पशुहिंसा प्रवृत्ता ।

पुरुष-अश्व-गो-अविशब्दानामर्थेषु भ्रान्तिः

यथा अजशब्दस्यार्थे भ्रान्त्या छागस्यालम्भनं यज्ञेषु प्रवृत्तम्, तथैव पुरुष-अश्व-गो-अविशब्दानामपि वास्तविकार्थस्याविज्ञानाद् यज्ञेषु पुरुषादीनामालम्भनं

---

१. अत्र 'यज्ञबीजैः' इत्यस्य स्थाने 'यज बीजैः' इति पाठः स्यात् । 'यज्ञबीजैः' इति पाठे क्रियाया अभावाद् वाक्यार्थोऽपरिसमाप्त इव तिष्ठति । एवम् उत्तरे मत्स्यपुराणोद्धरणेऽपि ज्ञेयम् ।

प्रवृत्तम् । वैदिकयज्ञप्रकरणे पुरुषादीनां कस्मिन्नर्थे तात्पर्यमिति पूर्वत्र विस्तरेण स्पष्टीकृतम् । अतः पुनरिह पिष्टपेषणं न क्रियते ।

द्वितीयं कारणम्—यज्ञेषु पश्वालम्भप्रवृत्तेः—

आलभ आलम्भयोः साङ्कर्यम्

पाणिनेः प्रागेव संस्कृतभाषातः शुद्धस्य **लम्भ** धातोर्तिङन्तप्रयोगाणामुच्छेदो बभूव । अतः तात्कालिकैर्वैयाकरणैर्लम्भधातुर्धातुपाठेषु न पठितः । लम्भधातो-र्निष्पन्ना भाषायां ये प्रयोगा अवशिष्टा आसन्, तेषां सम्बन्धो लभधातोर्नु-मागमं विधाय संयोजितः । अत आलभ आलम्भ इत्येतौ समानार्थकाविति मिथ्या धारणा प्रचलिता । तस्याधारेणापि यज्ञेषु पशुहिंसा प्रावर्तत । **लभ-लम्भ** द्वौ स्वतन्त्रौ धातू स्तः । अस्मिन् विषये अस्माभिः पूर्वत्र (द्र०—५७) विस्तरेण प्रतिपादितम् ।

उपसंहारः

अस्माभिरत्र **'श्रौत-यज्ञ-मीमांसा'** प्रकरणे श्रौत-यज्ञ-सम्बन्धिषु अनेकेषु विष-येषु विस्तरेण ये विचाराः प्रस्तुताः, तेषामयं संक्षेपः—

१—मन्त्रेषु प्रयुक्तस्य यज्ञशब्दस्य द्रव्यमययज्ञैः साक्षात् सम्बन्धो नास्ति ।

२—मन्त्रेषु निर्दिष्टाः सर्वेऽपि यज्ञा आधिदैविकाः सृष्टियज्ञा एव ।

३—इन्द्रियैरग्राह्याणां परोक्षभूतानामाधिदैविकानां सृष्टियज्ञानां व्याख्या-नाय द्रव्यमयानां श्रौतयज्ञानां परिकल्पना ऋषिभिः कृता । यथा—भूगोल-खगोलयोर्बोधाय तयोर्मानचित्राणि परिकल्प्यन्ते, तेषां वर्णनाय च भूगोल-खगोलविषयका ग्रन्थाः प्रकाश्यन्ते; अथवा परोक्षभूतानां लौकिकानामैति-हासिकघटनानां प्रत्यक्षबोधाय नाटकानि लिख्यन्ते मञ्चेषु चाभिनीयन्ते, तथैव सृष्टियज्ञानां बोधाय यज्ञवेदिं निर्माय सृष्टियज्ञा अभिनीयन्ते ।

४—श्रौतयज्ञानाम् आधिदैविकस्य जगत आध्यात्मिकस्य च सूक्ष्माणां परोक्षभूतानां च घटनानां क्रियाकलापानां वा विज्ञापनमेव मुख्यमुद्देश्यं वर्तते । एषामानुषङ्गिकं फलं वायुजलादीनां द्रव्याणां शुद्धता तया च प्राणिनां सुखप्राप्ति-र्वर्तते । प्रत्याहुति **'इदन्न मम'** इति सङ्कल्पेन नैष्कर्म्यभावेन जीवनयापनस्योप-देशः, तेन च मोक्षप्राप्तिरपि फलं विज्ञेयम् ।

५ –सृष्टेरादौ द्रव्यमया यज्ञाः प्रचलिता आसन् । उत्तरकाले वेदमन्त्राणा-माधारेण यज्ञानां प्रचलनं प्रथममसुरेषु बभूव, ततो देवेषु, तदनु मानवेषु ।

६—कश्यपप्रजापतेः पुत्रा असुराः प्रारम्भे वैदिकमर्यादानुसारेण शुद्धं सात्त्विकं च जीवनं यापयन्ति स्म। अतस्ते लोकेषु मानार्हा अभूवन्। कालान्तरे यदा ते राजमदेन मत्ता बभूवुः, तदा कामक्रोधलोभादिदोषाणां प्रादुर्भावाद् भ्रष्ट-चरिताः सन्तो निन्दिता अजायन्त। दायभाग-निमित्तेषु देवासुरसङ्ग्रामेषु प्रवृत्तिषु यदा देवा असुरान् पराजित्य स्वर्गात् (त्रिविष्टपात्) निर्गमय्य निष्कण्टकं राज्यं लेभिरे, तदा तेऽपि असुराणामिव राज्यमदेन मत्ताः कामक्रोधलोभादि-दोषैर्वैदिकमर्यादातः परिभ्रष्टा बभूवुः। देवेन्द्रस्य कदाचाराणां बह्व्यः कथा इतिहासपुराणेषु प्रसिद्धाः सन्ति।

देवासुरसङ्ग्रामेषु भारतीयैरनेकै राजभिर्देवानां साहाय्यमकारि, येन देवा विजयिनो बभूवुः। अतोऽनेके भारतीया नरेशा इन्द्रस्यार्धसिंहासनस्याधि-कारिणोऽजायन्त। इत्थं पतनोन्मुखैर्देवैः सह भारतीयराजानां सम्बन्धात् तेऽपि शिथिलमर्यादा बभूवुः। (एतस्य विज्ञानम् उपरिचरवसोः कथायाः सम्यग् भवति)। भारतीयैर्ऋषिमुनिभिर्मानवेषु चिरकालं वैदिकचारित्र्यरक्षणाय महान् प्रयासः कृतः। तथाप्युत्तरकालं **यथा राजा तथा प्रजे**ति न्यायेन यदा ब्राह्मणा अपि कामक्रोधलोभादिदोषैर्दूषिता मर्यादापरिरक्षणे शिथिला अजा-यन्त, तदा यज्ञेषु पशुहिंसाया मद्यमांसादीनाञ्च प्रवृत्तिरजायत।

७—श्रौतसूत्रेषूत्तरोत्तरं देशकालानुरूपं परिवर्तनानि परिवर्धनानि च समजायन्त, विविधकामनानां पूर्त्यै काम्ययज्ञा अपि प्रचलिताः। यज्ञेषु बाह्या-डम्बराणां वैदिकभावनाप्रतिकूलांशानामपि सम्मिश्रणमजायत।

८—विभिन्नप्रकारकाणां काम्यादियज्ञानामुपक्रमे विनियोगानुरूपे मन्त्रे अनुपलब्धे पद-अक्षर-वर्णमात्रसादृश्येन विनियोगस्य प्रथा प्रावर्ति, नूतनाश्च कर्मकाण्डोपयोगिनो मन्त्रा विरचिताः (एषां गृह्यसूत्रेषु बाहुल्यं दृश्यते)।

९—यज्ञविषयकेनादृष्टवादेन मन्त्रानर्थक्यवादो जनिमालेभे।

१०—सृष्टियज्ञगतेषु पुरुषमेध-अश्वमेध-गोमेधादिषु क्वचिदपि पशुतत्त्वस्य हिंसा (=नाशः) न बभूव। दैवीशक्तीनामालभनेन (=स्पर्शन=सहयोगेन) पुरुषादिषु गुणान्तराधानमेव बभूव, भवति च।

११—सृष्टियज्ञान्तर्गता ये पुरुषमेध-अश्वमेध-गोमेधादयः सन्ति तेषां प्रति-निधिरूपेणैव द्रव्यमययज्ञेषु पुरुष-अश्व-गवादयः पशव उपस्थाप्यन्ते, ते च पर्य-ग्निकरणानन्तरं तत्तद्देवतानिर्देशपूर्वकं स्पर्शयित्वोत्सृज्यन्ते।

१२—पशुयागेषु विहितस्य पशुपुरोडाशस्य विधानं मूलतो यज्ञीयपशोरुत्सर्गे कृते आरब्धस्य कर्मणः पूर्त्यर्थमेवाभूत् ।

१३—आलभते, आलभेत इत्यनयोः पदयोरर्थं आलम्भनं (=हिंसनम्) नास्ति । मूलतो लभलम्भौ द्वौ स्वतन्त्रौ धातू स्तः । व्याख्यातृभिः धात्वैक्यस्य व्यामोहेनैव आलभते आलभेत पदयोरर्थः हिंसनं क्रियते ।

१४—मानवा आदिकाले निरामिषभोजिन एवासन् । एषां शरीररचनापि आमिषभोजिभ्यो भिन्ना वर्तते । फलमूलकन्दादिभक्षिणाञ्च वानरादीनां सदृशा अस्ति, इत्याधुनिकाश्चिकित्सका अपि मन्यन्ते ।

१५—यज्ञीयस्य अजशब्दस्यार्थोऽपि न छागः; अपि तु प्ररोहणधर्मशून्यानां त्रिसप्तवर्षपुरातनानां धान्यबीजानामेव अज इति नाम ।

एभ्यो प्रमुखविषयेभ्योऽतिरिक्ता अपि प्रसक्तानुप्रसक्तरूपेणानेके यज्ञीयविषया इह प्रस्तुताः ।

मूलतो द्रव्यमययज्ञेषु पशुहिंसाया अभावेऽपि सम्प्रत्युपलब्धेषु वेदानां शाखा-ब्राह्मण-श्रौतादिग्रन्थेषु यत् पशुहिंसाया विधानं दृश्यते तदुत्तरकाले याज्ञिकैः संयोजितः स्यात्, यद्वा **विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानं** (मीमांसा १।३।३) इति जैमिनीयन्यायानुसारं वेदविरुद्धं पशुहिंसाविधानमुपेक्षणीयं भवितुमर्हति । दयानन्दसरस्वतीस्वामिना शाखाब्राह्मणादिषूपलब्धानां हिंसापरकवचनानां सम्बन्धे "उत्तरकाले हिंसापरकवचनानि कैश्चित् प्रक्षिप्तानि" इत्यत्र प्रबलहेतोरभावाज्जैमिनीयन्यायमनुसरता अलेखि—**जो ब्राह्मण वा सूत्र वेदविरुद्ध हिंसापरक हो उसका प्रमाण न करना** (द्र०—संस्कारविधौ वेदारम्भसंस्कारस्यान्ते) ।

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

सूक्ष्माः परोक्षा घटनाः सृष्टौ याः सन्ति चित्रिताः ।
आध्यात्मिक्यधिदैविक्यस्तासां यागत्वकल्पना ॥१॥

ऋषिभिः कल्पिता पूर्वं रहस्यज्ञापनेहया ।
सूर्यादयः पदार्था ये पशुशब्दैः समीरिताः ॥२॥

गोऽश्वाऽविपुरुषाः शब्दा मेधान्तास्तत्र कल्पिताः ।
न साक्षात् पशवस्तेऽत्र नहि तेषां विहिंसनम् ॥३॥

अद्भुता घटनास्ताः स्युर्ज्ञाताः सर्वैरितीहया ।
पुरा त्रेतायुगे यागा ऋषिभिः कल्पिता भुवि ॥४॥

निष्कामा एव ते पूर्वं श्रौतयागाः प्रवर्तिताः ।
द्रव्यत्यागप्रवृत्त्यर्थाः समाजोन्नति-साधकाः ॥५॥

स्वल्पप्रयास-साध्यास्त आडम्बरविवर्जिताः ।
सृष्टि-यागाभिनीत्यैव श्रौत-याग-प्रवर्तनम् ॥६॥

यथा नाट्ये प्रदर्श्यन्ते मिथ्यापात्राणि साम्प्रतम् ।
तथैव ते पुराऽभूवन् सृष्टियागाभिनायकाः ॥७॥

नान्यल्लक्ष्यं पुरा किञ्चित्तेषामासीदिति ध्रुवम् ।
प्रजा-शिक्षणकामास्तेऽप्यासन् विश्वजिदादयः ॥८॥

राजसूयादयोऽप्येवमश्वमेधादयस्तथा ।
प्रजासु त्यागशिक्षार्थमध्वरा एव तेऽभवन् ॥९॥

शतक्रतुरभूच्छक्रो राजानोऽप्यश्वमेधिनः ।
सूर्यप्रतीकयज्ञोऽसावश्वमेधः प्रवर्तितः ॥१०॥

पर्यग्निकरणस्यान्तेऽश्वमोकः स्पर्शपूर्वकः ।
पशुयागे पुरोडाशो विहितोऽङ्गप्रपूर्तये ॥११॥

इत्थं वैज्ञानिकैः सर्वैर्ऋषिभिः कल्पिता मखाः ।
आसन्नहिंसया सिद्धाः सृष्टियज्ञप्रतीकिनः ॥१२॥

गतेऽथ बहुले काले काम्ययागादयोऽभवन् ।
आडम्बरादयो दोषा विनियोगादिकल्पनाः ॥१३॥

मनुष्य-दोष-बहुलाः श्येनाभिचरणादयः ।
विविधा ब्राह्मणैर्यागा अमर्यादाः प्रवर्तिताः ॥१४॥

कामराग-प्रवृत्त्या चालस्यान्नादिप्रदोषतः ।
अज्ञानेन प्रमादेन जिह्वालौल्येन कर्मणा ॥१५॥

इन्द्रादिदेवपक्षेण वसुपरिचरेण हि ।
वञ्चयित्वर्षिसन्दिष्टं तथ्यमर्थं श्रुतिस्थितम् ॥१६॥

अजशब्दस्य बीजार्थं छागार्थे विनियुञ्जता ।
हिंसा प्रवेशिता तत्र ऋतावध्वर-संज्ञके ॥१७॥

द्रष्टव्यो भारते ग्रन्थे शान्तिपर्वणि सुस्फुटम् ।
मुन्यग्न्यग्निमिते (३३७) ऽध्याये संवादोऽप्यृषिदेवयोः ॥१८॥[1]

अपि च—

श्रौतमार्गं समुद्दिश्य श्रौतयज्ञस्य प्रक्रियाः ।
मीमांसिता हि लेशेण यज्ञमार्ग-विशुद्धये ॥

पशुहिंसा प्रतिषिद्धा सच्छास्त्रवचनैरिह ।
न तु मीमांसकख्याति गतोऽस्मीत्यभिमानतः ॥

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि ।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते ॥

इति युधिष्ठिरमीमांसकविरचिता
श्रौत-यज्ञ-मीमांसा
सम्पूर्णा
शुभं भवतु लेखक-पाठकयोः

———

१. इमे श्लोकाः काशीस्थविद्वन्मण्डलाध्यक्षैः विविधशास्त्रपारावारीणैः श्रीमद्भिर्दर्शनकेसरीत्युपनामकैर्गोपालशास्त्रिभिर्मीमांसाशाबरभाष्यस्य 'आर्षमत-विमर्शिन्या' हिन्दीव्याख्यायां निबद्धां 'श्रौत-यज्ञ-मीमांसा' पठित्वा संप्रेषिताः ।

दाक्षायणादीनां गुणताधिकरणस्य पर्यालोचना

[श्रौत-यज्ञ-मीमांसायाः १३ तमे पृष्ठे ३० तमायां पङ्क्तौ निर्दिष्टो विशेषविचारः]।

अस्ति द्वितीयाध्यायस्य तृतीयपादे पञ्चमसूत्रादारभ्यैकादशसूत्रं यावद् 'दाक्षायणादीनां गुणताधिकरणं' नाम चतुर्थमधिकरणम्। अस्मिन्नधिकरणे शबरस्वामिना 'दाक्षायणयज्ञस्य कर्मान्तरत्वं प्रतिषिध्य दर्शपूर्णमासयोरेव कर्मावृत्तिरूपगुणविधिः' इति सिद्धान्तितम्। इत्थमेव च प्रायेण सर्वे मीमांसकाः स्वीकुर्वन्ति। अस्माभिस्तु श्रौतयज्ञमीमांसायां विकृतियागोदाहरणप्रसङ्गे दाक्षायणेष्टेर्निर्देशोऽकारि[1]। तत्राप्राकरणिकत्वात् दाक्षायणेष्टिः कथं विकृतिरूपेति न प्रपञ्चितम्। 'वेदार्थकल्पद्रुम' संज्ञके ग्रन्थे करपात्रिस्वामिनां करपात्रस्वामिनां[2] वा सहायकेन केनचिन्मीमांसकमन्येन अस्मदीयनिर्देशस्य महता घटाटोपेनालोचना कृता।[3] अतोऽत्रास्मिन् विषये किञ्चिल्लिख्यते।

तैत्तिरीयसंहितायां दर्शपूर्णमासप्रकरण एव दाक्षायणयज्ञविधानस्य दर्शनात् तैत्तिरीयसंहिताध्येत्रा शबरस्वामिना दाक्षायणादीनामिष्टीनां वचनान्युद्धृत्य दाक्षायणेष्टेर्दर्शपूर्णमासयोरेवाभ्यासविकारत्वम् उपपादितम्—दर्शपूर्णमासयोरेव विकार एवंजातीयकः स्याद् दाक्षायणयज्ञादिः। एवं च प्रकरणमनुगृहीतं भवति

---

१. द्र०—मीमांसाशाबरभाष्यस्य आर्षमत-विमर्शिनी हिन्दीव्याख्या, भाग १, पृष्ठ ९३॥

२. वेदार्थपारिजातस्योभयोः खण्डयोरुभयथाऽपि प्रयोग उपलभ्यते।

३. भाग २, पृष्ठ २०९९। दाक्षायणयज्ञः, न त्विष्टिरित्यपि तत्र लेखकेनोक्तम्। दर्शपूर्णमासयोरेवाभ्यासविकाररूपगुणताविधानपक्षेऽपि दर्शपूर्णमासयोरिष्टित्वे (दर्शेष्टिः, पूर्णमासेष्टिः प्रयोगे) सति दाक्षायणयज्ञस्येष्टित्वं कथं वारयितुं शक्यते। दर्शपूर्णमासदाक्षायणचातुर्मास्यप्रभृतीनामिष्टित्वेन यागत्वेन चोभयथा व्यवहारः, अग्निष्टोमादीनां यागत्वेनैव व्यवहारो याज्ञिकसम्प्रदाये।

(मी० भा० २।३।८) इति । भट्टकुमारिलादयः सर्वेऽप्याधुनिका मीमांसकास्तैत्तिरीया एव । अतस्तैरपि तथैव प्रतिपादनमकारि । अस्माभिस्तु दाक्षायणयज्ञस्य प्रक्रिया यथावत् समालोच्य विविधग्रन्थेषु दाक्षायणयज्ञस्य चोदनावाक्यं च प्रकरणान्तर उपलभ्यैष निर्णयः कृतो यद् दाक्षायणेष्टिर्न दर्शपूर्णमासयोरेवाभ्यासगुणरूपाऽपि तु स्वतन्त्रं कर्म ।

एतस्मिन् विषये विस्तरेण स्वयं विवेचनामकृत्वा तैत्तिरीयशाखाध्येत्रा कुतूहलवृत्तिकारेण वासुदेवदीक्षितेन यन्निर्णीतं तदेवेह प्रस्तूयते—

'तदेतदपरे न क्षमन्ते । न हि दर्शपूर्णमासयोः सन्निधौ दाक्षायणयज्ञादिविधिः, येन तत्र गुणविधानं स्यात् । कौषीतकब्राह्मणे हि तृतीयेऽध्याये[1] दर्शपूर्णमासावनुक्रम्य चतुर्थेऽध्याये "अनुनिर्वाप्यया वै देवाः" इत्यादिना पूर्णमासे दर्शे च संस्थिते वैमृधमादित्यं च यागं[2] विधाय "अथातोऽभ्युदितायाः[3]" इत्यादिनाभ्युदितेष्टिं विधाय "अथातोऽभ्युद्दृष्टायाः[4]" इत्यादिनाभ्युद्दृष्टेष्टिं च विधाय "अथातो दाक्षायणयज्ञस्य[5]" "दाक्षायणयज्ञेनेष्यन् फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां प्रयुङ्क्ते[6]" इत्यादिना दाक्षायणयज्ञमनुक्रम्य "अथातः साकम्प्रस्थाय्यस्य[7]" "अथातो मुन्ययनस्य[8]" "अथातस्तुरायणस्य[9]" "अथात आग्रयणस्य[10]" "अथातश्चातुर्मास्यानाम्[11]" इत्यादिना बहूनि कर्माण्यनुक्रान्तानि । तत्राथशब्देन प्रकरणविच्छेदात् "अथैष ज्योतिः[12]" इत्यादिवद्[13] उत्पत्तिशिष्टसंज्ञान्तरकत्वात् प्रकृतकर्मणि संज्ञान्तरस्य समावेशासम्भवाच्च कर्मान्तरत्वमेव

---

१. कौ० ब्रा० अ० ३, खण्ड १—१२ ॥
२. कौ० ब्रा० अ० ४, खण्ड १ । ३. कौ० ब्रा० अ० ४, खण्ड २ ।
४. कौ० ब्रा० अ० ४, खण्ड ४ ॥
५. कौ० ब्रा० अ० ४, खण्ड ४ ॥
६. कौ० ब्रा० अ० ४, खण्ड ४, ५, ६, कं० १-११ ॥
७. कौ० ब्रा० अ० ४, खण्ड ६, कं० १२-१६ ॥
८. कौ० ब्रा० अ० ४, खण्ड ७, कं० १-४ ॥
९. कौ० ब्रा० अ० ४, खण्ड ७, कं० ५-१४ ॥
१०. कौ० ब्रा० अ० ४, खण्ड ८-१० ॥
११. कौ० ब्रा० अ० ५, खण्ड १ ॥
१२. ताण्ड्य ब्रा० १६।८।१ ॥
१३. द्र०—संज्ञाकृतकर्मभेदाधिकरणम्, मी० २।२, अधि० ८, सूत्र २२ ॥

युक्तम् । नापि दाक्षायणशब्दो दर्शपूर्णमासयोरावृत्तिगुणयोगाद् वर्तितुमर्हति । **'न हि दक्षस्येमे दाक्षा ऋत्विजः, तत्कर्तृकमयनमावृत्तिः**[1]" इत्यवयवव्युत्पादनमुचितं, येन वाक्यान्तरप्रसिद्धगुणपरत्वं स्यात् । **"दक्षो ह वै पार्वतिरेतेन यज्ञेनेष्ट्वा सर्वान् कामानवाप**[2]" **"स वै दक्षो नाम तद्यदनेन सोऽयजत तस्माद् दाक्षायणयज्ञः [नाम]**[3] इत्याख्या इति कौषीतकवाजसनेयकयोरन्यथैव निर्वचनावगतेः । किञ्च दाक्षायणशब्दस्यावृत्तिगुणपरत्वे तन्मात्रस्य फलाय विधानापत्तौ **"पौर्णमास्यामैन्द्रं सांनाय्यम्**[4] **"मैत्रावरुण्यामिक्षयामावास्यायां यजेत"**[5] इत्यादिगुणानां फलार्थत्वानुपपत्तिः । अतो दाक्षायणशब्दस्य गुणविधिपरत्वासम्भवात् कर्मान्तरत्वमेव युक्तम् । एवं शतपथब्राह्मणेऽपि हव्यवाहकाण्डे[6] दर्शपूर्णमासावनुक्रम्य सम्भरणकाण्डे[7] आधानं पुनराधानमग्निहोत्रं चानुक्रम्य दाक्षायणयज्ञोऽनुक्रान्तः । तथा च प्रकरणविच्छेदात् कर्मान्तरत्वमेव युक्तम् । यद्यपि तैत्तिरीयादिशाखायां दर्शपूर्णमासप्रकरणे दाक्षायणादिवाक्यं श्रुतम्, तथापि दाक्षायणादिशब्दस्य गुणपरत्वमुक्तरीत्यानुपपन्नमिति कर्मान्तरत्वमेव युक्तम् । **अधिकरणन्तु गवामयनप्रकरणस्थोत्सर्गिणामयनादिविषयं योज्यमित्यास्तां तावत् ।।**" द्र०—कुतूहलवृत्तिः २।३।११ सूत्रे ।

कुतूहलवृत्तिकारेण एतदधिकरणविषये यदुपपादितं तत् सर्वथा युक्तियुक्तम् । वस्तुतस्तु मीमांसाशास्त्रं चतुरो वेदान्, तेषां सर्वाः शाखाः, सर्वाणि ब्राह्मणानि चाभिव्याप्य प्रवृत्तम् । यां कांचन शाखां तदीयं ब्राह्मणं वाऽग्रेकृत्वा यदि कश्चिन्मीमांसको यं कंचिद् सिद्धान्तं प्रतिपादयति स एव सिद्धान्तः सर्वैर्मीमांसकैरभ्युपगमनीय इति तु परं हास्यास्पदम् ।

यदीत्थमेव स्वीकार्यं भवेच्चेत् 'सर्वशाखाप्रत्ययैककर्मताधिकरणस्य' (मी० २।४, अधि० २) किं प्रयोजनं स्यात् । तस्मात् सर्वाः शाखाः सर्वाणि च ब्राह्मणानि यथासामर्थ्यमवलोक्यैव राद्धान्तोऽभ्युपगन्तव्यः । अत एवोक्तम्—

---

१. द्र०—शाबरभाष्यम् २।३।१० ।।

२. कौ० ब्रा० अ० ४, खण्ड ४, कं० ५ ।।

३. शत० ब्रा० २।४।४।२ ।।

४. तै० संहितायाम् 'पौर्णमासे सन्नयेत्' (२।५।५।४) इत्येव पाठः । सान्नायमैन्द्रं भवति अतोऽर्थतोऽयमनुवादः ।

५. तै० सं० २।५।५।४ ।।

६. प्रथमकाण्ड इत्यर्थः ।

७. द्वितीयकाण्ड इत्यर्थः ।

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिर्णयम् ।
तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः ।।
सुश्रुत सूत्रस्थान ४।६।।

यदिदं भगवता सुश्रुतेन चिकित्सकविषय उक्तम्, तत् सर्वविषयकेषु शास्त्रेषु सामान्यरूपेण विज्ञेयम् । मीमांसाशास्त्रविषये तूक्तवचनं सर्वथा समादरणीयम् । अन्यथा यथा दाक्षायणेष्टिविषये तैत्तिरीयशाखामात्रावलम्बिनः शबरस्वाम्यादयो यथा भ्रान्ता तथाऽस्मिन् शास्त्रे पदे पदे स्खलनं सम्भवति । इत्यलमतिपल्लवितेन ।

श्रौत-यज्ञ-मीमांसा

[आर्य-भाषा]

श्रीकरपात्रस्वामीविरचित
'वेदार्थपारिजात' में

श्रौत-यज्ञ-मीमांसा की आलोचना

[मैंने मीमांसा शाबर भाष्य की 'आर्षमत विमर्शनी' हिन्दी व्याख्या का लेखन सं० २०३३ (सन् १९७६) में आरम्भ किया था। उसका प्रथम भाग सं० २०३४ (सन् १९७७) में प्रकाशित हुआ था। इस प्रथम भाग के आरम्भ में **'श्रौत-यज्ञ-मीमांसा'** नाम का एक निबन्ध छापा था। श्री कर-पात्र स्वामी जी रचित **'वेदार्थ पारिजात'** ग्रन्थ में उनके किसी मीमांसकमन्य सहायक ने अति विस्तृत आलोचना के व्याज से वेदादि सच्छास्त्र-विरुद्ध बहुत लिखा है। उसके विषय में हम यहां संक्षेप से कुछ लिखते हैं]

'वेदार्थ-पारिजात' में आलोचक ने हमारे **'श्रौत-यज्ञ-मीमांसा'** नामक निबन्ध की आलोचना के लिये बहुत प्रयास किया है, परन्तु वह सब **'गतानुगतिको लोकः'** अथवा **'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'** अथवा **'सतो गतिश्चिन्तनीया'** इस न्याय के अनुसार लेखक ने परम्परागत याग में 'पशु हिंसा' सदृश अवैदिक सिद्धान्तों के पोषण में ही लिखा। उससे लेखक का वेदादिशास्त्र विषयक कुछ भी वैदुष्य विदित नहीं होता। इतना ही नहीं, अनेक स्थानों पर लेखक ने परस्पर विरुद्ध भी लिखा है। ब्राह्मण, श्रौत सूत्र से लेकर आधुनिक लौकिक साहित्य पर्यन्त जहां जहां गवालम्भ का वर्णन मिलता है, उसको गो शब्द के अप्राकरणिक विविध अर्थ करके झुठलाने का प्रयास किया है। 'गवालम्भ' का वर्णन संस्कृत साहित्य के किसी ग्रन्थ में नहीं है, ऐसा झूठा प्रयास लेखक ने केवल लोकेषणा के वशीभूत होके किया है।

पुरुषमेध, अश्वमेध, गोमेध, अजमेध और अविमेध ये पांच प्रसिद्ध पशुयाग हैं। पुरुषमेध में पुरुषों का वध न करके उनके उत्सर्जन की विधि

ब्राह्मणादि ग्रन्थों में निर्दिष्ट हैं। अश्वमेध और गोमेध का पाराशरस्मृति[1] के अनुसार कलि में निषेध है। यहां पर दो बातें विचारणीय हैं—यदि मध्य काल में यज्ञों में गौ का आलम्भन नहीं होता था, जैसा कि आलोचक ने लिखा है, तो पाराशरस्मृतिकार ने कलि में गवालम्भ का निषेध क्यों किया ? यदि गवालम्भ प्रकरण में गो शब्द के भिन्न अर्थ स्वीकार किये जा सकते हैं तो अश्व, अज और अवि ने ही लेखक का क्या बिगाड़ा ? इनके भी शास्त्रानुसार अन्यार्थ करके इनकी हिंसा से बचा जा सकता था। परन्तु इनके यज्ञ में आलम्भन करने से स्वर्ग में सुवर्णमय शरीरवाली देवयोनि की प्राप्ति रूप उत्कर्ष का बड़े गौरव से विधान किया है। यदि ऐसा ही है तो गौ को भी सुवर्णमयशरीरयुक्त देवयोनि की प्राप्ति से वञ्चित क्यों किया ?

पाराशरस्मृति में तो कलियुग में संन्यास का भी निषेध हैं, फिर इसका परिपालन आजकल के पौराणिक क्यों नहीं करते ? आजकल के सैकड़ों मण्डलाधीश लाखों करोड़ों की सम्पत्ति के स्वामी बने हुए हैं, जबकि वैदिक मर्यादानुसार पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा से मुक्त अध्यात्मरत ब्राह्मण को ही संन्यास का अधिकार है।

'श्रौतयज्ञमीमांसा' की जिस प्रकार की व्यर्थ की आलोचना की है, उसको देखते हुए यही कहा जा सकता है कि श्री करपात्र स्वामी तथा उनके सहयोगी पण्डितों ने वादी के मूलभूत अंशों का युक्तियुक्त प्रमाणपुरस्सर खण्डन में असमर्थ होकर केवल स्व अवैदिक मन्तव्यों की रक्षा करने का प्रयास किया है। वास्तविकता यह है कि पूर्वाग्रहग्रस्त, एक ही शास्त्र का अध्ययन करने वाले (=अबहुश्रुत) और इतिहास ज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति चाहे कितने भी विद्वान् हों, शास्त्रों के मर्म जानने में असमर्थ रहते हैं। यथा—

पूर्वाग्रहग्रस्त—निरुक्तकार ने ऐसे ही पुरुषों के लिये लिखा है **'नित्यं हि अविज्ञातुर्विज्ञाने असूया'** (निरु० २।३)। पूर्वाग्रहग्रस्त प्रतिपक्षी के द्वारा समुत्थापित तर्कों एवं तत्त्वविशेषों को जानने में असमर्थ होते हैं। वे केवल

---

१. **अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।**
देवराच्च सुतोत्पत्ति कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥

यह पाराशरस्मृति के लघु और बृहत् पाठ में नहीं मिलता है। अनेक निबन्धकारों ने इसे पाराशरस्मृति के नाम से उद्धृत किया है। द्र०—वेदार्थ-पारिजात, पृष्ठ २०४६।

'जैसे तैसे स्वपक्ष का पोषण करना चाहिये' ऐसा मानकर लिखते हैं। उनके लेख से प्रतिवादी के वचनों का खण्डन हुआ भी है या नहीं, इसमें उनका कोई तात्पर्य नहीं होता।

एक ही शास्त्र जानने वाले स्वशास्त्र के तात्पर्य को जानने में असमर्थ होते हैं। क्योंकि सभी शास्त्र परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। इसीलिये भगवान् सुश्रुताचार्य ने लिखा है—

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्।
तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः॥

सुश्रुत सूत्रस्थान ४।६॥

सुश्रुताचार्य ने वैद्यों के लिये जो अनेक शास्त्रों के ज्ञान की आवश्यकता कही है, वह मीमांसकों के लिये तो परम आवश्यक है, क्योंकि मीमांसा शास्त्र में यज्ञ सम्बन्धी विषयों पर ही विचार किया है। यज्ञों से सम्पूर्ण लौकिक और वैदिक वाङ्मय व्याप्त है। 'वेदार्थ-पारिजात' में **'श्रौत-यज्ञ-मीमांसा'** का आलोचक कोई भी मीमांसक हो, वह तो स्वमीमांसा शास्त्र के भी सम्पूर्ण वाङ्मय को नहीं जानता, अन्य शास्त्रों के विषय में तो कहना ही क्या? यथा—

हमने श्रौत-यज्ञ-मीमांसा में विकृतियाग के उदाहरण में दाक्षायणेष्टि का उल्लेख किया है। उस पर लेखक ने लिखा है—'मीमांसक लोग दाक्षायण यज्ञ के लिये दाक्षायणेष्टि नाम से उल्लेख नहीं करते अपितु दाक्षायण यज्ञ ऐसा प्रयोग करते हैं।' यह लेखक ने केवल मात्सर्य बुद्धि से लिखा है। यदि शाबर-भाष्य' (२।३। अधि० ४) के अनुसार दाक्षायणादि यज्ञों की अभ्यासादि गुणता को ही स्वीकार किया जावे अर्थात् दाक्षायण यज्ञ को दर्शपूर्णमास से भिन्न न माना जावे, तब दर्शपूर्णमास को सर्वसम्मत इष्टि मानने पर, जिसे सभी वैदिक मानते हैं, दाक्षायण यज्ञ के इष्टित्व का अपलाप कैसे किया जा सकता है?

और जो कहा—**'दाक्षायण यज्ञ विकृति रूप नहीं है'** यह भी अज्ञानमूल होने से अति तुच्छ है। वासुदेव दीक्षित ने कुतूहलवृत्ति (२।३। अधि० ४) में दाक्षायणादि यज्ञों को कौषीतकि ब्राह्मण के अनुसार विकृतिरूप सप्रमाण प्रतिपादित किया है।[1] उसका खण्डन आजतक कोई भी

---

१. कुतूहलवृत्ति का पाठ संस्कृत श्रौत-यज्ञ-मीमांसा के पृष्ठ १०८-१०९ पर हमने छापा है।

मीमांसक नहीं कर सका। इससे स्पष्ट है कि हमने जो दाक्षायण यज्ञ को इष्टि और विकृतियाग लिखा है, वह यथावत् मीमांसा शास्त्र के अनुकूल है।

इसी प्रकार से श्रौत-यज्ञ-मीमांसा के अनेक विषयों की वेदार्थपारिजात में आलोचना की है, उसमें भी आलोचक का विभिन्न शास्त्रों के विषय में अपरिज्ञान ही लक्षित होता है। यहां उदाहरण रूप में एक स्थल ही उद्धृत किया है।

इतिहास से अनभिज्ञ विद्वान् भी किसी विषय के तत्त्व को जानने में असमर्थ होते हैं। कहा है—

इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना।

लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् सम्प्रकाशयेत्॥[1]

इतिहास की अनभिज्ञता के विषय में भी **वेदार्थ पारिजात** के प्रस्तावना लेखक का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

'रामायणकालात् प्रागेव कठतैत्तिरीयशाखाध्यायिन आसन्निति महर्षिवाल्मीकेरादिकवेर्वचनादवगच्छामः'[2]। पृष्ठ ७।

अर्थात् रामायण के काल से पहले ही कठ तैत्तिरीय आदि शाखा के पढ़ने वाले विद्यमान थे, यह आदिकवि महर्षि वाल्मीकि के वचन से हम जानते हैं।

यह लेख न केवल शब्द प्रमाण के अन्तर्गत इतिहास से विरुद्ध है, अपितु शबरस्वामी आदि मीमांसकों के सिद्धान्त से भी विरुद्ध है। महाभारतादि में निर्दिष्ट इतिहास से सिद्ध होता है कि भगवान् कृष्णद्वैपायन ने कृष्ण यजुर्वेद का अपने वैशम्पायन नामक शिष्य को अध्यापन कराया था। वैशम्पायन ने उसी कृष्णयजुर्वेद का कठ तैत्तिरीय आदि शिष्यों के लिये प्रवचन किया था। इससे यह स्पष्ट है कि कठ तैत्तिरीय आदि शाखाओं का प्रवचन जिन वैशम्पायन के शिष्यों ने किया था, वे द्वापर के अन्त में हुए थे। ऐसा होने पर कठ तैत्तिरीय आदि शाखाओं के अध्येता त्रेता युग के अन्त में रामायण के

---

१. भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास ने महाभारत में कहा है—

इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना।

लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् सम्प्रकाशितम्॥ आदि० १।८७॥

हमने इस श्लोक के चतुर्थ चरण को प्रकरणानुसार बदल कर पढ़ा है।

२. ये श्लोक वा० रामा० अयोध्याकाण्ड सर्ग ३२।१५-१८ तक द्रष्टव्य।

काल में कैसे हो सकते हैं ? निश्चय ही रामायण में ये श्लोक किसी कृष्ण-यजुर्वेदी ने प्रक्षिप्त किये होंगे। इतिहास का ज्ञान न होने से बड़ोदा से सपरिश्रम सम्पादित एवं प्रकाशित वाल्मीकि रामायण के सम्पादक ने भी इन श्लोकों को मुद्रित कर दिया। यदि सम्पादक को भारतीय इतिहास का ज्ञान होता तो वे इन श्लोकों को अपने संस्करण में स्थान नहीं देते। शबर-स्वामी के '**आख्या प्रवचनात्**' (मी० १।१।३०) सूत्र के भाष्य से यह स्पष्ट है कि 'कृष्णयजुर्वेद की विभिन्न शाखाओं के साथ जो कठ कलाप तित्तिरि आदि के नाम संयुक्त हैं, वे उनके प्रवचन के कारण हैं।' इसके अनुसार शबरस्वामी के मत में शाखाओं के अपौरुषेयत्व को स्वीकार करने पर भी उनका कठ कालाप तैत्तिरीय आदि नामों के साथ जो सम्बन्ध है, वह द्वापर के अन्त में उत्पन्न कठ कलापि तित्तिरि आदि प्रवक्ताओं के प्रवचन के कारण जाना जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि इतिहास का ज्ञान न होने से बड़े बड़े विद्वान् भी किस प्रकार भ्रान्ति में पड़ जाते हैं।

आलोचक की मर्मान्तक पीड़ा—'वेदार्थ पारिजात' के पृष्ठ २१०१ पर आलोचक महोदय ने लिखा है "जिस प्रकार से [युधिष्ठिर] स्वरचित ग्रन्थ-नामों के अन्त में 'मीमांसा' पद जोड़ता है, उसी प्रकार स्वनाम के अन्त में भी 'मीमांसक' पद लगाता हुआ लोगों को मूर्ख बनाता है। जगत् में लब्ध-प्रतिष्ठ मीमांसकमूर्धन्य म० म० चिन्नस्वामी जी के शिष्य रूप से अपने को कहता हुआ मीमांसा शास्त्र से सिद्ध पदार्थों को गलत रूप से उपस्थापित करता हुआ निश्चय ही महावञ्चक है। जैसा यह लिखता है वैसा पूज्य श्री शास्त्री जी ने इस को नहीं पढ़ाया था, यह मैं विश्वासपूर्वक जानता हूं। यज्ञों में पशुवध से डरता हुआ मीमांसा शास्त्र का वध करता है। और उससे निश्चय ही गुरु की आत्मा को पीड़ित करता है"।

इस विषय में मैं इतना ही कहना ठीक समझता हूं कि हमारी यह भारतीय संस्कृति है यदि कोई किसी से एक अक्षर भी सीखता है तो वह शिक्षक को गुरु माने और उसका आदर करे। मैने तो पूज्य गुरुवर म० म० चिन्नस्वामी शास्त्री महाभागों के चरणों में ३ वर्ष पर्यन्त बैठ कर नियमपूर्वक मीमांसा शास्त्र का अध्ययन किया है। ऐसा होने पर अपने को पूज्य गुरुवर्य का अन्तेवासी लिख कर यदि मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूं तो इसमें मेरा क्या अपराध है ? यदि कहीं पर मैंने गुरुवर्य के विपरीत कुछ लिखा है, तो भी मैं अपने को दोष का भागी नहीं मानता, क्योंकि यह परम्परा

है कि शिष्य गुरु के मत को स्वीकार करने के लिये बाधित नहीं होता है। अधिक क्या, भट्ट प्रभाकर ने शाबरभाष्य की बृहती नामक व्याख्या में अपने गुरु भट्टकुमारिल के मतों का बहुत स्थानों पर खण्डन किया है।[1] खण्डदेव का साक्षात् शिष्य शम्भुभट्ट भी भाट्टदीपिका की प्रभावली व्याख्या में बहुत स्थानों पर स्वगुरु खण्डदेव के मतों का खण्डन करता है। यह बात शम्भुभट्ट ने स्वग्रन्थ के आरम्भ में स्वयं लिखी है।[2] इससे कोई भी मीमांसक प्रभाकर और शम्भुभट्ट को गुरुद्रोही नहीं मानता।

जैसे भट्टकुमारिल ने प्रच्छन्न बौद्ध बन कर बौद्धगुरुओं से बौद्धशास्त्रों का अध्ययन किया, उस प्रकार मैंने गुरुजनों से अपने विचारों को छिपा कर कुछ नहीं पढ़ा। उन्होंने मेरे विचारों को जानते हुए महती कृपा से मुझे मीमांसा शास्त्र पढ़ाया। इसलिये मैं उनके इस ऋण से कभी मुक्त नहीं हो सकता। अतः आलोचक महोदय ने मेरे लिये जो 'महावञ्चक' शब्द का प्रयोग किया है और ग्रन्थ में अन्यत्र भी अपशब्द लिखे हैं, वे आलोचक को ही शोभा देते हैं। इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

---

१. मीमांसकों में प्रसिद्ध किंवदन्ती के अनुसार भट्टकुमारिल को प्रभाकर का गुरु माना जाता है।

२. यद्यप्यत्र गुरोः कृतावपि मयाप्युद्भाव्यते काचना
सम्भूतिस्तदपि प्रचारचतुरे नैषा पुरो भागिता।
किन्तु क्ष्मातिलकाः कुशाग्रधिषणाः सिद्धान्तबद्धादरा
मद्वाक्यं परिहृत्य तत्कृतिमलं कुर्वन्त्वियं मे मतिः॥

श्रौत-यज्ञ-मीमांसा की विषय-सूची

पृथिवी के प्रथम शासक (१७८), असुरों द्वारा वर्णाश्रम मर्यादा और यज्ञों का प्रवर्तन (१७८)।

आलभते, आलभेत पदों पर विचार (१८१), 'आलभ, आलम्भ' दो धातुएं(१८३), वैयाकरणों के आगम आदेश विधान से प्रकृत्यन्तर की कल्पना (१८३), लभ और लम्भ धातुओं के भिन्न अर्थ (१८६), 'घ्नन्ति' शब्द का प्रयोग और उसका अर्थ (१८७), 'मेध' शब्दार्थ का विचार (१८८)।

अग्निपशु का आलभन और उससे यज्ञ (१८८), वायु पशु का आलभन और उससे यज्ञ (१९०), सूर्य पशु का आलभन और उससे यज्ञ (१९१), वशा अवि का आलभन (१९५), अनेक वार अवि का आलभन (१९७)।

प्रसिद्ध पशुयाग (१९७), पुरुषमेध का पुरुष और उस का आलभन (१९९), यूपों में नियुक्त पुरुषों का उत्सर्जन (२००), पुरुषमेध का प्रयोजन (२००), पुरुषमेध का निर्वचन (२०१), आधिदैविक पक्ष में [गो शब्द का अर्थ] (२०३), अधिदैवत अथवा सृष्टियज्ञ (२०४)।

अश्वमेध का अश्व और उसका आलभन (२०५), अश्वमेध पर विशेष विचार (२०६), सार्वभौम राजा (२०६), अश्व (२०६), अश्व की रशना (२०६), राजा की चार पत्नियां (२०७), एकपत्नीव्रतपरायण राजाओं ने कैसे अश्वमेध किया ? (२०७), अश्व को एक वर्ष परिभ्रमण (२०७), कवची रक्षक (२०७), अश्व के सर्वावयवों का रस्सी से बांधना (२०८), विजित राजाओं से भेंट ग्रहण करना (२०८), ऋग्वेदीय अश्वमेध सूक्त (२०८)।

गोमेध की गौ और उसका आलभन (२०९), गवामयन की गायें आदित्य (२१०), अनुबन्ध्या वशा अनड्वाही शब्दों का अर्थ (२१०), कलियुग में गवालम्भन का प्रतिषेध (२१०), अन्य पशुओं के आलम्भन के पश्चात् गवालम्भन प्रवृत्त (२११)।

अविमेध की अवि और उसका आलभन (२११), अजमेध का अज और उसका आलभन (२१२)।

पशु यज्ञ सम्बन्धी एक अर्थवाद पर विचार (२१३), पशुयागों में पशु-पुरोडाश का विधान(२१४), पश्वालम्भन के अभाव में आज्य आमिक्षा आदि से

यज्ञ की पूर्ति (२१५), अभ्युपगमसिद्धान्त से पशुयागों पर विचार (२१६), वैष्णव सम्प्रदाय और पशुयाग (२१६), आदिमानव निरामिषभोजी (२२१), मांसाहार का आरम्भ (२२३), यज्ञों में पशुहिंसा की प्रवृत्ति (२२४)।

गवालम्भ से ९८ रोगों की उत्पत्ति (२२६), गवालम्भ का प्रथम प्रवर्तक (२२७); यह पृषध्र नाम किस नहुष का था (२२८)।

यज्ञों में पश्वालम्भ-विधायक भ्रम के दो कारण (२२८), वेदों में पशु हिंसा के विधान का भ्रम (२२९), अज शब्द के अर्थ में भ्रम (२२९), अज शब्द का अर्थ (२३०), पुरुष, अश्व, गो, अवि शब्दों के अर्थों में भ्रान्ति (२३१), आलभ और आलम्भ का सांकर्य (२३१)।

उपसंहार (२३४)।

श्रौत-यज्ञ-मीमांसा

श्रौत यज्ञों पर विचार करने से पूर्व '**यज्ञ**' शब्द पर विचार करना आवश्यक है। इससे 'यज्ञ' के श्रौतकर्म से अतिरिक्त उस विस्तृत क्षेत्र का बोध होगा, जिसमें यज्ञ शब्द प्रयुक्त होता है **अथवा** प्रयोग न होते हुये भी उसके क्षेत्र में आता है।

यज्ञ शब्द का अर्थ—'यज्ञ' शब्द **यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु** (**धातुपाठ** १।७२८) इस धातु से **यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्** (अष्टा० ३।३।९०) इस पाणिनीय वचनानुसार भाव में नङ् (=न) प्रत्यय होकर बनता है। 'यज' धातु के देवपूजा सङ्गतिकरण और दान ये तीन अर्थ हैं। देवपूजा में **देव**' शब्द **दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु** (धातु० ४।१) इस पाणिनीय निर्देश के अनुसार बह्वर्थक है। और **पूजा** का अर्थ है—सत्कार=यथायोग्य व्यवहार। इसलिये 'देव' चाहे जड़ प्राकृतिक तत्त्व वा शक्तियां हों चाहे चेतन, सभी के साथ यथायोग्य व्यवहार करना **देवपूजा** कहाती है,। प्राकृतिक पदार्थ अग्नि जल वायु आदि का प्राणिमात्र के कल्याण के लिऐ उचित उपयोग देवपूजा है, और उनके द्वारा किसी के घर को जलाना, किसी क्षेत्र के जलप्रवाह को रोककर अन्य क्षेत्र में सूखा डालना, वायु में प्रदूषण उत्पन्न करके प्राणियों के जीवन को संकट में डालना, आदि **देव-अपूजा** है। **संगतिकरण** का तात्पर्य है—किन्हीं पदार्थों का यथोचित मात्रा में संयोग करना, जिससे प्राणियों का कल्याण एवं उत्कर्ष हो, श्रेष्ठ धर्मात्मा विद्वानों का सत्संग करना आदि। इस संगतिकरण के द्वारा शिल्पविज्ञान भी 'यज्ञ' है। **दान** का तात्पर्य हैं—स्वयमुपार्जित धन-सम्पत्ति-विद्या आदि को प्राणिमात्र के कल्याण के लिऐ प्रयुक्त करना। इस प्रकार 'यज्ञ' शब्द का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इसी दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद १।२ के भाष्य में लिखा है—

धात्वर्थ के योग से यज्ञ का अर्थ तीन प्रकार का होता है। एक—देवपूजा=विद्या ज्ञान और धर्म के अनुष्ठान से वृद्ध देव=विद्वानों का ऐहिक और पारलौकिक सुख के सम्पादन के लिये सत्कार करना। दूसरा—अच्छे प्रकार पदार्थों के गुणों के मेल-विरोध-ज्ञान की संगति से शिल्पादि विद्या का

प्रत्यक्षीकरण, तथा नित्य विद्वानों के समागम (=संगति) का अनुष्ठान। तीसरा—विद्या सुख धर्मादि शुभगुणों का नित्य दान करना।'[1]

यजुर्भिर्यजन्ति (निरु० १३।७) इस वचन के अनुसार यजुः से जिस यज्ञ का निरूपण किया है, उसका निर्देश यजुर्वेद के उपक्रम में **श्रेष्ठतमाय कर्मणे** (१।१) से श्रेष्ठतम कर्म के रूप में किया है और उपसहार में **कुर्वन्नेवेह कर्माणि** (४०। २) के रूप में निष्काम कर्म का संकेत किया है। इस प्रकार संसार के समस्त शुभ कर्म, जो व्यक्तिभेद से अथवा देश-काल-भेद से अपने और प्राणिमात्र के कल्याण के लिये कर्तव्य हैं, उन समस्त यज्ञरूप कर्मों का ही यजुर्वेद में वर्णन है यह यजुर्वेद के उपक्रम और उपसंहार से जाना जाता है। शतपथ-ब्राह्मण में **श्रेष्ठतम कर्म** की व्याख्या **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म** द्वारा **द्रव्ययज्ञ** तक सीमित कर दी है।[2] इसको यदि शतपथ-ब्रह्मण के द्रव्ययज्ञपरक व्याख्यान की दृष्टि से देखा जाये, तो शतपथकार की व्याख्या एकांश में ठीक है।

सम्भवतः 'यज्ञ' शब्द के धात्वर्थानुसारी अर्थ की व्यापकता को ध्यान में रख कर ही भगवद् गीता ४।२८ में यज्ञों के **द्रव्ययज्ञ तपोयज्ञ योगयज्ञ स्वाध्याययज्ञ** और **ज्ञानयज्ञ** रूप विविध भेद दर्शाये हैं। इस दृष्टि से गीता अ० ४ के श्लोक २९-३३ तक विशेष द्रष्टव्य हैं। अत एव लोक में अनेक प्रकार के लोकोपका-कारक कार्यों के साथ भी **यज्ञ** शब्द का संयोग देखा जाता है।

इस प्रकार वेदश्रुत 'यज्ञ' शब्द के व्यापक अर्थ को इङ्गित करके अब प्रतिपाद्य श्रौतयज्ञों के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

---

१. धात्वर्थाद् यज्ञार्थस्त्रिविधो भवति—विद्या-ज्ञान-धर्मानुष्ठान-वृद्धानां देवानां विदुषाम् ऐहिकपारलौकिक-सुख-सम्पादनाय सत्करणम्, सम्यक् पदार्थ-गुणसंमेलविरोधज्ञानसंगत्या शिल्पविद्याप्रत्यक्षीकरणं नित्यविद्वत्समागमानुष्ठानं [च], विद्यासुखधर्मादिशुभगुणानां नित्यं दानकरणम्। यजुर्भाष्य १।२॥ अत्र 'शुभविद्यासुखधर्मादिगुणानाम्' इति मुद्रितेऽपपाठः।

२. अनेक व्यक्ति शतपथ के **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म** का अर्थ 'यज्ञ नाम श्रेष्ठतम कर्म का है' ऐसा करते हैं, यह चिन्त्य है। यहां **'श्रेष्ठतमाय कर्मणे'** अंश व्याख्येय है, और 'यज्ञः' उस की व्याख्या है, यह प्रकरण से स्पष्ट है। अतः ब्राह्मण-वचनों का अर्थ समझने के लिये 'व्याख्येय' अंश पर विशेष ध्यान देना चाहिये। अन्यथा अभिप्राय उलटा हो जाता है।

द्रव्य-यज्ञ का लक्षण और उसके भेद

इस यज्ञ का लक्षण कात्यायन श्रौतसूत्र में **द्रव्यं देवता त्याग** (१।२।२) किया है। इसका तात्पर्य है–'जिस कर्म में द्रव्य देवता और त्याग[1] तीनों का सहभाव होता है, वह यज्ञ कहाता है'। याज्ञिकों शब्दों में **देवतोद्देशेन द्रव्यस्य त्यागो यज्ञ** (=देवता को उद्दिष्ट करके किसी द्रव्य का त्याग करना 'यज्ञ' कहाता है)। यतः ये यज्ञ किसी द्रव्य से किये जाते हैं, अतः गीता ४।२८ में इन्हें **द्रव्य-यज्ञ** कहा है। हम भी इस प्रकरण में इन का निर्देश 'द्रव्ययज्ञ' शब्द से ही करेंगे।

यज्ञों में देवतोद्देश से हव्य द्रव्य का त्याग प्रायः **अग्नि** में किया जाता है। परन्तु यज्ञ की उक्त परिभाषा में त्याग-स्थान का विशिष्ट निर्देश न करने से **'देवतोद्देश से द्रव्य का त्याग'** इतना ही यज्ञ का तात्पर्य समझना चाहिये। इसीलिये सोमयागों के अन्त में **अवभृथ-होम जल** में किया जाता है—**अप्सु जुहोति** (का०श्रौत १०।८।२६), और सोमक्रय के लिये सोमक्रयणी (=जिसे देकर सोम खरीदना होता है) गौ को सोमविक्रयी के समीप ले जाते समय गौ का सातवां पैर जहां भूमि पर पड़ता है, उस स्थान में घृताहुति दी जाती है—**सप्तमे पदे जुहोति** (तै० सं० ६।१।८)। इसी प्रकार वृषोत्सर्ग यज्ञ में वृष (=सांड) का प्रजापति (=प्रजननकर्ता) देवता के लिये वृषभ पर विशेष चिह्न अङ्कित करके त्याग=उत्सर्जनमात्र होता है।

द्रव्य–यज्ञों के भेद

यज्ञों के श्रौत स्मार्त दो भेद-संहिता ब्राह्मण और कल्पसूत्रों (=श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्रों) में जितने प्रकार के यज्ञों का विधान उपलब्ध होता है, वे यज्ञ श्रौत स्मार्त भेद से दो प्रकार के हैं। **श्रौत-यज्ञ वे** कहाते हैं, जिनका विधान साक्षात् श्रुति (=संहिता-ब्राह्मण[2]) में पठित किसी वचन से होता है। **स्मार्त-**

---

१. त्याग का अर्थ है—बुद्धिपूर्वक किसी को कोई वस्तु समर्पित करते हुये, उस वस्तु से स्व-स्वत्व की निवृत्ति करना, और जिसे वस्तु दी जा रही है, उसका उस वस्तु पर स्वत्व प्राप्त कराना। **'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्त्वापादानं त्यागः'**। इस अभिप्राय के अनुसार—**'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'** (यजुः० ४०।१) का अर्थ होगा—'उस चराचर के ईश द्वारा जो भोज्य पदार्थ प्रदत्त हैं, उन्हीं का भोग करो। अन्य के धन=भोज्य पदार्थों की आकांक्षा मत करो।

२. जैसे याज्ञिकों की मन्त्र और ब्राह्मण की **'वेदसंज्ञा'** और **'आम्नाय-संज्ञा'**

यज्ञ उनको कहते हैं, जिनका विधान गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में मिलता है। गृह्यसूत्रों में प्रधानतया संस्कार और गृहस्थ उपयोगी कर्मों का विधान किया है, और धर्मसूत्रों में मानवसमाज के विभाग एव विभागशः विशिष्ट कर्तव्यों का निरूपण किया है। यतः गृह्य और धर्मशास्त्रोक्त कर्मों का श्रुति में साक्षात् विधान नहीं मिलता, अतः ऋषियों ने **श्रुति के अन्यार्थपरक वचनों से** इन कर्मों का संकेत उपलब्ध करके इनका विधान=स्मरण किया है[1]। इसलिये ये **गृह्य-सूत्र और धर्मसूत्र 'स्मृति'** कहाते हैं। श्रुति और स्मृति का कदाचित् विरोध होने पर श्रुति का प्रमाण माना जाता है, स्मृति प्रमाणार्ह नहीं मानी जाती है—**विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्** (मीमांसा १।३।२)।

यज्ञों के पुनः तीन भेद (=नित्य नैमित्तिक और काम्य)—श्रौत और स्मार्त दो भागों में विभक्त यज्ञों के पुनः प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं—नित्य नैमित्तिक और काम्य।

नित्य यज्ञ वे कहाते हैं, जिनका यथाकाल नियमतः करने का विधान है। याज्ञिकों के मतानुसार नित्ययज्ञों के करने से कोई फल नही होता, परन्तु इनको न करने से प्रत्यवाय (=पाप) होता है। हमारा विचार है कि नैत्यिक कर्म निष्कामभाव=केवल कर्तव्य बुद्धि से क्रियमाण होने से इनका फल आत्म-शुद्धि-पूर्वक मोक्षप्राप्ति है।

अग्निहोत्र से लेकर सोमान्त (=अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य और सोमयाग) नित्य यज्ञ माने गये हैं द्र०—आप० श्रौत १।१।१ का धूर्तस्वामी-भाष्य और उसकी वृत्ति (मैसूर संस्क०, पृष्ठ ५) तथा आप० धर्मसूत्र २।२१।७ की हरदत्तीय व्याख्या। महाभारत शान्तिपर्व २६९।२० में अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास और चातुर्मास्य इन तीन को प्राचीन यज्ञ कहा है—

दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः।
चातुर्मास्यानि चैवासन् तेषु धर्मः सनातनः॥

पारिभाषिक है (द्र०—वेदसंज्ञा-मीमांसा, पूर्व पृष्ठ ८१, ९३), उसी प्रकार उनके मत में श्रुतिसंज्ञा भी विनियोग विधायक मन्त्र-ब्राह्मण की पारिभाषिक है—**इत उत्तरं श्रुतिरूपा मन्त्रा आश्वमेधिकानां पशूनां द्रव्य-देवता-सम्बन्धस्याभि-धायिनः**……। यजु० अ० २४ के आरम्भ में उव्वट भाष्य।

१. द्र०—वेदानां महत्त्वं तत्प्रचारोपायाश्च' लेख, वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा, पृष्ठ १५–१६; हिन्दी में वही ग्रन्थ, पृष्ठ ४५-४७।

नैमित्तिक कर्म वे हैं—जो गृहादि-दाह होने, भीषण भूकम्प आने अति-वृष्टि आदि निमित्त होने पर किये जाते हैं।

काम्य कर्म वे हैं—जो ग्रामप्राप्ति पशुप्राप्ति धनप्राप्ति यशःप्राप्ति आदि की कामना से किये जाते हैं। अर्थात् जिसकी कामना का उदय हो उस समय उसकी पूर्ति के लिये किये जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न कामनाओं के लिये भिन्न-भिन्न पचासों यज्ञ शाखा ब्राह्मण और श्रौत गृह्य एवं धर्मसूत्रादि में कहे गये हैं। इन विविध कर्मों का त्रेता युग में विस्तार हुआ—**'तानि त्रेतायां बहुधा संततानि'** (मुण्डक उप० १।२।१)।

काम्य के तीन भेद—काम्य कर्म तीन प्रकार के हैं। एक वे हैं जिन का कामना विशेष के लिये स्वतन्त्र विधान किया है। यथा—**वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकामः**[1] (तै० सं० २।३।९।२)। कतिपय काम्य कर्म ऐसे हैं, जो नित्यविहित हैं, परन्तु स्वल्प भेद से उनमें काम्यत्व का विधान किया है। यथा—नित्य अग्निहोत्र, जो दूध से सम्पादित होता है, उसमें इन्द्रिय की कामना से दही का विधान—**दध्नेन्द्रियकामस्य**[2] (तै० ब्रा० २।१।५।६)। कतिपय कर्म ऐसे भी हैं, जो नित्यविहित होते हुए उसी रूप में कामना विशेष से भी किये जाते हैं। यथा—**वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत** (मी० भाष्य ३।३।१९ में उद्धृत)। यहां **वसन्ते वसन्ते** में द्विर्वचन नित्यार्थ है। **स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत। एककामः सर्वकामो वा। युगपत् कामयेताहारपृथक्त्वे वा** (आप० श्रौत १०।२।१)।

नित्य और काम्य के समान होने पर अनुष्ठान में भेद—नित्य और काम्य कर्म के समान होने पर भी दोनों के अनुष्ठान में एक प्रमुख भिन्नता है। वह है—काम्य कर्म का अनुष्ठान सर्वाङ्गपूर्ण अवश्य करना पड़ता है, क्योंकि सर्वाङ्गपूर्ण कर्म ही फल का साधक होता है। परन्तु नैत्यिक कर्म का सर्वाङ्ग-पूर्ण अनुष्ठान का विधान होने पर भी किसी दैवी बाधा से सर्वाङ्गपूर्ण अनुष्ठान न कर सके तो जितने अङ्गों के साथ प्रधान कर्म सम्पन्न हो जाता

---

१. इस इष्टि के विषय में न्यायमञ्जरी पृष्ठ २७४। द्र०—'तथा ह्यस्मत्पितामह एव ग्रामकामः सांग्रहणीं कृतवान् स इष्टिसमाप्तिसमनन्तरमेव गौरमूलकं ग्राममवाप'।

२. द्र०—दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्। मी० भाष्य २।२।२५॥ दध्यादि-द्रव्यसफलत्वाधिकरण। मी० २।२। अधि० ११।

है उतने से ही कर्तव्यता पूर्ण हो जाती है। अतः प्रयोगविधि अशक्य अङ्गों के अनुष्ठान को संगृहीत नहीं करती। इस कारण कतिपय अङ्गों के छोड़ देने पर भी दोष नहीं होता है। द्र०—मी० अ० ६, पा० ३, सूत्र १-७ का **'नित्ये यथाशक्त्यनुष्ठातुरप्यधिकाराधिकरणम्'**।

नित्यकर्म सम्बन्धी उक्त निर्णय पर ध्यान देने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नित्यकर्मों में विकलाङ्गों को भी अधिकार है। जैसे अन्ध पुरुष यजमान द्वारा किया जाने वाला आज्यावेक्षण नहीं कर सकता शेष यजमान कर्म तो कर ही सकता है। पङ्गु विष्णु क्रम के अनुष्ठान के अतिरिक्त कर्म कर ही सकता है। इस हेतु से अङ्गहीन व्यक्ति के श्रौत कर्म में अनधिकार बोधक वचन (द्र०—कात्या० श्रौत १।१।५) का तात्पर्य काम्यकर्मविषयक ही जानना चाहिये।

पुनः तीन भेद—उक्त तीनों प्रकार के श्रौतयज्ञों के पुनः तीन भेद होते हैं। ये तीन भेद यज्ञीय पदार्थों के भेद के कारण होते हैं। इनमें प्रथम वे यज्ञ हैं, जिनका द्रव्य मानव के भोज्य पदार्थ हैं। यथा—यव व्रीहि तिल गोधूम दुग्ध दही घृत आदि। इन्हें **पाकयज्ञ** कहते हैं। क्योंकि इनके हव्य द्रव्य पुरोडाश चरु आदि को अग्नि पर पकाया जाता है। दूसरे वे यज्ञ हैं, जिनका द्रव्य सोम अथवा तत्स्थानीय पूतिका (=तृणविशेष) होता है। इन्हें **सोमयाग** कहते हैं। तीसरे वे यज्ञ हैं, जिनका द्रव्य अज आदि पशु होता है। इनको पशुयज्ञ न कहकर **पशुबन्ध** कहा जाता है। इनके पशुबन्ध नामकरण में जो रहस्य है, वह आगे यथास्थान स्पष्ट होगा।

तीनों के सात-सात भेद—गोपथ-ब्राह्मण १।१।१२ में पैप्पलाद संहिता ५।२८।१ के **अग्निर्यज्ञं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्** मन्त्रांश को उद्धृत करके लिखा है—

अथाप्येष प्राक्रीडितः श्लोकः प्रत्यभिवदति—

सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञा इति।

अर्थात्—यज्ञ के त्रिवृत् सात तन्तुओं (=३×७) अर्थात् इक्कीस भेदों को यह 'प्रक्रीडित' आचार्य का श्लोक कहता है—**सप्त सुत्याः**……।

गोपथ में यहां श्लोक का द्वितीय चरण का पाठ टूट गया है। प्रकृत में ७ सोमयागों और ७ पाकयज्ञों का ही उल्लेख है। सौभाग्य से यही श्लोक

गोपथ १।५।२५ में पूरा उपलब्ध हो जाता है। वहां श्लोक का पूरा पाठ इस प्रकार है—

सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञाः
हविर्यज्ञाः सप्त तथैकविंशतिः।
सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपि यन्ति
नूतना यानृषयो (?) सृजन्ति च सृष्टाः पुराणैः।

अर्थात्—सात सोमयज्ञ, सात पाकयज्ञ और सात हविर्यज्ञ ये इक्कीस [मन्त्रोक्त यज्ञ] हैं। ये सब यज्ञ अङ्गिरसों को भी प्राप्त होते हैं। नये ऋषि जिन यज्ञों का सर्जन करते हैं, और जो पुराने ऋषियों से सृष्ट हैं।

उक्त सप्त सोमयज्ञ, सप्त पाकयज्ञ और सप्त हविर्यज्ञों के नामों का निर्देश गोपथ-ब्राह्मण १।५।२३ में इस प्रकार किया है—

सायंप्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्च यः।
बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टका सप्तमः पशुरित्येते पाकयज्ञाः॥

अग्न्याधेयमग्निहोत्रं पौर्णमास्यमावास्ये।
नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि पशुबन्धोऽत्र सप्तम इत्येते हविर्यज्ञाः।

अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यषोडशिमांस्ततः।
वाजपेयोऽतिरात्राप्तोर्यामात्र सप्तम इत्येते सुत्याः॥

अर्थात्—सायंहोम, प्रातःहोम, स्थालीपाक, बलिवैश्वदेव, पितृयज्ञ, अष्टका और पशु ये सात **पाकयज्ञ** हैं। अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, नवसस्येष्टि, चातुर्मास्य और पशुबन्ध ये सात **हविर्यज्ञ** हैं। अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोर्याम ये सात **सोमयज्ञ** हैं।

इनमें प्रथम सात पाकयज्ञों का सम्बन्ध गृह्यसूत्रों के साथ है। अतः ये पाकयज्ञ स्मार्त यज्ञ हैं। इनका मन्त्रब्राह्मण के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। शेष सात हविर्यज्ञ और सात सोमयज्ञों का सम्बन्ध मन्त्र-ब्राह्मण वा श्रौतसूत्रों के साथ है। अतः ये श्रौत=[1]श्रुतिप्रतिपादित यज्ञ कहाते हैं। ग्रन्थान्तरों में उक्त तीनों संस्थाओं के (७×३=) २१ नामों में कुछ भेद भी उपलब्ध

---

१. 'श्रुति' का लक्षण देखें—पूर्व पृष्ठ ९०-९२ में।

होता है। इन २१ यज्ञों में 'पशुयज्ञों' का भी निर्देश है। उसके सम्बन्ध में आगे यथास्थान विचार किया जायेगा।

वस्तुतः गोपथ-ब्राह्मणोक्त गणना पैप्पलाद-संहिता (५।२८।१) के पूर्व उद्धृत **अग्निर्यज्ञंत्रिवृतं सप्त तन्तुम्** मन्त्रांश की दृष्टि से की गई है। उक्त सात पाकयज्ञों के अतिरिक्त भी अनेक यज्ञों का गृह्यसूत्रों में उल्लेख मिलता है। हविर्यज्ञ और सोमयज्ञों के अनेक भेद शाखाओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। **स्वामी दयानन्द सरस्वती** ने जहां भी यज्ञों के विषय में लिखा है, वहां सर्वत्र **अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधान्त** शब्दों का प्रयोग किया है[1]। इनमें अग्निहोत्र प्रति दिन सायं-प्रातः क्रियमाण सब से लघु यज्ञ है। **अश्वमेधान्त** लिखने के दो तार्त्पय हो सकते हैं। एक—अश्वमेध एक वर्ष साध्य महान् यज्ञ है (अहोरात्र कालगणना की छोटी इकाई है, और वर्ष बड़ी इकाई)। दूसरा—शतपथ-ब्राह्मण और कात्यायन श्रौत में अश्वमेध का वर्णन सब से अन्त में उपलब्ध होता है। वस्तुतः यज्ञों का विस्तार अग्निहोत्र से लेकर सहस्र संवत्सरसाध्य क्रतुपर्यन्त है। वेद की शाखाओं ब्राह्मण-ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में इन्ही अग्निहोत्र से लेकर सहस्र संवत्सरसाध्य पर्यन्त यज्ञों का उल्लेख मिलता है। हम उदाहरण के लिये कात्यायन श्रौतसूत्र में उक्त प्रमुख यज्ञों का निर्देश करते है—

कात्यायन श्रौतसूत्र में निर्दिष्ट श्रौत-याग

कात्यायन श्रौतसूत्र में निम्न प्रमुख यागों का उल्लेख हैं—

१. अग्न्याधान (अ० ४)
२. अग्निहोत्र (अ० ४)
३. दर्शपूर्णमास (अ० २-३-४)
४. दाक्षायणय यज्ञ (अ० ४)
५. आग्रयणेष्टि (अ० ४)
६. दर्विहोम, कैडिनीयेष्टि आदित्येष्टि, मिश्रविन्देष्टि (अ० ५)
७. चातुर्मास्य (अ० ५)
८. निरूढ पशुबन्ध (अ० ६)
९. सोमयाग (अ० ७-११)

---

१. यथा—'परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्रयत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते……।' ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञाविषय ३८८ तम पृष्ठ (रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्क० २)। 'वर्गद्वयस्थैर्नवभिर्मन्त्रैरग्निहोत्राद्यश्वमेधपर्यन्तेषु ………।' ऋग्वेदभाष्य का नमूना, प्रथम सूक्त के अन्त में 'जो अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त……'। आर्योद्देश्यरत्नमाला, संख्या २७ (दयानन्दीयलघुग्रन्थसंग्रह, पृष्ठ ५७६, रा० ला० क० ट्र० सं०)।

१०. एकाह (अ० १२,२२)
११. द्वादशाह (अ० १२)
१२. सत्ररूप द्वादशाह (अ० १२)
१३. गवामयन (अ० १३)
१४. वाजपेय (अ० १४)
१५. राजसूय (अ० १५)
१६. अग्निचयन (अ० १६-१७-१८)
१७. सौत्रामणि (अ० १९)
१८. अश्वमेध (अ० २०)
१९. पुरुषमेध (अ० २१)
२०. अभिचार-याग (अ० २२)
२१. अहीन—अतिरात्र (अ० २३)
२२. सत्र [द्वादशाह से सहस्र-संवत्सरान्त] (अ० २४)
२३. प्रवर्ग्य (अ० २६)

अन्य श्रौतसूत्रों में कुछ न्यूनाधिक यागों का वर्णन मिलता है।

श्रौत-यज्ञों का प्रकृति-विकृति भेद

ये समस्त श्रौतयज्ञ प्रक्रियांश की दृष्टि से निम्न तीन विभागों में विभक्त किये जाते हैं—

१—प्रकृतियाग **२—विकृतियाग** **३—प्रकृति-विकृतियाग**

प्रकृतियाग का लक्षण—प्रकृति याग के तीन लक्षण याज्ञिकों वा मीमांसकों द्वारा किये जाते हैं—

प्रथम—जहां कर्म के लिये उपयोगी सम्पूर्ण क्रिया-कलाप पढ़े जाते हैं, वह प्रकृतियाग कहाता है—**यत्र कृत्स्नं क्रियाकलापम्**[1] **उच्यते सा प्रकृतिः**[2]। यथा—**दर्शपौर्णमास**।

द्वितीय—जहां से विकृतियाग अपनी परिपूर्णता के लिये अनुक्त कर्मों को

---

१. कलापशब्दो लिङ्गानुशासनकारैः पुंल्लिङ्गे पठ्यते। तथापि **लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य** (महाभाष्य २।१।३६) इति पतञ्जलिवचनात्, **'संबन्धमनुवर्तिष्यते'** इति महाभाष्ये (१।१।१) पुंल्लिङ्गस्य नपुंसके प्रयोगाच्च कलापशब्दो नपुंसकलिङ्गोऽपि ज्ञेयः।

२. यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः। मीमांसान्यायप्रकाश, सारविवेचनी व्याख्यासहित, पृष्ठ ५२, काशी संस्कृत सीरीज, सन् १९२५। प्रकर्षेण अङ्गोपदेशो यत्र क्रियते सा प्रकृतिः, कृत्स्नाङ्गविषयत्वं प्रकर्षः। सायण, तै० सं० भाष्यभूमिका, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना संस्क०, पृष्ठ ८, पं० १३ (वेदभाष्य-भूमिका-संग्रह, पृष्ठ ६, काशी)।

ग्रहण करते हैं, वह प्रकृतियाग कहाता है—**यतो विकृतिरङ्गानि गृह्णाति सा प्रकृतिः**[1]। यथा—**दर्शपौर्णमास** ।

तृतीय—जहां 'प्रकृति के समानविकृति करनी चाहिये' इस चोदक-वचन से अङ्गों की प्राप्ति नहीं होती हैं, वह प्रकृतियाग कहाता है—**चोदकाद् यत्र नाङ्गप्राप्तिः सा प्रकृतिः**[2] ।

ये तीनों लक्षण मीमांसान्यायप्रकाश में स्वल्प भेद से उद्धृत हैं। इनसे प्रथम लक्षण के अनुसार **गृहमेधीयेष्टि** और **दर्विहोम** प्रकृतियाग के अन्तर्गत गृहीत होते हैं[3], क्योंकि ये यावदुक्त कर्म हैं। अर्थात् जितना कर्म इनके प्रसङ्ग में कहा है, उतना ही कर्म होता है। द्वितीय लक्षण के अनुसार गृहमेधीयेष्टि और दर्विहोम से कोई विकृति अङ्गों को ग्रहण नहीं करती है। अतः ये प्रकृति के अन्तर्गत नहीं आते हैं।[4] तृतीय लक्षण के अनुसार भी गृहमेधीयेष्टि और दर्विहोम प्रकृति कर्म हैं।

---

१. द्र०—मीमांसान्यायप्रकाश, वही संस्क० पृष्ठ ४४, पं० ५ ।

२. मीमांसान्यायप्रकाश, वही सस्क०, पृष्ठ ४४, पं० ७ ।

३. मीमांसा-सूत्रकार के **विकृतौ प्राकृतस्य विधेर्दर्शनात् पुनः श्रुतिरनर्थिका स्यात्** (१०।७।२४) अर्थात् 'विकृति में प्राकृत धर्म (=चोदक वाक्य से प्राप्त धर्म) का निर्देश देखा जाने से [चोदक वचन से] पुनः प्राप्ति अनर्थक होवेगी' इस न्याय से गृहमेधीयेष्टि में यावदुक्त कर्मता मानी जाती है। दूसरे शब्दों में यह विकृतियाग है। परन्तु कुछ प्रकृतियाग से प्राप्त धर्मों का निर्देश श्रुति में उपलब्ध होने से यहां उतने ही धर्म परिगृहीत होते हैं, जो वहां उपदिष्ट हैं। सूत्रकार के उक्त कथन से प्रथम लक्षणानुसार गृहमेधीयेष्टि प्रकृति कर्म के अन्तर्गत परिगृहीत होती है। यहां सूत्र २४ से ३३ तक पूरा अधिकरण द्रष्टव्य है।

४. किसी कर्म विशेष के प्रकरण में अपठित (=अनारभ्याधीत) विधियों का प्रकृति में निवेश होता है, ऐसा मीमांसकों का सिद्धान्त है—**अनारभ्याधीतानां प्रकृतिगामित्वम्। यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति** इत्यादि कतिपय विधियां अनारभ्याधीत हैं। यदि इनका प्रकृति में ही निवेश माना जावे, तो गृहमेधीयेष्टि के द्वितीय लक्षण के अनुसार प्रकृति कर्म न होने से इसमें गृहमेधीयेष्टि की जुहू में पलाशमयता धर्म की प्राप्ति नहीं होगी। इसलिये मीमांसान्यायप्रकाश-

इन लक्षणों में प्रथम लक्षण सुगम एवं दोषशून्य है। नवीन मीमांसकों ने द्वितीय लक्षण के अनुसार गृहमेधीयेष्टि में पर्णता (=जुहू की पलाशमयता) का विधेश प्राप्त न होने से तृतीय लक्षण बनाया है। यह न केवल क्लिष्ट है, अपितु लक्षणपरिगृहीत प्रकृति-विकृति के अन्योन्याश्रय होने से अन्योन्याश्रित दोषदुष्ट भी है। प्रकृति का लक्षण बिना जाने विकृति का ज्ञान नहीं हो सकता। फिर उसके बिना जाने **चोदकाद् यत्र नाङ्गप्राप्तिः** यह नहीं कहा जा सकता है। यह दोष द्वितीय लक्षण में भी है। प्रकृति के लक्षण में विकृतिपद का निवेश है—**यतो विकृतिरङ्गानि गृह्णाति सा प्रकृतिः।**

विकृतियाग का लक्षण—जिन कर्मों में कर्मोपयोगी समस्त क्रियाकलाप पठित नहीं हैं, और कर्म की पूर्ति के लिये जिन्हें प्रकृतियागों से उपयुक्त कर्म-कलापों का ग्रहण करना होता है, वे विकृतियाग कहाते हैं। यथा—**दीक्षणीयेष्टि, दाक्षायणेष्टि,**[1] **मित्रविन्देष्टि।**

कार ने लिखा है—यहां **विकृतिर्यतोऽङ्गानि गृह्णाति सा प्रकृतिः** यह प्रकृति का लक्षण विवक्षित नहीं है। गृहमेधीय में पर्णता की प्राप्ति न होने से। क्योंकि गृहमेधीय से कोई विकृति अङ्गों को ग्रहण नहीं करती है।

आप० परिभाषा(४।२)के **त्रिभिः कारणैः प्रकृतिर्निवर्तते प्रत्याम्नानात् प्रतिषेधादर्थलोपाच्च** सूत्र की व्याख्या में कपर्दी स्वामी और हरदत्त ने सूत्रस्थ चकार से नियम परिसंख्या और भूतोपदेश ये तीन कार्य प्राकृत पदर्थों की निवृत्ति में और उपस्थापित किये हैं। परिसंख्या से गृहमेधीयेष्टि में प्रयाजादि के प्राप्त होने पर पुनः आज्यभाग का विधान प्रयाजादि के निवृत्त्यर्थ माना है। इससे गृहमेधीयेष्टि का विकृतित्व बाधित होता है।

१. श्री स्वामी करपात्री विरचित 'वेदार्थ पारिजात' के किसी मीमांसकमन्य सहायक ने पृष्ठ २०६९ पर लिखा है—'दाक्षायण ऋतु के लिये 'इष्टि' शब्द का व्यवहार मीमांसक और याज्ञिक नहीं करते, **दाक्षायण यज्ञ** ऐसा ही व्यवहार करते हैं।' दर्शपूर्णमास सब इष्टियों की प्रकृति मानी जाती है। दर्शपूर्णमास स्वयं इष्टि है। इष्टि का लक्षण **श्रौतपदार्थनिर्वचन** में किया है—'इष्टि शब्द चार ऋत्विजों द्वारा सम्पाद्य सपत्नीकयजमानकर्तृक कर्म का नाम है' (पृष्ठ १)। मीमांसा २।३। अधि० ४ के शाबरभाष्य के अनुसार (जिसे लेखक ने भी स्वीकार किया है) दाक्षायण यज्ञ दर्शपूर्णमास का अभ्यासरूप है। ऐसा स्वीकार करने पर दर्शपूर्णमास के इष्टि होने से तदभ्यासरूप दाक्षायण यज्ञ का

प्रकृति-विकृतियाग का लक्षण—जो याग स्वयं विकृतिरूप होते हुये भी अन्य किसी याग की प्रकृतिरूप हों, वे याग **प्रकृति-विकृतियाग** कहाते हैं। यथा —चातुर्मास्य का **वैश्वदेवपर्व**। वैश्वदेवपर्व में प्रकृति से अङ्गों की प्राप्ति होती है और वैश्वदेवपर्व चातुर्मास्य के उत्तर पर्वों की प्रकृति माना जाता है—**वैश्वदेवं वरुणप्रघाससाकमेधशुनासीरीयाणाम्** (आप० परि० ३।३६)।

यद्यपि अग्निष्टोम में सोमयाग-सम्बन्धि समस्त क्रियाकलाप का उपदेश है इस कारण वह अन्य सोमयागों की प्रकृति है—**अग्निष्टोम एकाहानां प्रकृतिः** (आप०परि ४।३)। तथापि उसके अङ्गभूत **उपसदिष्टि दीक्षणीयेष्टि आतिथ्येष्टिरूप** अवान्तर हविर्याग अपने क्रियाकलाप को दर्शपौर्णमास से ग्रहण करते हैं। अङ्गों के साथ किया हुआ कर्म ही फलप्रद होता है। इस प्रकार अग्निष्टोम सोमयाग के रूप में प्रकृतिरूप है, यथा विकृतिरूप से स्वीकृत इष्टियों में प्रधान कर्म तत्तत् प्रकरण में पठित होने पर भी अङ्गकर्मों के प्रकृति से ग्रहण करने के कारण वे विकृतियाग कहाते हैं, उसी प्रकार अपने अवान्तर इष्टियों के रूप में विकृतिरूप भी है।

मेरे उक्तलेख पर वेदार्थ पारिजात के इस प्रकरण के लेखक ने भाग २, पृष्ठ २१०० पर लिखा है—'यदि म० म० चिन्नस्वामी शास्त्री जीवन काल में

इष्टित्व स्वतः प्राप्त है। विरोध करना है, केवल इसी दृष्टि से लेखक ने दाक्षायण यज्ञ के इष्टित्व का अपलाप किया है। शबर स्वामी भट्ट कुमारिल और उनके अनुयायी दाक्षायण यज्ञ को क्रत्वन्तर नहीं मानते। वस्तुतः यह चिन्त्य है। तैत्ति० संहिता में दर्शपूर्णमास की सन्निधि में दाक्षायण यज्ञ का उल्लेख होने से (द्र०—तै० सं० २।५।५।४) तैत्तिरीयशाखाध्यायी मीमांसकों को यह भ्रम हुआ है। मीमांसाशास्त्र सभी संहिताओं और ब्राह्मणग्रन्थों को साथ लेकर चलता है। कुतूहलवृत्तिकार ने मीमांसा के उक्त अधिकरण में ही दाक्षायण यज्ञ के क्रत्वन्तर न होने का अत्यन्त प्रबलता से खण्डन किया है तथा उसने ने कौषीतक ब्राह्मण का निर्देश करके दर्शपूर्णमास प्रकरण के समाप्त हो जाने पर वैमृध आदित्य तथा अभ्युदित आदि इष्टियों के अनन्तर **अथातो दाक्षायणयज्ञस्य** (कौ० ब्रा० ४।४) से दाक्षायण यज्ञ का विधान उपस्थित करके दाक्षायण यज्ञ को दर्शपूर्णमास की विकृति स्वीकार किया है और मीमांसा के उक्त अधिकरण की गवामयन प्रकरणस्थ 'उत्सर्गिणामयन' विषयक व्याख्या करने का सुझाव दिया है। द्र०—कुतू० २।३।११। विस्तारभय से कुतूहलवृत्ति का पाठ उद्धृत नहीं कर रहे हैं। जिन्हें इस विषय की जिज्ञासा होवे पूर्व संस्कृत में मुद्रित 'श्रौत-यज्ञ-मीमांसा' के अन्त में देखें।

होते तो निश्चय ही मानते कि मैंने क्षीरप्रदान से सर्प का पालन किया है'। पूज्य आचार्य पाद के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखना लेखक के स्वमनोविकार को ही प्रकट करता है। पूज्य आचार्य पाद ने तो स्वयं **यज्ञतत्त्वप्रकाश** के पृष्ठ ५७ पर लिखा है—

अत्र बहूनामिष्टिपशूनां सत्यप्यनुष्ठाने तेषामङ्गत्वात् सोमद्रव्यकयागस्यैव प्राधान्यात् सोमयाग इति व्यवहारः। अग्निष्टोमाख्येन साम्ना समाप्यमानत्वाच्च अग्निष्टोम इति प्रकृतियागो व्यवह्रियते।

अर्थात् —सोमयाग में बहुतसी इष्टियों और पशुओं का अनुष्ठान होने पर भी उनके अङ्गरूप होने से और सोमद्रव्यक याग के ही प्रधान होने से इसका सोमयाग ऐसा व्यवहार होता है। अग्निष्टोम नामक साम से इसकी समाप्ति होने से अग्निष्टोम कहाता है। यह सोमयागों का प्रकृतियाग कहा जाता है।

इससे स्पष्ट है कि दीक्षणीयादि इष्टियां सोमयाग की अङ्गभूत हैं, परन्तु साङ्गकर्म के विधान में इष्टियों और पशुयागों की बहुलता होने पर भी प्रधान याग सोमद्रव्यक होने से यह सोमयाग कहाता है। अब विचारणीय है कि **सोमेन यजेत** श्रुति से विहित सोमयाग विना अङ्गकर्मों के तो सम्पन्न होगा ही नहीं। उस कर्म में अङ्गभूत इष्टियां अवश्य करानी होंगी। वे दर्शपूर्णमास की विकृतियां हैं। छः दिन साध्य सोमयाग में एक पञ्चम दिन को छोड़कर शेष ५ दिनों में तो इष्टियां और पशुयाग ही विहित हैं। अतः आचार्यपाद ने स्पष्ट ही लिखा है कि अङ्गरूप इष्टि और पशुयाग के बाहुल्य होने पर भी प्रधान कर्म सोमद्रव्यात्मक होने से इसे सोमयाग कहते हैं। अग्निष्टोम का प्रकृतित्व सोमयाग में क्रियमाण सकल कर्मोपदेश के कारण है। परन्तु तद्गत इष्टियों के विकृतित्व का निवारण कैसे होगा। हमने भी सोमयागान्तर्गत इष्टियों को विकृति कहा है, सम्पूर्ण अग्निष्टोम को विकृति हमने कहा ही नहीं। अतः वेदार्थपारिजात के लेखक का सम्पूर्ण लेख मात्सर्यग्रस्त है।

प्रकृति-विकृति-लक्षणरहित—प्रकृति का जो द्वितीय लक्षण है, उसके अनुसार **गृहमेधीयेष्टि** और **दर्विहोम** ऐसे कर्म हैं, जो न तो कहीं से क्रियाकलाप को ग्रहण करते हैं, और न उनसे कोई कर्मान्तर क्रियाकलाप का ग्रहण करते हैं। अतः ये न प्रकृति हैं, और न विकृति।

१. हविर्यज्ञों की प्रकृति—समस्त हविर्यज्ञों की प्रकृति **दर्शपौर्णमास है।**

२. सोमयागों की प्रकृति—समस्त एकाह सोमयागों की प्रकृति **अग्निष्टोम** है।

३. पशुबन्धों की प्रकृति—संहिता और ब्राह्मण के अनुसार समस्त पशुयागों की प्रकृति अग्निष्टोम-अन्तर्गत अग्नीषोमीय पशुयाग है। क्योंकि पशु-सम्बन्धी समस्त क्रियाकलाप उसी प्रकरण में पठित हैं। परन्तु श्रौतसूत्रकारों ने पशु-सम्बन्धी समस्त क्रियाकलाप निरूढ पशुबन्ध के प्रकरण में पढ़ा है। अतः श्रौतसूत्रकारों के मतानुसार पशुयागों की प्रकृति निरूढ पशुबन्ध है।

यज्ञों के प्रकृति-विकृतित्व में मतभेद

हमने यज्ञों के प्रकृति-विकृति के जो लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं और जो विचार प्रस्तुत किये हैं, वे साम्प्रतिक मीमांसकों एवं याज्ञिकों को पूर्णतया मान्य नहीं हैं। इसका प्रधान कारण है, इनका एकाङ्गी ज्ञान। इसे हमने 'दाक्षायणेष्टि' वा 'दाक्षायण यज्ञ' के प्रकरण में कुतूहलवृत्तिकार का मत उद्धृत करके कुछ स्पष्ट किया है।

वस्तुतः यह प्रकृति-विकृति विचार आचार्यों के दृष्टिभेद से भिन्न-भिन्न भी देखा जाता है। अतः एक पक्ष को ही प्रमाण मानकर भिन्न मत की आलोचना करना अपने अधूरे ज्ञान का ही द्योतक होता है। इसी दृष्टि से हम दर्विहोम जो न प्रकृति माना जाता है और ना ही विकृति, उसकी प्रकृति वा अपूर्वता-बोधक बौधायन गृह्यसूत्र का एक वचन उद्धृत करते हैं—

आघारं प्रकृतिं प्राह दर्विहोमस्य बादरिः।
अग्निहोत्रं तथाऽऽत्रेयः काशकृत्स्नस्त्वपूर्वताम् ॥ १।४।४४ ॥

अर्थात्—बादरि आचार्य के मत में दर्विहोम की प्रकृति आघार कर्म है और आत्रेय के मत में अग्निहोत्र। काशकृत्स्न इसे अपूर्व मानता है।

इस वचन के अनुसार बादरि और आत्रेय के मत में दर्विहोम की प्रकृति में भेद होने पर भी उनके मत में दर्विहोम विकृति है, यह स्पष्ट है। साम्प्रतिक मीमांसक और याज्ञिक दर्विहोम को काशकृत्स्न के समान अपूर्व (न प्रकृति, न विकृति) मानते हैं।

प्रकृति में ऊह होता है वा नहीं

प्रकृति यागों में पठित मन्त्रों में ऊह नहीं होता है, ऐसा आप० परि० का सूत्र है—**न प्रकृतावूहो विद्यते** (३।४८)। ऐसा ही प्रायः सभी मीमांसकों एवं

याज्ञिकों का मत है। वस्तुतः यह नियम औत्सर्गिक है। आवश्यकता होने पर प्रकृतिगत मन्त्र में ऊह होता है। यथा—दर्शपूर्णमास के पुरोडाश के लिये दो वैकल्पिक द्रव्य कहे हैं—**व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा यजेत**। दर्शपूर्णमास प्रकरण में पुरोडाशों के श्रपण हो जाने पर कपालों से उतार कर पुरोडाशपात्री में रखने के लिये मन्त्र पठित हैं—**तस्मिन्त्सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः** (तै० ब्रा० ३।७।५।२-३)।

इस मन्त्र में **व्रीहीणां मेध** शब्द का प्रयोग है। यह व्रीहि के पुरोडाश के लिये तो युक्त है, परन्तु जब यव का पुरोडाश होगा, तब '**व्रीहीणां मेध**' शब्द से उसका बोध न होने से **व्रीहीणां मेध** का प्रयोग अनुचित होगा। इस विषय में आपस्तम्ब श्रौत २।११।२ में कहा है—**तूष्णीं यवमयम्**। अर्थात् यवमय पुरोडाश को पात्री में विना मन्त्रोच्चारण के रखे लिङ्गविरोध से (द्र०—रुद्रदत्तवृत्ति)। हरदत्त ने भी **न प्रकृतावूहो विद्यते** (आप० परि० ३।४८) की व्याख्या में ऐसा ही स्वीकार किया है। वस्तुतः मन्त्र की निवृत्ति करके तूष्णीम् स्थापना की अपेक्षा **यवानां मेध** ऐसा ऊह करना युक्ति संगत है। मानव श्रौतसूत्र १।२। ६।२२ **यवानां मेध इति यवानाम्** में स्पष्ट ऊह दर्शाया है। वस्तुतः **सर्वे विधयः सापवादाः** नियम से प्रकृति में भी क्वचिद् ऊह हो सकता है।

उक्त द्रव्यमय श्रौतयज्ञों की प्रकल्पना क्यों की गई, इनका प्रादुर्भाव कब हुआ, और इनमें कैसे वृद्धि तथा परिवर्तन हुये, इनका हम क्रमशः संक्षेप से वर्णन प्रस्तुत करते हैं—

द्रव्ययज्ञों की कल्पना का प्रयोजन

सृष्टि के आरम्भ में सत्त्वगुणविशिष्ट योगज-शक्ति-सम्पन्न परावरज्ञ ऋषि लोग अपनी दिव्य मानसिक शक्ति से इस चराचर जगत् के परमाणु से लेकर परम महत् तत्त्व पर्यन्त समस्त पदार्थों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष कर लेते थे। उनके लिये कोई भी पदार्थ अप्रत्यक्ष नहीं था[१]। उत्तरोत्तर सत्त्वगुण की न्यूनता, एवं रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि के कारण काम क्रोध लोभ और मोह

---

१. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। निरुक्त १।२०॥ पुरा खलु अपरिमित-शक्तिप्रभावीर्य.............धर्मसत्त्वशुद्धतेजसः पुरुषा बभूवुः॥ पराशरकृत ज्योतिषसंहिता का वचन, उत्पलकृत बृहत्संहिता की टीका में पृष्ठ १५ पर उद्धृत।

आदि उत्पन्न हुए[1]। उनके वशीभूत होकर मानवी प्रजा ने सुखविशेष की इच्छा से प्राजापत्य शाश्वत नियमों का उल्लंघन करके कृत्रिम जीवनयापन करना प्रारम्भ किया।[2] ज्यों-ज्यों आवश्यकता बढ़ती गई, त्यों-त्यों जीवनयापन के साधनों में भी कृत्रिमता बढ़ने लगी। इस के साथ ही साथ मानव की मानसिक दिव्य शक्तियों का भी ह्रास होने लगा।[1] उनके ह्रास के कारण सूक्ष्म दूरस्थ और व्यवहित पदार्थ अज्ञेय बन गये। अतः ब्रह्माण्ड और पिण्ड (=अध्यात्म=शरीर) की रचना कैसी है, यह जानना सर्वसाधारण के लिये जटिल समस्या बन गई। इस कारण आधिभौतिक आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ भी दुरूह हो गया। ऐसे काल में तात्कालिक साक्षात्कृतधर्मा परावरज्ञ ऋषियों ने **ब्रह्माण्ड तथा अध्यात्म की रचना का ज्ञान कराने, और आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्राचीन वेदार्थ को सुरक्षित करने-कराने के लिये यज्ञरूपी रूपकों की कल्पना की**। यज्ञ का मूल प्रयोजन दैवत और अध्यात्म का ज्ञान कराना ही है, इस बात की ओर आचार्य यास्क ने निरुक्त १।१९ में संकेत किया है—**याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा**। अथर्ववेद ११।३(३)।५२,५३ में कहा है—**तस्माद्वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः। तेषां प्रज्ञानाय यज्ञान् असृजत्**। अर्थात् प्रजापति ने स्व-सृष्ट लोकों के प्रज्ञान के लिये यज्ञों का सृजन किया।

यास्क के मतानुसार यज्ञ और देवता का ज्ञान क्रमशः पुष्प और फल स्थानीय है, अर्थात् जैसे पुष्प फल की निष्पत्ति में कारण होता है, वैसे ही याज्ञिक-प्रक्रिया का ज्ञान दैवत (=ब्रह्माण्ड) के ज्ञान में कारण होता है, जब दैवतज्ञान

---

१. (क) तेषां क्रमादपचीयमानसत्त्वानाम् उपचीयमानरजस्तमस्कानां तेजोऽन्तर्दधे॥ पराशरकृत ज्योतिषसंहिता का वचन, उत्पल द्वारा बृहत्संहिता टीका, पृष्ठ १५ पर उद्धृत।

(ख) 'भ्रंश्यति तु कृतयुगे लोभः प्रादुरासीत्॥२८॥ ततस्त्रेतायां लोभादभिद्रोहः, अभिद्रोहाद् अनृतवचनम्, अनृतवचनात् कामक्रोधमानद्वेषपारुष्याभिघातभयतापशोकचिन्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः' ॥२९॥ चरकसंहिता विमानस्थान अ० ३॥

२. ता इमाः प्रजास्तथैवोपजीवन्ति यथैवाभ्यः प्रजापतिर्व्यदधात्। नैव देवा अतिक्रामन्ति न पितरो न पशवः। **मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति**। शत० २।४।२।५-६॥

हो जाता है, तब वह दैवतज्ञान याज्ञिकप्रक्रिया की दृष्टि से फल-स्थानीय होता हुआ भी अध्यात्मज्ञान की दृष्टि से पुष्पस्थानीय होता है, अर्थात अध्यात्म-ज्ञान में दैवतज्ञान कारण बनता है। इसी दृष्टि से ब्राह्मणग्रन्थों में याज्ञिक प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए अनेक स्थानों में **'इत्यधियज्ञम्'** कहकर **'अथाधिदैवतम्, अथाध्यात्मम्'** के निर्देश द्वारा तीनों की परस्पर समानता दर्शाई है। अनुश्रुति के अनुसार मीमांसाशास्त्र के भी तीन विभाग हैं। प्रारम्भिक भाग **कर्ममीमांसा** कहाता है, मध्य भाग **दैवत-मीमांसा** और अन्त्य भाग **ब्रह्ममीमांसा**[1]। इससे भी यही ध्वनित होता है कि यज्ञ देवता और अध्यात्म का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

उपर्युक्त निर्देशों से यह सुव्यक्त हो जाता है कि यज्ञ की कल्पना ब्रह्माण्ड और पिण्ड की सूक्ष्म रचना का बोध कराने के लिये ही की गई है। यज्ञकर्म में थोड़ा-सा भी हेर-फेर होने पर, यहां तक कि पात्रों के यथास्थान न रखने पर भी कर्म के दुष्ट होने अर्थात् यथावत् फलदायक न होने की कल्पना की गई है। इसे आप सुगमता से इस प्रकार समझ सकते हैं कि पृथिवी वा आ-काशस्थ पदार्थों की स्थिति समझाने के लिये जो भूगोल और खगोल के मानचित्र बनाये जाते हैं, उनमें यदि प्रमादवश नामाङ्कन में थोड़ी-सी भूल हो जावे, तो वे मानचित्र बेकार हो जाते हैं। क्योंकि उन अशुद्ध नामाङ्कनवाले मानचित्रों से भूगोल और खगोल के तत्तत् नामवाले स्थानों की यथावत् स्थिति का बोध नहीं हो सकता। अर्थात् वे जिस प्रयोजन के लिये बनाये गये, उस प्रयोजन के साधक होना तो दूर रहा, उलटा अज्ञानवर्धक होते हैं। इस दृष्टि से ही यज्ञीय प्रत्येक कर्म को यथाशास्त्र करने का याज्ञिकों का आग्रह है। उत्तरकाल में कार्यकर्त्ताओं के विशेष प्रबुद्ध न होने पर अदृष्ट उत्पन्न न

---

१. मीमांसाशास्त्र में ये तीनों विभाग पुराकाल में रहे होंगे। वर्तमान विंशति-अध्यायात्मक मीमांसाशास्त्र में दैवतकाण्ड अपने यथावत् रूप में नहीं है। वर्तमान मीमांसाशास्त्र के अ० १३-१६ तक के चार अध्याय, जिन्हें संकर्षकाण्ड भी कहा जाता हैं, के लिये दैवतकाण्ड नाम का भी व्यवहार होता है। परन्तु इनमें पूर्व १२ अध्यायों में निर्दिष्ट कर्मकाण्ड के अवशिष्ट कतिपय विषयों पर ही विचार किया गया है। इस प्रकार ये चार अध्याय पूर्वशास्त्र के परिशिष्ट-मात्र हैं।

होने अथवा पाप लगने की विभीषिका प्रचलित कर दी गई, जिससे कार्य-कर्ता सावधान होकर कर्म करें।

इस प्रकार भूगोल-खगोल के मानचित्रों के समान श्रौतयज्ञ आधिदैविक जगत् एवं अध्यात्म जगत् के जानने के साधनमात्र हैं, स्वयं साध्य नहीं हैं।

द्रव्ययज्ञों की कल्पना का आधार

विराट् पुरुष (=ब्रह्म) ने अपने सखा[1] शारीर पुरुष (=जीव) के शरीर की रचना में अपने ही विराट् शरीर (=ब्रह्माण्ड) की रचना का पूरा-पूरा अनुकरण किया है, अर्थात् यह मानव शरीर इस ब्रह्माण्ड की ही एक लघु प्रतिकृति है। अत एव आयुर्वेद की चरकसंहिता के **पुरुषविचय** नामक अध्याय (शारीर० अ० २५) **पुरुषोऽयं लोकसम्मितः** ऐसा निर्देश करके पुरुष और लोक की विस्तार से तुलना दर्शाई है। परावरज्ञ ऋषियों ने अपनी दिव्य योगजशक्ति से ब्रह्माण्ड और पिण्ड के रचना-साम्य का अनुभव करके उसी के आधार पर दोनों के प्रतिनिधिरूप यज्ञों की कल्पना की। अत एव ब्राह्मणग्रन्थों में बहुधा उक्त **इत्यधियज्ञम् अथाधिदैवतम् अथाध्यात्मम्** कहकर एक दूसरे का तुलनात्मक व्याख्यान करना उपपन्न होता है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि **जिस प्रकार भूमण्डल और नक्षत्रमण्डल के विभिन्न अवयवों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराने के लिये उनके मानचित्रों की; तथा प्रचीन काल की किसी परोक्ष घटना का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने के लिये नाटक की कल्पना की जाती है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की रचना का ज्ञान कराने के लिये यज्ञों की कल्पना की गई।** अर्थात् यज्ञों की कल्पना भी भूगोल आदि के समान सत्य वैज्ञानिक आधार पर ही हुई है। अत एव जिस प्रकार नगर जिला प्रान्त देश और महादेश आदि के क्रम से भूगोल का क्रमिक ज्ञान कराने के लिये विभिन्न छोटे-बड़े प्रदेशों के मानचित्र तैयार किये जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की स्थूल वा सूक्ष्म रचना का क्रमशः ज्ञान कराने के लिये **अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास** और **चातुर्मास्य** आदि विभिन्न छोटे-मोटे यज्ञों की कल्पना की गई। इसी कल्पना के कारण यज्ञों का एक नाम कल्प भी है—**कल्पनात् कल्पः**। अतएव यज्ञों के व्याख्यान[2] करनेवाले सूत्रग्रन्थ **कल्पसूत्र** कहाते हैं। यज्ञों की प्रकल्पना सृष्टियज्ञ का ज्ञान

---

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया। ऋ० १।१६४।२०॥

२. यज्ञं व्याख्यास्यामः। का० श्रौ० १।२।१॥

कराने के लिये हुई थी, इस बात को हृदयंगम कराने के लिये द्रव्यमय यज्ञ और सृष्टियज्ञ की कुछ तुलना उपस्थित करते हैं।

द्रव्ययज्ञों की अधिदैवत सृष्टियज्ञों से तुलना

द्रव्ययज्ञों और सृष्टियज्ञों की तुलना के लिये हम नीचे कुछ विशेष प्रकरण उपस्थित करते हैं—

१—वेदि-निर्माण और पृथिवी-सर्ग

सब से प्रथम हम श्रौतयज्ञों के आधारभूत वेदि-निर्माण और अग्न्याधान की प्रक्रिया, जिसका शाखाओं ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं श्रौतसूत्रों में विस्तार से वर्णन किया है, का संक्षेप से वर्णन करते हैं—

वेदि-निर्माण—सब से पूर्व वेदिनिर्माणार्थ यज्ञोपयोगी भूमि का निरीक्षण किया जाता है। तत्पश्चात् उस भूमि पर वेदि की रचना के लिये भूमि के ऊपर की कुछ मिट्टी खोदकर हटाई जाती है, जिससे अशुद्ध मिट्टी वा घास-फूंस की जड़ें निकल जायें। तत्पश्चात् उस स्थान में निम्न क्रियाएं क्रमशः की जाती हैं—

१—जल का सिञ्चन किया जाता है। तत्पश्चात्

२—वराह-विहत (=सूअर से खोदी गई) मिट्टी बिछाई जाती है। तत्पश्चात्

३—दीमक की बांबी की मिट्टी बिछाई जाती है। तत्पश्चात्

४—ऊसर भूमि की मिट्टी (=रेह—पंजाबी में) फैलाई जाती है। तत्पश्चात्

५—सिकता (=बालू) बिछाई जाती है, तत्पश्चात्

६—शर्करा (रोड़ी) बिछाते हैं। तत्पश्चात्

७—ईंटे बिछाई जाती हैं। तत्पश्चात्

८—सुवर्ण रखा जाता है।[1] तत्पश्चात्

९—समिधाएं रखी जाती है। तत्पश्चात्

१०—अश्वत्थ (=पीपल) की अरणियों (=दो काष्ठों) को मथकर (=रगड़कर) अग्नि उत्पन्न करके समिधाओं पर धरते हैं।

---

१. हिरण्यमुपर्यके (कात्या० श्रौत ४।८।१५)। सम्भाराणामुपरि हिरण्यनिधानमेके आचार्या इच्छन्ति इति तद्व्याख्यातारः।

पृथिवी-सृजन-प्रक्रिया और वेदिनिर्माण-विधि की समानता

अग्न्याधान में वेदिनिर्माण की जो उक्त क्रियाएं की जाती हैं, वे हिरण्य-गर्भाख्य महदण्ड से पृथिव्यादि के पृथक् होने के पश्चात् पृथिवी की जो सलिल-मयी स्थिति थी, उस अवस्था से लेकर पृथिवी के पृष्ठ पर जब अग्नि की प्रथम उत्पत्ति हुई तब तक की पृथिवी की विविध परिवर्तित स्थितियों का बोध कराती हैं। पृथिवी और वेदि का साम्य वेद स्वय दर्शाता है— **'इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः'** (यजु० २३।६२)। शतपथ-ब्राह्मण में इस काल को ९ विभागों में विभक्त करके नौ प्रकार के सर्ग (=सृष्टि) का वर्णन किया है। यथा—

'स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत।...स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापमूषं सिकतं शर्करा अश्मानम् अयोहिरण्यम् ओषधिवनस्पत्यसृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्॥ शत० ६।१।१।१३॥

यहां जो नौ प्रकार की सृष्टि कही है, उनमें फेन के आपः प्रधान होने से वेदि-निर्माण की उपर्युक्त प्रक्रिया में उसको सम्मिलित नहीं किया है। अब हम वैदिक-ग्रन्थों के आधार पर वेदि-निर्माण और पृथिवी के विविध सर्गों का वर्णन करते हैं, जिससे हमारे उक्त विचार स्पष्ट हो जायेंगे।

१—आरम्भ में पृथिवी सलिलमयी थी—**'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास'** (शतपथ ११।६।१।६)। इस स्थिति को दर्शाने के लिये वेदि के स्थान में जलसिचन किया जाता है।

२—अग्नि के संयोग से सलिलों में फेन उत्पन्न हुआ, जैसे दूध गरम करने पर उबाल के समय उत्पन्न होता है। वही फेन वायु के संयोग से घनत्व को प्राप्त होकर मृद्भाव को प्राप्त होता है। जैसे दूध पर मलाई जमती है (पर दूध को ढक देने से वायु का संयोग न होने से मलाई नहीं जमती) इसके लिये शतपथ ६।१।३।३ में कहा है—**'स (फेनः) यदोपहन्यते मृदेव भवति'**।

मृत् की उत्पत्ति में सूर्य की किरणों का विशेष महत्व होता है। ये सूर्य की अङ्गिरस नामक किरणें वराह भी कहाती हैं[1]। उस समय पृथिवी का

---

१. पुराणों में अनुश्रुति है कि विष्णु ने वराह का रूप धारण करके जल से पृथिवी को निकाला। सभी पौराणिक अवतार विष्णु के अंश हैं। वेद में विष्णु सूर्य का नाम है, उसकी अङ्गिरस नामक किरणें वराह हैं—**अङ्गि-**

रूप वराह के मुख के सदृश छोटा-सा होता है। अत एव वेदि-निर्माण में वराह (=सूअर)द्वारा खोदी गई बारीक मिट्टी बिछाई जाती है। इसलिये मैत्रायणी-संहिता १।६।३ में कहा है--**'यावद् वै वराहस्य चषालं तावतीयमग्र आसीत्। यद् वराहविहतमुपास्याग्निमाधत्ते'।** अर्थात् आरम्भ में पृथिवी उतनी ही **थी,** जितना वराह के मुख का अग्रभाग होता है। **वराहस्य चषालम्** पृथिवी-भाग की अल्पता का उपलक्षक है।

३—जब वही मृत् सूर्य की किरणों से सूख जाती है, तब उसे शुष्काप (=सूख गये हैं जल जिसके) कहते हैं। उसके नीचे जल होता है। यह सूखी हुई पपड़ीरूपी मृत् मसलने पर भुरभुरी हो जाती है। इसी शुष्कापरूप अवस्था का बोध कराने के लिये दीमक की बाम्बी की मिटटी बिछाई जाती है। दीमक पृथिवी के अन्दर से गीली मिट्टी लाती है[1]। और वह हवा तथा धूप से सूख जाने पर मलने में भुरभुरी होती है। इसीलिये मैत्रायणी संहिता १।६।३ में कहा है—**'यद् वल्मीकवपामुत्कीर्याग्निमाधत्ते'।**

४—वही शुष्काप सूर्य की किरणों से तपकर ऊष (जलानेवाले क्षारत्व) भाव को प्राप्त होते हैं। इसीलिये वेदि में ऊसर भूमि की मिट्टी 'रेह' बिछाई जाती है। मैत्रायणी संहिता १।६।३ में कहा है—**'यदूषानुपकीर्याग्निमाधत्ते'।**

५—वही ऊष=क्षार मिट्टी पुनः सूर्य किरणों से, तथा पृथिवीगर्भस्थ अग्नि से तप्त होकर सिकता=बालू का रूप धारण करती है[2]। इसीलिये वेदि में भी सिकता बिछाई जाती है—**'यत्सिकतामुपकीर्याग्निमाधत्ते'** (मै० सं० १।६।३)। इस अवस्था तक पृथिवी शिथिल=ढीली=पिलपिली थी। शु० यजुः २०।१२ में कहा है—**'अविरासीत् पिलिप्पिला'।**

रसोऽपि वराहा उच्यन्ते (निरुक्त ५।४)। इन्हें जातिरूप से एकवचन में **एमूष वराह** भी कहते हैं। शतपथ १४।१।२।११ में कहा है—**'तामेमूष इति वराह उज्जघान'।** एमूष वराह का वर्णन ऋग्वेद के **'वराहमिन्द्र एमूषम्'** (८।७७।१०) मन्त्र में भी आता है। एमूष का **अर्थ** है—**आ**=सब ओर से, **ईम्**= जलों को (=ईम् उदकनाम, निघण्टु १।१२), **ऊष**=तपानेवाला।

१. दीमक की बाम्बी के नीचे जल अवश्य होता है। इसीलिये राजस्थान में जलगवेषक दीमक की बाम्बी के स्थान में कुंआ खोदने को कहते हैं।

२. सिकता पृथिवी के ऊपर भी उपलब्ध होती है, जैसे राजस्थान में। और पृथिवी के अन्दर भी बनती है। आज भी कच्चे पहाड़ों में उपलब्ध कच्चे पत्थरों को मसलने पर बालू के कण पृथक्-पृथक् हो जाते हैं।

६—वही अन्तःस्थित सिकता भूगर्भस्थ अग्नि से तपकर शर्करा=रोड़ी[1] बन जाती है। पृथिवी के इस अन्तःपरिवर्तन का बोध कराने के लिये वेदि में शर्करा=रोड़ी बिछाई जाती है। इसीलिये मै० सं० १।६।३ में कहा है—**'यच्छर्करा उपकीर्याग्निमाधत्ते'**।

पृथिवी-गर्भ में शर्करा की उत्पत्ति से भूमि में दृढत्व आता है। इस तथ्य को वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार दर्शाया है—**'शिथिरा वा इयमग्र आसीत्। तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत'** (मै० सं० १।६।३)।

इसी अग्निरूप क[2]=प्रजापति के कर्म का वर्णन ऋग्वेद १०।१२२।५ में किया है—**'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा'**।

७—वही शर्करा अन्तस्ताप से संतप्त होकर पाषाणरूप को धारण करती है। इसीलिये अग्निचयनसंज्ञक याग में वेदि में पाषाण के स्थान में प्रतिनिधिरूप ईंटें[3] बिछाई जाती हैं। तैत्तिरीय संहिता ५।२।८ में कहा है—**'इष्टका उपदधाति'**।

८—वही पाषाण भूगर्भस्थ अग्नि से संतप्त होकर लोह से सुवर्ण पर्यन्त धातुरूप में परिणत होता है।[4] उसी धातूत्पत्ति-कालिक पृथिवी की स्थिति का वर्णन करने के लिये कहा है[5]—**'हिरण्यनुपर्यंके'** (कात्या० श्रौत ४।८।१५)।

९—पृथिवी-गर्भ में अयः (=लोह) से हिरण्य-पर्यन्त धातु-निर्माण हो जाने तक पृथिवी कूर्म-पृष्ठ (=कछुए की पीठ) के समान लोमरहित थी।

---

१. छोटे-छोटे पत्थर=कंकड़।

२. ब्रह्माण्ड में यह 'क' अग्निरूप प्रजापति है। शरीर में 'क' अग्निरूप जीवात्मा प्रजापति है।

३. नियत अग्निचयन कर्म में श्येन आकारवाली वेदि में विभिन्न आकारवाली ईंटें बिछाई जाती हैं। विभिन्न इष्ट आकारों में पत्थरों को घड़ना कष्टसाध्य है। इसलिये यहां प्रतिनिधिरूप में ईंटें बिछाने का निर्देश किया गया है।

४. द्र—**'अश्मनो लोहसमुत्थितम्'**। महा० उद्योग०। रसार्णवतन्त्र ८।९९ में लोहसंकरज सुवर्ण का वर्णन मिलता है।

५. अग्नि चयन में भी हिरण्यनिधान का विधान है। **हिरण्यं निधाय चेतव्यम्** (मी० शा० भाष्य १।२।१८) में, तथा **रुक्ममुपदधाति** (मै० सं० ३।२।६)।

उसके अनन्तर पृथिवी पर ओषधि वनस्पतियों की उत्पत्ति हुई। पृथिवी की इस स्थिति को बताने के लिये ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहा है—

'इयं वाऽलोमिकेवाग्र आसीत्' । ऐ० ब्रा० २४।२२॥

'ओषधिवनस्पतयो वा लोमानि' जै० ब्रा० २।५४॥

'इयं तर्हि यृक्षाऽऽसीद् अलोमिका। तेऽब्रुवन् तस्मै कामायालभामहै, यथाऽस्यामोषधयो वनस्पतयश्च जायन्त इति' मै० सं० २।५।२॥

इसीलिये वेदि में हिरण्य रखकर समिधाएं अथवा तत्स्थानीय आरण्य उपले (=कण्डे) रखे जाते हैं।

१०—वनस्पतिरूप बड़े-बड़े वृक्षों के उत्पन्न होने पर वायु के वेग से वृक्ष शाखाओं की रगड़ से पृथिवी पर सब से प्रथम अग्नि की उत्पत्ति हुई।[१] अत एव वेद में कहा है—**'तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे'** (यजु० ३ ५)।

पृथिवी के पृष्ठ पर प्रथम अग्नि के प्रादुर्भाव का बोधन कराने के लिये वेदि में जिस अग्नि का आधान किया जाता है, उसे पीपल के काष्ठ से निर्मित दो अरणियों को मथकर ही उत्पन्न किया जाता है।

२—सोम-याग और वृष्टि-यज्ञ

सोमयाग की प्रमुख क्रियाओं का सृष्टिगत वृष्टि-यज्ञ के साथ अद्भुत साम्य है। सोमयाग की विविध क्रियाओं के द्वारा अन्तरिक्ष में वृष्टि की उत्पत्ति कैसे होती है, इसका निदर्शन कराया हैं। इतना ही नहीं, वर्ष भर में चार-चार मासों की ऋतुओं में कितनी वर्षा होती है, यह भी दर्शाया है। सोमयाग में विहित अग्नीषोमीय सवनीय और मैत्रावारुणी वशा गौ अनूबन्ध्यारूप पशु भी आधिदैविक पशुओं=पदार्थों के ही निरूपक हैं। इस सबकी विस्तृत व्याख्या प्रकृत निबन्ध के अन्त में दे रहे हैं। उस से द्रव्ययज्ञ सृष्टियज्ञों के ही व्याख्यानरूप हैं यह तत्त्व विशेष रूप से हृदयंगम हो जायेगा।

३—चयन-याग में पुष्कर-पर्ण-विधि का रहस्य

अग्निचयन (सुपर्णचिति) संज्ञक याग में द्युस्थानीय सुपर्ण=आदित्य का सृष्टि में जो-जो कार्य है उसका निदर्शन कराया है। यवादि ओषधियों के

---

१. महावनों में वृक्ष-शाखाओं की रगड़ से दावाग्नि की उत्पत्ति प्रायः होती रहती है।

प्रादुर्भाव तथा प्राणियों के जीवन में आदित्य प्रमुख कारण है। इसीलिये अग्निचयन में यज्ञीय भूमि जोती जाती है, और बीज बोये जाते हैं। प्रमुख पांच पशुओं के प्रतिनिधि रूप में उनके शीर्षभाग की प्रतिकृतियां रखी जाती हैं। तदनन्तर इष्टकाओं का चयन किया जाता है।

वैदिक ग्रन्थों के अनुशीलन से जाना जाता है कि जब हिरण्यगर्भरूप महद् अण्ड के फूटने पर पृथिव्यादि लोक सत्ता में आये, तब द्युलोक और पृथिवी लोक समीप में थे। ऋग्वेद १।१५६।४ में कहा है—**जामी सयोनी मिथुना समोकसा**। अर्थात् द्यावापृथिवी एक स्थान पर अर्थात् समीप थे। ब्राह्मणग्रन्थों में **द्यावापृथिवी सहास्ताम्** (तै० सं० ५।२।३।३॥ तै० ब्रा० १।१।३।२) में स्पष्ट ही द्यावापृथिवी का साथ रहना उल्लिखित मिलता है।

कालान्तर में जब द्यावापृथिवी वियुत=दूर-दूर हुए। इसका निदर्शन शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार किया है—

अग्न आयाहि वीतये। तद्वेति भवति वीतय इति। समन्तकमिव ह वा इमेऽग्रे लोका आसुरिति उन्मृश्याहैव द्यौरास। शत० १।४।१।२२॥

अर्थात्—अग्नि आओ दूर करने के लिये। वह दूर होता है 'वीतये' से। ये लोक परस्पर समीप थे। द्युलोक हाथ से छूने योग्य सा था।

इस वचन के अनुसार लोकों के दूर-दूर होने में अग्नि को प्रधान कारण कहा है। आदित्य का दूर गमन अर्थात् वर्तमान कक्षा में पहुंचना तीन बार में हुआ। इसी का निदर्शन अग्निचयन को तीन भागों में बांट कर दर्शाया है। प्रथम बार में एक सहस्र इष्टकाओं का चयन होता है। इसमें जांघ तक ऊंचाई होती है। दूसरी बार में दो सहस्र इष्टकाओं का चयन होता है। इसकी ऊंचाई छाती तक होती है। तीसरी बार में तीन सहस्र इष्टकाओं का चयन होता है। इसकी ऊंचाई शिर अथवा मुख तक होती है।

अग्निचयन के विषय में हम अन्यत्र विस्तार से लिखेंगे। अभी इसकी कई विधियां हमारे लिये रहस्यमय बनी हुई हैं।

पूर्व संख्या ३ में शुष्कापरूप जिस पार्थिव स्थिति का वर्णन किया है, उस समय पार्थिव भाग जल पर वायु के वेग से पुष्करपर्ण (=कमल के पत्ते) के समान इधर-उधर डोलता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में कह है—**'सा हेयं पृथिव्यलेलायत यथा पुष्करपर्णम्'** (शत० २।२।१।८)। इसी का वर्णन वायुरूपी इन्द्र के कर्म के रूप में किया है—**'हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा'** (ऋ० १०।

११९।९) अर्थात् इन्द्र=वायु कहता है कि मैं इतना बलशाली हूं कि मैं जहां चाहूं इस पृथिवी को रख दूं।

इस पुष्करपर्णवत् स्थिति का निदर्शन चयन-याग में पुष्करपर्ण को रख कर कराया है—**'तस्मिन् पुष्करपर्णम् अपां पृष्ठम् इति'** (का० श्रौत० १६।२।२५)। मत्स्य पुराण (१८६।१६ 'मोर' संस्क०) में इस विषय में लिखा है—

एतस्मात् कारणात् तज्ज्ञैः पुराणैः परमर्षिभिः।
यज्ञियैर्वेददृष्टान्तैर्यज्ञे पद्मविधिः स्मृतः॥

अर्थात्—इसी कारण प्राचीन ऋषियों ने वेदनिर्दिष्ट दृष्टान्त से यज्ञ में पद्मविधि=पुष्करपर्ण के निधान का निर्देश किया है।

४—सृष्टि-यज्ञ के देवता और द्रव्ययज्ञ के देवताओं का साम्य

नैरुक्त सम्प्रदाय के आचार्य वेद के मन्त्रों की आधिदैविक प्रक्रिया के अनुसार व्याख्या करते हैं, अर्थात् नैरुक्त सम्प्रदाय में विज्ञात देवता आधिदैविक जगत् अर्थात् सृष्टियज्ञ के विशिष्ट कार्यकारी भौतिक तत्त्व हैं, यह निरुक्त के अध्ययन से सुस्पष्ट है। परन्तु आधिदैविक प्रक्रियानुसार देवताओं की व्याख्या करनेवाले यास्क मुनि ने अनादिष्ट देवताक (=जिन मन्त्रों का देवता मन्त्र में साक्षात् निर्दिष्ट नहीं है, उन) मन्त्रों के देवता-परिज्ञान के लिये जो उपाय दर्शाये हैं, उनमें सब से प्रथम निर्दिष्ट है—**'यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति'** (निरुक्त ७।४)। इसका भाव यह है कि—अनादिष्ट देवतावाले मन्त्रों के देवता के परिज्ञान के लिये सब से प्रथम यह देखना चाहिये कि वह अनादिष्ट देवतावाला मन्त्र किस यज्ञ वा यज्ञाङ्ग में विनियुक्त है। तदनुसार उस यज्ञ वा यज्ञाङ्ग का जो देवता माना गया है, वही उस अनादिष्ट देवता वाले मन्त्र का जानना चाहिये।

इस निर्देश से स्पष्ट है कि आधिदैविक जगत् और द्रव्यमय यज्ञ का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, दोनों में अत्यन्त साम्य है। अन्यथा आधिदैविक प्रक्रियानुसार देवताओं का व्याख्याता यास्कमुनि अनादिष्ट देवतावाले मन्त्रों के देवता के परिज्ञान के लिये द्रव्यमय यज्ञों वा उनके यज्ञाङ्गों का आश्रय लेने का उपदेश न देते।

उक्त सामान्य निर्देश के अतिरिक्त यास्क मुनि ने बहुत्र मन्त्रों का व्याख्यान करते हुए भी अधियज्ञ और अधिदैवत का साम्य दर्शाया है। यथा—निरुक्त

५।११ में **एकया प्रतिधापिबत् साकं सरांसि त्रिंशतम्** (ऋ० ८।७७।४) की व्याख्या में लिखा है—

तत्रैसद् याज्ञिका वेदयन्ते—त्रिंशद् उक्थपात्राणि माध्यन्दिने सवन एकदेवतानि । तान्येकस्मिन् काल एकेन प्रतिधानेन पिबन्ति । तान्यत्र सरांस्युच्यन्ते । त्रिंशदपरपक्षस्याहोरात्राः त्रिंशत् पूर्वपक्षस्येति नैरुक्ताः ।

अर्थात् इस विषय में याज्ञिक कहते हैं कि माध्यन्दिन सवन में ३० उक्थ पात्र एक देवतावाले होते हैं। उनको उस समय एक साथ पीते हैं। उन्हें यहां 'सरांसि' कहा जाता हैं। तीस अपर पक्ष के दिन रात होते हैं और ३० दिनरात पूर्वपक्ष के। ऐसा नैरुक्तों का मत है।

इसी प्रकार निरुक्त ११।४ में **सोमं मन्यते पपिवान्** (ऋ० १०।८५।३) मन्त्र का प्रथम '**अधियज्ञ**' व्यख्यान कर के '**अथाधिदैवतम्**' लिख कर आधिदैविक अर्थ किया है।

५—तीनों लोकों का यज्ञों से साम्य

यास्कमुनि ने अनादिष्टदेवताले मन्त्रों की देवता-परीक्षा के प्रकरण का उपसंहार करते हुए पुनः लिखा है—

'अथैतान्यग्निभक्तीनि—अयं लोकः, प्रातःसवनं, वसन्तः.........। अथैतानीन्द्रभक्तीनि – अन्तरिक्षलोकः, माध्यन्दिनं सवनं, ग्रीष्मः.........। अथैतान्यादित्यभक्तीनि—असौ लोकः, तृतीयं सवनं, वर्षाः......।' निरुक्त ७।८-११ ॥

इसका तात्पर्य यह है कि अग्नि इन्द्र और आदित्य जो तीन नैरुक्त प्रधान देवता हैं, उनका जिनके साथ भाग का साहचर्य देखा जाता है, उनका वर्णन किया हैं। इस प्रकार अग्निदेवता—इस पृथिवीलोक, माध्यन्दिन सवन, और ग्रीष्म ऋतु आदि के साथ; इन्द्रदेवता—अन्तरिक्षलोक, माध्यन्दिन सवन, और ग्रीष्म ऋतु आदि के साथ; तथा आदित्यदेवता—द्युलोक, तृतीय सवन और वर्षा ऋतु के साथ सम्बन्ध रखता हैं। इससे स्पष्ट है कि नैरुक्त देवता और याज्ञिक देवता समान हैं। और तीनों लोकों का यज्ञगत तीनों सवनों से साम्य है।

निरुक्तकार यास्क ने तीनों लोकों और यज्ञगत तीनों सवनों के साम्य का निर्देश निम्न वचन में भी दर्शाया है—

'अथासावादित्यः (वैश्वानरः) इति पूर्वे याज्ञिकाः । एषां लोकानां रोहेण

सवनानां रोह आम्नातः। रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः। तामनुकृतिं होताग्निमारुते शस्त्रे वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते' (निरुक्त ७। २३)।

अर्थात्—प्राचीन याज्ञिक आदित्य को वैश्वानर मानते थे। इन [पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यु] लोकों के आरोह (=चढ़ाई) के समान प्रातः-सवन माध्यन्दिन-सवन और तृतीय-सवन का आरोह कहा गया है। अर्थात् प्रातः-सवन में यजमान पृथिवीस्थानीय होता है, माध्यन्दिन-सवन में अन्तरिक्ष-स्थानीय, एवं तृतीय-सवन में द्युस्थानीय हो जाता है। द्युलोक में पहुंचे हुए यजमान को यज्ञ की समाप्ति से पूर्व पृथिवी पर लाना आवश्यक है। वापस उतार की अनुकृति (अनुकरण) को होता वैश्वानरीय आदित्य-देवताक सूक्त से आरम्भ करता है।

वेदि-निर्माण, अग्न्याधान, पुष्करपर्ण-निधान और सवनों के आरोहादि की सृष्टियज्ञ से जो तुलना ब्राह्मणादि ग्रन्थों में दर्शाई है, उससे स्पष्ट है कि श्रौत-यज्ञ सृष्टियज्ञ के ही रूपक हैं। तथा सृष्टियज्ञ **अर्थात्** अधिदैविक जगत् का अध्यात्म के साथ सम्बन्ध है। अधिदैविक जगत् के ज्ञान से अध्यात्म का अर्थात् शारीर यज्ञ का परिज्ञान होता है। इसीलिये निरुक्तकार यास्क ने **देवताऽध्यात्मे वा [पुष्पफले]** (निरुक्त १।१९) कहकर अधिदैविक ज्ञान को अध्यात्म ज्ञान में कारण बताया है। यही अभिप्राय लोकप्रसिद्ध **यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे** लोकोक्ति से भी प्रकट होता है।

यद्यपि इस प्रकार के वैज्ञानिक आधार पर प्रकल्पित श्रौतयज्ञों की समस्त क्रियाओं और पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साथ क्या सादृश्य है, इसका साक्षात् विस्तृत उल्लेख वर्तमान में उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में नहीं मिलता, तथापि ब्राह्मण-ग्रन्थों में याज्ञिक क्रियाओं तथा तद्गत पदार्थों के निर्देश के साथ-साथ यत्र-तत्र उल्लिखित **'इत्यधिदैवतम्'** तथा **'इत्यध्यात्मम्'** आदि निर्देशों से उक्त सादृश्य का अनुमान बड़ी सरलता से किया जा सकता है। सौभाग्यवश दर्शपौर्णमास की सभी मुख्य-मुख्य क्रियाओं और पदार्थों की आधि-दैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साथ दर्शाई गई तुलना शतपथ-ब्राह्मण काण्ड ११, अ० १-२ में सुरक्षित है। उसके अनुशीलन से भी उपर दर्शाई गई यज्ञों की कल्पना के मूलभूत आधार का ज्ञान भले प्रकार हो जाता है।

उपर्युक्त साम्य के आधार पर प्रारम्भ में जब यज्ञों की कल्पना की गई, उस समय यज्ञ की प्रत्येक क्रिया और पदार्थ आधिदैविक तथा आध्यात्मिक

जगत् की क्रियाओं और पदार्थों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते थे। इसी नियम पर प्रारम्भ में प्रकल्पित अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य आदि कतिपय यज्ञों में उत्तरोत्तर बहुत कुछ परिवर्तन होने पर भी इनकी क्रियाओं और पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की क्रियाओं और पदार्थों से अत्यधिक सादृश्य उपलब्ध होता है।

यज्ञों के प्रादुर्भाव का काल

भारतीय इतिहास के अनुसार सर्ग के आरम्भ में मानवों को वैदिक ज्ञान की उपलब्धि हो जाने पर भी जैसे वेदो में वर्णित वर्णाश्रम-व्यवस्था राज्य-व्यवस्था आदि व्यवहारों का प्रचलन सर्ग के आरम्भ में ही नहीं हो गया था, तद्वत् ही द्रव्यमय यज्ञों का प्रचलन भी आरम्भ में नहीं हुआ था। क्योंकि उस समय सभी मानव सत्त्वगुण-सम्पन्न साक्षात्कृतधर्मा परावरज्ञ परम मेधावी थे[1]। महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों के अनुसार उस समय सारा जगत् ब्राह्ममय था।[2] यज्ञों के विषय में शांखायन आरण्यक (४।५, पृष्ठ १५) में स्पष्ट लिखा है—

'तद्ध स्मैतत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुह्वांचक्रुः।'

ब्राह्मणग्रन्थों में भी अनेकत्र **'य उ चैनं वेद'** कहकर यज्ञ करने और उसको तत्त्वतः जानने का समान फल दर्शाया हैं। यही बात स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी विक्रम संवत् १९३२ में प्रकाशित संस्कार-विधि (प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११८) के गृहस्थाश्रम प्रकरण में लिखी है—**"उपासना अर्थात् योगाभ्यास करनेवाला, ज्ञानी=सब पदार्थों का जाननेवाला, ये दोनों होमादि बाह्य क्रिया न करें।"**

यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उक्त बात **गृहस्थाश्रम** प्रकरण में लिखी है। संन्यासी अर्थात् ज्ञानी को बाह्य होमादि न करने का जो विधान सभी शास्त्रों में विद्यमान हैं, उसका भी मूल कारण यही है।

अन्य सभी सामाजिक व्यवस्थाओं के समान याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्रादुर्भाव कृतयुग और त्रेता युग के सन्धि-काल में हुआ। इसीलिये कहीं पर यज्ञों

---

१. द्रष्टव्य—पृष्ठ १३५, टि० १।

२. **सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।** महा० शान्ति० १८८।१०॥

की उत्पत्ति कृतयुग के अन्त में, और कहीं पर त्रेता युग के आरम्भ में कही है।[1]

यज्ञों का क्रमिक विकास

यज्ञों के विकास का जो क्रम उपलब्ध होता है, उसमें अग्नि के **एकत्व त्रित्व** और **पञ्चत्व** के साथ-साथ यज्ञों के लिये **एक वेद दो वेद** और **तीन वेद** के विनियोजन का क्रम भी देखा जाता है। तदनुसार प्रारम्भ में एक **अग्नि**[2]

---

१. **'इदं कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः।**
अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन्न तदन्यथा ।।' महा० शान्ति० ३४०।८२।।
इस श्लोक में कृतयुग में यज्ञों की विद्यमानता कही है।
'त्रेतादौ केवला वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा ।' महा० शान्ति २३८।१४।।
'त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृते युगे ।' महा० शान्ति० १३२।३२।।
'यथा त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत् प्रवर्तनम् ।' वायु० ५७।८६।।
'कथं त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत् प्रवर्तनम् ।' मत्स्य ४२।१, मोर संस्क०।
'तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि ।' मुण्डक उप० १।२।१।।
त्रेतायां वा युगे प्रायशः प्रवृत्ताः। शाङ्करभाष्य मुण्डक उप० १।२।१।।
इत्यादि प्रमाणों की पारस्परिक संगति से उपर्युक्त परिणाम ही निकलता है।

मत्स्य पुराण १४२।४२ में स्वायम्भुव मन्वन्तर में यज्ञ-प्रवर्तन का उल्लेख मिलता है—**'यज्ञप्रवर्तनं ह्येवमासीत् स्वायम्भुवेऽन्तरे ।'** (मोर संस्क०)।

यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि मनु के जलप्लावन के पीछे पुरानी परम्परा को सुरक्षित रखने के लिये जो मन्वन्तरादि की कल्पना की गई, उसके अनुसार **कृतयुग में स्वायंभुव मन्वन्तर समाप्त होता है**, और त्रेता से वैवस्वत मन्वन्तर आरम्भ होता है। द्रष्टव्य—भरत नाट्यशास्त्र १।८।। महाभारत शान्तिपर्व ३४८।५१ में भी लिखा है—**'त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ ।'** यह मनु वैवस्वत मनु ही है। इस सारी भारतीय ऐतिहासिक काल-गणना का गम्भीर अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है। इसको बिना समझे भारतीय इतिहास की गुत्थियां सुलझाना असम्भव है।

२. **'अङ्गिरसां वा एकोऽग्निः ।'** ऐ० ब्रा० ६।२४।। तथा पृष्ठ १५० टिप्पणी १ के उद्धरण।

एकमाध्वर्यवं पूर्वमासीद् द्वैधं तु तत्पुनः। मत्स्य १४३।१५, मोर संस्क०।

के होने से **एकाग्निसाध्य यजुर्वेदमात्र** से सम्पन्न होनेवाले **अग्निहोत्र** आदि होमों का ही प्रचलन हुआ। तदनन्तर महाराज पुरुरवा ऐल द्वारा **अग्नि के त्रेधा विभाजन**[१] होने पर **त्रेताग्निसाध्य** (=तीन अग्नियों में किये जानेवाले) **दो वेदों** (=यजुः ऋक्) से किये जानेवाले **दर्शपौर्णमासादि**, तथा **तीन वेदों** (=यजुः ऋक् साम) से किये जानेवाले **ज्योतिष्टोमादि**[२] यज्ञों की, और तत्पश्चात् **पञ्चाग्निसाध्य** विविध क्रियाकलाप की प्रकल्पना हुई।

यज्ञों के दो भेद—प्राचीन और नवीन

गोपथ ब्राह्मण १।५।२५ में लिखा है—

सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपियन्ति नूतना यानृषयः सृजन्ति ये च सृष्टाः पुराणैः ॥

इस वचन में ऋषियों द्वारा पुराण-सृष्ट और नूतन-सृष्ट यज्ञों का वर्णन मिलता है।

प्रारम्भिक यज्ञ

यतः प्रारम्भ में यज्ञों की कल्पना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दृष्टि से वैज्ञानिक आधार पर की गई थी, अतः प्रारम्भ में कल्पित यज्ञों का आधिदैविक जगत् के साथ साक्षात् सम्बन्ध था। यथा—**अग्निहोत्र का अहोरात्र के साथ, दर्शपौर्णमास का कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष के साथ**, तथा **चातुर्मास्य का तीनों ऋतुओं के साथ।**

---

१. **'गन्धर्वेभ्यो वरं लब्ध्वा त्रेताग्निं समकारयत्।**
एकोऽग्निः पूर्वमासीद् ऐलस्त्रेतामकारयत्॥' हरिवंश १।२६।४७॥
' ...त्रेतायां स महारथः (ऐलः)।
एकोऽग्निः पूर्वमासीद्वै ऐलस्त्रींस्तानकल्पयत्॥' वायु पुराण ९१।४८॥
'गन्धर्वेभ्यो वरं लब्ध्वा'—क्या ये गन्धर्व **'गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु'** याजुष मन्त्र (२।३) में उक्त दैवी शक्तियां हैं? वायु पुराण अ० ९१, श्लोक ४८ से ५१ भी द्रष्टव्य हैं। यहां से ऐल के आयु आदि छः पुत्रों को गन्धर्वलोक में विदित (=प्रसिद्ध) कहा है। तीन अग्नियों के नाम शतपथ १।३।३।१७। में इस प्रकार लिखे हैं—**एतानि वै तेषां नामानि—यद् भुवस्पतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिः।'**

२. **'यजुषा ह वै देवा अग्रे यज्ञं वितेनिरे। अथर्चाऽथ साम्ना, तदिदमप्येतर्हि यजुषा एवाग्रे यज्ञमतन्वत, अथर्चाऽथ साम्ना।'** शतपथ ४।६।७।१३॥

अग्निहोत्र और दर्शपौर्णमास की आधिदैविक व्याख्या शतपथ के ११वें काण्ड में मिलती है। चातुर्मास्य के लिये ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहा है—

'भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि । तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते । ऋतु-सन्धिषु हि व्याधिर्जायते । कौषीतकि ब्रा० ५।१॥

इसी प्रकार गोपथ ब्रा० उत्तरार्ध १।१९ में भी कहा है।

महाभारत शान्तिपर्व २६९।२० में **अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास** और **चातु-र्मास्य** इन तीन यज्ञों को ही प्राचीन यज्ञ कहा है। यथा—

दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः ।
चातुर्मास्यानि चैवासन् तेषु धर्मः सनातनः ॥

प्रारम्भिक यज्ञों में सादगी सात्त्विकता

प्रारम्भ में जिन यज्ञों की कल्पना की गई, वे यज्ञ अत्यन्त सादे तथा सात्त्विक थे। उनमें बाह्य आडम्बर (=दिखावा), अवैदिक विचारों का मिश्रण, तथा मांस आदि तामसिक पदार्थों का किञ्चिन्मात्र सम्बन्ध नहीं था। इसके निदर्शन के लिये हम केवल दो प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—**'यज्ञो हि वा अनः । तस्मादनस एव यजूंषि सन्ति, न कोष्ठस्य, न कुम्भ्यै । भस्त्रायै ह स्मर्षयो गृह्णन्ति । तद् वृषीन् प्रति भस्त्रायै यजूंष्यासुः । तान्येतर्हि प्राकृतानि ।**' शत० १।१।२।७॥

अर्थात्—अन्न से भरे शकट (=गाड़ी) से ही दर्शपौर्णमासादि की हवि का ग्रहण करे। शकट ही यज्ञ है। इसलिये हविग्रहण के याजुष मन्त्र शकट-सम्बन्धी ही हैं। कोष्ठ (=अन्न रखने का कोठा=कुसूल) या भस्त्रा (=वस्त्र वा चमड़े की थैली, जैसे आटा आदि रखने के लिये पहाड़ी वर्तते हैं) सम्बन्धी नहीं हैं। **पुराने ऋषि भस्त्रा से हवि का ग्रहण करते थे। उन ऋषियों के लिये ये ही हविग्रहण के याजुष मन्त्र भस्त्रा-सम्बन्धी थे।** इसलिये ये याजुष मन्त्र सामान्य हैं (कहीं पर भी इनका विनियोग हो सकता है)।

यहां यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि मनुस्मृति (४।७) में ब्राह्मण को कुसूल धान्यक, कुम्भीधान्यक, त्र्यहैकिक और अश्वस्तनिक वृत्ति से निर्वाह करने का विधान किया है। ऐसा ब्राह्मण गाड़ी भरकर अन्न वेदि के समीप कैसे ला सकता है। पुराने ऋषियों द्वारा भस्त्रा से हविग्रहण का विधान इसीलिये किया गया था।

इस उद्धरण से दो बातें स्पष्ट हैं। एक—याज्ञिक क्रियाओं में उत्तरोत्तर परिवर्तन हुआ है। निरुक्त ७।२३ में भी--"**असावादित्य (वैश्वानरः) इति पूर्वे याज्ञिकाः**" लिखकर अगले खण्ड (२४) में **पूर्व याज्ञिकों** की क्रिया का उल्लेख किया है। यहां 'पूर्व' विशेषण से स्पष्ट है कि निरुक्त में दर्शाई याज्ञिक क्रिया यास्क के समय उस रूप में नहीं होती थी। द्वितीय—पुराकाल में यज्ञों में बाह्याडम्बर नहीं था, उत्तरोत्तर रजस्तम की वृद्धि से लोभ, परिग्रह, सम्पन्नता, और उसके दिखावे की वृद्धि होने[1] से यज्ञों में भी आडम्बर की वृद्धि हुई।

पौर्णमासेष्टि में पुरोडाश की दो प्रधानाहुतियों के लिये **केवल ८ मुठी जौ या व्रीहि** की आवश्यकता होती है।[2] इतने थोड़े से अन्न के ग्रहण के लिये यज्ञस्थान में गाड़ी भरकर अन्न लाने का क्या प्रयोजन? इसे बाह्य आडम्बर (= अपनी सम्पन्नता का दिखावा) ही तो कहा जायेगा, इसीलिये प्राचीन ऋषि अपनी अनाज रखने की कपड़े वा चमड़े की थैली, अथवा घड़े से ही हविग्रहण करते थे। उत्तरकाल में शकट से हविग्रहण का विधान स्वीकृत होने पर भी साधारण याज्ञिकों द्वारा शकट भर अन्न लाना असम्भव होने से शकट से हविग्रहण का प्रयोजन केवल अदृष्ट की उत्पत्ति मानकर एक वितस्ति (= बिलांत) भर प्रमाण की गाड़ी बनाकर उससे हविर्द्रव्य का स्पर्शमात्र करके कार्य चलाने लगे। इसी प्रकार सोमयाग के समय सम्पन्न किये जाने वाले हविर्धान-मण्डप का निर्माण पहले ही कर लेते हैं। यागकाल में उसका स्पर्शमात्र करके कार्य चलाते हैं।[3]

२—प्राचीन यज्ञ अवैदिक तत्त्वों से सर्वथा रहित थे। परन्तु उत्तरकाल में दर्शपौर्णमास सदृश विशुद्ध यागों में भी अवैदिक विचारों का सम्मिश्रण हो गया। इसका हम एक उदाहरण उपस्थित करते हैं—

वैदिक मन्तव्य के अनुसार पुत्र और पुत्री में किसी प्रकार का भेदभाव = पुत्र के प्रति उत्कृष्ट भावना, वा पुत्री के प्रति हीन भावना नहीं है। यास्क

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ १३६, टि० १।

२. प्रत्येक आहुति के लिये चतुर्मुष्टि अन्न की आवश्यकता होती है—'**चतुरो मुष्टीन् निर्वपति।**' तुलना करो—**चतुरो मुष्टीन् निरूप्य**। आप० श्रौत १।१८।२॥

३. अद्यत्वे तु पूर्वकृतस्य मण्डपस्य यागकाले स्पर्शमात्रं क्रियते।' का० श्रौ० ८।३।२४ टीका।

मुनि ने निरुक्त ३।४ में **अङ्गादङ्गात् संभवसि** मन्त्र और **अविशेषेण पुत्राणां दायः** मानव श्लोक को उद्धृत करके इस मत की पुष्टि की है[1]। परन्तु श्रौत-यज्ञों में पुत्री के प्रति हीन भावना के निदर्शक वचन पठित हैं, जिन्हें यजमान प्रयाजसंज्ञक याग के पश्चात् आशीः के रूप में पढ़ता है। यथा—

प्रथम प्रयाज के पश्चात्—**एको मम एका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः** (शत० ब्रा० १।५।४।१२; का० श्रौत ३।३।३; आप० श्रौत ४।६।४)।

अर्थात् मेरे एक पुत्र होवे, और जो मुझ से द्वेष करता है वा मैं जिससे द्वेष करता हूं, उस के एक पुत्री होवे।

इस प्रकार अपने लिये पुत्र की, और द्वेषी के यहां पुत्री होने की कामना उत्तरोत्तर द्वितीय तृतीय चतुथ प्रयाजों के आशीःवचनों में क्रमशः दो-तीन-चार रूप में बढ़ जाती है। और पञ्चम प्रयाज के अन्त में अपने लिये ५ पुत्रों की कामना, और शत्रु के लिये न तस्य किंचन (=कुछ न होवे) की आशीः चाहता है।

वस्तुतः इस प्रकार के पुत्र-पुत्री के भेद का प्रादुर्भाव बहुत उत्तरकाल में हुआ था। इस भेदभाव की परिणति उत्तरकाल में सद्यः उत्पन्न पुत्री की हत्या में हुई।

३—'**आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकाले मनोः पुत्राणां नरिष्यन्तनाभागेक्ष्वाकु-नृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्' पशवः प्रोक्षणमापुः।**' चरक चिकित्सा० १६।४॥

अर्थात्—आदि काल में यज्ञों में पशु स्पर्शनीय होते थे। अर्थात् पर्यग्नि-करणान्त कार्य करके स्पर्श करके उन को छोड़ दिया जाता था। उनका वध नहीं होता था तत्पश्चात् मनु के नाभाग इक्ष्वाकु प्रभृति पुत्रों के यज्ञों में 'यज्ञ में पशुओं का मारना अभिप्रेत है' यह मानकर यज्ञों में पशुओं का आलम्भन आरम्भ हुआ।

---

१. अविशेषेण मिथुना पुत्रा दायादाः इति। तदेतद् ऋक्श्लोकाभ्यामुक्तम्—

अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्॥
अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ इति॥

इस प्रमाण से स्पष्ट है कि आदिकाल में यज्ञों में पशुओं का वध नहीं होता था। यज्ञ में पशुओं के मारने की प्रथा उत्तरकाल में आरम्भ हुई। इसकी पुष्टि महाभारत शान्तिपर्व अ० ३३७ अनु० ६।३४,११६।५६-५८; तथा वायुपुराण ५७।६१-१२५ में उल्लिखित **उपरिचर वसु** की कथा से भी होती है।

यज्ञों में पशुवध कैसे आरम्भ हुआ, इसका निर्देश शान्तिपर्व २६३।६ में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

'लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः संप्रवर्तितम्। वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम् ॥'

इस वचन में लोभी धनैषणावाले नास्तिकों द्वारा **वेदवाद (= वेद के कथन) को न जानकर** पशुहिंसा-प्रवर्तन का उल्लेख किया गया है। इस श्लोक के आगे का प्रसंग भी द्रष्टव्य है।

वेदवाद को न जानकर यज्ञों में पशुहिंसा की प्रवृत्ति हुई। इसकी पुष्टि आयुर्वेदीय चरकसंहिता के पूर्वोक्त उद्धरण के उत्तरार्ध में निर्दिष्ट **पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमापुः** (=यज्ञ में पशुवध का निर्देश है, यह स्वीकार करके पशुओं का वध आरम्भ हुआ) वचन से भी होती है।

इसके साथ ही बौद्ध त्रिपिटक के ब्राह्मण धम्मिय सुत १८,१६ के वचन से भी इसकी पुष्टि होती है। इसमें कहा है—'भोगों से लुब्ध ब्राह्मणों ने झूठे मन्त्र[1] बनाकर इक्ष्वाकु के पास जाकर उसे पशुयाग कराने के लिये उत्साहित किया।[2]'

पशुयज्ञ क्या हैं, उनमें पशुओं का वध होता है वा नहीं, इसकी मीमांसा आगे पशुयज्ञों के विवेचन में की जायेगी। यहां इसके निर्देश का इतना ही प्रयोजन है कि यज्ञों में उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ उनमें साधारण से लेकर भयङ्कर परिवर्तन भी हुए।

---

१. यज्ञों के लिये काल्पनिक मन्त्रों की रचना भी हुई, इसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

२. ते तत्थ मन्ते गन्थे त्वा ओक्कासं तदुपागमुम्।
पहूत धन धञ्जोऽसि यजस्सु बहु ते धनम् ॥

यहां ओक्कास=इक्ष्वाकु का निर्देश किया है। चरक के चिकित्सास्थान १६।४ के उपर्युक्त वचन से भी यही प्रमाणित होता है कि मनुपुत्र नाभाग इक्ष्वाकु आदि के यज्ञों में प्रथम बार यज्ञ में पशुओं का वध हुआ था।

स्वामी दयानन्द और याज्ञिक प्रक्रिया

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त कुछ कारण और भी हैं, जिनके कारण स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शाखा ब्राह्मण और श्रौतसूत्रोक्त श्रौतयज्ञों की प्रक्रिया को प्रमाण मानते[1] हुए भी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रतिज्ञा-विषय में लिखा है—**'इसलिये युक्ति से सिद्ध वेदादिप्रमाणों के अनुकूल और मन्त्रार्थ का अनुसरण करनेवाला उन (=शाखा-ब्राह्मण-श्रौतसूत्र-पूर्वमीमांसा) में कहा गया विनियोग ग्रहण करने योग्य है'।**[2]

इससे स्पष्ट है कि वे शाखा-ब्राह्मण-श्रौतसूत्र और पूर्वमीमांसा में कहे गये युक्ति-विरुद्ध, वेदादिप्रमाणों के प्रतिकूल, और मन्त्रार्थ के विपरीत, वा मन्त्रार्थ का अनुसरण न करनेवाले विनियोग को स्वामी दयानन्द सरस्वती अप्रमाण मानते हैं। यथा—

१—**युक्ति-विरुद्ध**—अश्वमेध में अश्व के साथ राजमहिषी का समागम, यज्ञशाला में अध्वर्यु आदि का स्त्रियों और कन्याओं से अश्लील सम्भाषण। द्र०-शतपथ-ब्राह्मण (अध्रिगो: परिशिष्ट) १३।५।२; कात्यायन श्रौत २०।६।१२—२०॥

२—**वेदादिप्रमाणों के प्रतिकूल**—वेद में गौ अश्व अवि पुरुष आदि की न केवल हिंसा का प्रतिषेध ही किया है, अपितु इनको मारनेवालों को गोली से उड़ा देने का आदेश दिया है। यथा—

गां मा हिंसीरदितिं विराजम्। यजुः १३।४३॥

मा गामनागामदितिं वधिष्ट। ऋ० ८।१०१।१५॥

अश्वं जज्ञानं......मा हिंसीः परमे व्योमन्। यजुः १३।४२॥

---

१. **'एतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र (=वेदभाष्ये) विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेय-शतपथ-ब्राह्मण-पूर्वमीमांसा-श्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्।'** ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञा-विषय, पृष्ठ ३८८ (द्र०—ऋग्वेदभाष्य, रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस मुद्रित, भाग १)।

२. **'तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति।'** ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ ३८८ (वही संस्करण)।

अवि जज्ञानां......मा हिंसीः परमे व्योमन् । यजुः १३।४४॥

इमं मा हिंसीः द्विपादं पशुम् (=पुरुषम्) । यजुः १३।४७॥

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।

तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥ अथर्व० १।१६।४॥

इन प्रमाणों के विषय में यदि यह कहा जाये कि ये वचन यज्ञ से अन्यत्र गो आदि के वध के निषेधक हैं। यज्ञ में इनकी हिंसा-अहिंसा है, तो यह भी याज्ञिकों के मतानुसार ठीक नहीं है। क्योंकि **उनके मत में** तो सम्पूर्ण वेद यज्ञ के विधान के लिये ही है—**वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः** (=वेदाङ्ग-ज्योतिष के अन्त में); तथा **आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्** (मी० १।२।१)। अतः ये मन्त्र भी यज्ञों में प्रवृत्त हिंसा के प्रतिषेधक हैं, न कि यज्ञ से अन्यत्र। क्योंकि यज्ञ से भिन्न कर्म का विधान याज्ञिक लोग मानते ही नहीं। तब यज्ञ से अन्यत्र हिंसा-निषेध उपपन्न ही नहीं हो सकता है।

३—**मन्त्रार्थ के विपरीत**—यथा—**स्वधिते मैनं हिंसीः** (यजुः ६।१५) कहकर पशु के अङ्गों को काटना (कात्या० श्रौत ६।३।८)।

४—**मन्त्रार्थ से अननुसृत** (=जिस विनियोग का मन्त्रार्थ के साथ सम्बन्ध न होवे)—यथा—**दधिक्राव्णो अकारिषम् इत्याग्नीध्रीये दधिद्रप्सान् प्राश्य** (आश्व० श्रौत ६।१३)।

मन्त्रगत दधिक्रावन् शब्द अश्ववाचक है (द्र०—निरुक्त २।२६)। इसके एकदेश दधिशब्द का दही वाचक दधि के साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

इसी प्रकार नवग्रह पूजा में विनियुक्त मन्त्रों में नवग्रहों के साथ शब्दतः भी निर्देश नहीं है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के इस मन्तव्य का आधार शाखा-ब्राह्मण-श्रौत-सूत्र और पूर्वमीमांसा आदि समस्त वैदिक-वाङ्मय को परतःप्रमाण (=वेदानुकूल होने पर ही प्रमाण) स्वीकार करना है[1]। वे केवल मन्त्र-संहिताओं को ही स्वतःप्रमाण मानते हैं।

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ-प्रकाश और संस्कार-विधि में ब्रह्मचर्याश्रम में शिक्षा से लेकर वेद के सार्थ अध्ययनपर्यन्त जो पाठ-विधि लिखी है, उसमें सभी विषयों में प्राचीन ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों का ही उल्लेख

याज्ञिक-प्रक्रिया में परिवर्तन तथा नये-नये यज्ञों की कल्पना

संसार का नियम है कि जिस विषय में जनसाधारण की रुचि अधिक हो जाती है, व्यवहारकुशल समझे जानेवाले व्यक्ति उस जनरुचि का सदा अनुचित लाभ उठाया करते हैं। उनकी सदा यही चेष्टा रहती है कि जनसाधारण की वह रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जाये, जिससे उन का काम बनता रहे। इस नियम के अनुसार जब जनसाधारण की रुचि यज्ञों के प्रति बढ़ने लगी, तब लोभ आदि के वशीभूत[1] होकर याज्ञिक लोगों ने भी यज्ञों की रोचकता बढ़ाने के लिये उनमें उत्तरोत्तर बाह्य आडम्बर की वृद्धि की, और शुभ या अशुभ प्रत्येक अवसर पर करने योग्य विविध नये-नये यज्ञ-होम आदि की सृष्टि की। **अधिकतर काम्य और नैमित्तिक यज्ञों के विकास का यही मूल आधार है।** आज भी जनता की यज्ञकर्म के प्रति श्रद्धा का अनुचित लाभ उठाने के लिये दुर्गासप्तशती एवं तुलसी रामायण आदि से यज्ञ कराने की परिपाटी विकसित हो रही है। इस दुष्प्रवृत्ति का प्रभाव (अन्धश्रद्धा को दूर करके वैदिक कर्मकाण्ड को प्रचलित करने का उद्घोष करनेवाले) आर्य-समाज में भी दिखाई देने लगा है। आर्यसमाज में भी कुछ काल से स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा उद्घोषित **'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त' वैदिक-यज्ञों** के स्थान में वेद-पारायण, गायत्री-महायज्ञ, स्वस्ति-याग, शान्तियाग जैसे अवैदिक यज्ञों का प्रचलन बढ़ता जा रहा है।

इस प्रकार यज्ञों में उत्तरोत्तर सादगी और सात्त्विकता की हानि, तथा बाह्याडम्बर की वृद्धि हुई। नये यज्ञों की कल्पना से अन्त में याज्ञिक-कल्पना की प्रारम्भिक वैज्ञानिक दृष्टि आखों से सर्वथा ओझल हो गई। अतः इस काल में कल्पित अधिकांश यज्ञों की क्रियाओं तथा पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं रहा।

किया है (स्व-कृत एक ग्रन्थ का भी निर्देश नहीं किया)। इससे स्पष्ट है कि वे समस्त आर्ष-ग्रन्थों को प्रमाण तो मानते हैं, परन्तु उन्हें आधुनिक विद्वानों के समान स्वतः-प्रमाण नहीं मानते। इसीलिये संस्कार-विधि में निर्दिष्ट पाठ-विधि में ब्राह्मण-श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्रों सहित वेद के अध्ययन के प्रसंग में टिप्पणी दी है—**'जो ब्राह्मण वा सूत्र वेद-विरुद्ध हिंसापरक हों, उनको प्रमाण न करना।'** संस्कार-विधि, पृष्ठ १३१ (रा० ला० कपूर ट्रस्ट, शताब्दी-संस्करण)।

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ १५४, टि० १, २।

याज्ञिक-प्रक्रिया और वेदार्थ

भारतीय इतिहास से स्पष्ट है कि वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि अर्थात् कृतयुग के प्रारम्भ में हुआ; और द्रव्यमय यज्ञों की कल्पना का उदय कृतयुग और त्रेतायुग के सन्धिकाल में हुआ[1]। इस ऐतिहासिक तथ्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञों की प्रवृत्ति से पूर्व प्रादुर्भूत वेदमन्त्रों में द्रव्यमय यज्ञों का साक्षात् विधान अथवा उनकी प्रक्रिया का साक्षात् निर्देश निहित नहीं है। वेदमन्त्रों में श्रौत द्रव्यमय यज्ञों के कुछ नाम, उनके साधनभूत कतिपय पात्रों के नाम, और कतिपय क्रियाओं का निर्देश उपलब्ध होता है।[2] उनसे यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि वेदमन्त्रों में श्रौत द्रव्यमय यज्ञों, उनके पात्रों एवं क्रियाओं के नाम निर्दिष्ट हैं। वेदमन्त्रस्थ समस्त यज्ञ, उनके पात्र, और क्रियाएं सृष्टि-यज्ञों उनके पात्रों एवं कर्मों के ही बोधक हैं। वेद में द्रव्यमय यज्ञों के वर्णन का भ्रम इस कारण होता है कि इन द्रव्यमय यज्ञों की कल्पना आधिदैविक जगत् (=सृष्टियज्ञ) और आध्यात्मिक जगत् की समता के आधार पर की गई है। द्रव्यमय यज्ञों की कल्पना आधिदैविक जगत् और आध्यात्मिक जगत् की परोक्ष स्थिति को समझाने के लिये की गई थी, यह हम पूर्व सोदाहरण विस्तार से दर्शा चुके हैं। इसलिये आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की क्रियाओं एवं पदार्थों का वर्णन करनेवाले मन्त्रों का गूढ अभिप्राय प्रत्यक्षरूप से समझाने के लिये उन-उन मन्त्रों का सम्बन्ध यज्ञ की तदर्थभूत तत्-तत् क्रियाओं के साथ किया गया। इसीलिये किस यज्ञकर्म को करते हुए किस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये, इस सम्बन्ध का बोध करानेवाले वाक्य को **विनियोग** कहते हैं। विनियोग का अभिप्राय होता है—**विनियुज्यतेऽनेन**=जिससे सम्बद्ध किया जाये।

इस तात्पर्य को सरलता से समझने के लिये हम एक उदाहरण देते हैं। रामायण में जो चरित्र वर्णन हैं, उनका साक्षात् सम्बन्ध दशरथ राम सीता भरत लक्ष्मण आदि के साथ है। उनके आधार पर रचे गये नाटकों में दशरथ

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ १४६, टि० १।

२. मन्त्रों में यज्ञों, उनके पात्रों वा क्रियाओं के जो-जो नाम उपलब्ध होते हैं, उनका निर्देश हमने **श्रौतयज्ञों की वैदिकता** निबन्ध में किया है। द्र०—वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा, पृष्ठ ३४२-३५३।

राम सीता भरत लक्ष्मण आदि का जो संवाद निबद्ध किया जाता है, उसका सम्बन्ध भी मूल व्यक्तियों से ही होता है। परन्तु रामचरित्र की परोक्ष घटना को प्रत्यक्षरूप से दर्शाने के लिये जब उस नाटक का अभिनय किया जाता है, तब उसमें राम सीता भरत आदि के संवाद को जो व्यक्ति प्रस्तुत करते हैं, उन व्यक्तियों के साथ उस संवाद का सीधा सम्बन्ध नहीं होता है। राम का अभिनय यह व्यक्ति करे और सीता का यह, इस प्रकार उस-उस संवाद के साथ उन-उन व्यक्तियों को विनियुक्त किया जाता है। अतः **जिस प्रकार नाटक करने वाले व्यक्ति किसी पूर्वकालीन ऐतिहासिक घटना का प्रदर्शन करते हुए उन-उन ऐतिहासिक व्यक्तियों के मध्य हुए संवाद का मात्र अनुकरण करते हैं, उस संवाद के साथ उन नाटक के पात्रों का कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता, ठीक उसी प्रकार आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् का वर्णन करनेवाले वेदमन्त्रों का उन-उन की प्रतिनिधिभूत याज्ञिक क्रियाओं तथा पदार्थों के साथ कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं** है। दूसरे शब्दों में, **याज्ञिक प्रक्रियानुसार किया गया वेदार्थ वेद का मुख्य अर्थ नहीं हैं। वह तो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक वेदार्थ को समझाने का** 'निमित्तमात्र' है।

नाटकों की रचना यज्ञों के आधार पर

भरतमुनि ने स्वयं लिखा है—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।। नाट्यशास्त्र १।१७।।

यज्ञों में ऋग्वेद के मन्त्रों का पाठ, सामगान और यजुर्वेद मन्त्रों द्वारा यज्ञ-क्रियाएं की जाती हैं। ये यज्ञक्रियाएं अभिनयरूप ही हैं। इन्हीं के आधार पर नाटकों की रचना हुई, यह भरतमुनि का तात्पर्य है।

इसमें नाटकों की **पात्र** संज्ञा भी इस बात का संकेत करती है कि लौकिक नाटकों की उत्पत्ति यज्ञीय नाटकों वा रूपकों के पश्चात् उनके अनुकरण पर हुई। क्योंकि द्रव्यमय यज्ञों में प्रयुज्यमान आज्यस्थाली, पाकस्थाली, जुहू, उप-भृत्, स्रुव, आदि पात्रों में पात्रता वैसी ही है, जैसे लौकिक भोजनक्रिया में प्रयुज्यमान पात्रों में है। अर्थात् उन में **पाति रक्षति स्वगतं द्रव्यं यत् तत् पात्रम्** (=अपने भीतर स्थापित वस्तु की रक्षा करना, उसे बाहर न गिरने देना) लक्षण विद्यमान है। परन्तु नाटकों में जो पात्र नाम से व्यवहृत होते हैं, उनमें पात्र का उक्त लक्षण घटित नहीं होता है। अतः वे पात्र **पात्रमिव**

पात्रम् रूप औपमिक हैं । अर्थात् जैसे यज्ञीय पात्र यज्ञ के साधन होते हैं, उसी प्रकार नाटकों के पात्र भी नाटकों के साधन हैं ।

यज्ञों के प्रादुर्भाव का वेदार्थ पर उत्तरकाल में प्रभाव

यज्ञों के आरम्भिक काल में याज्ञिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ की वही स्थिति थी, जिसका हमने ऊपर संकेत किया है । इसलिये उस समय याज्ञिक क्रिया-कलापों में वे ही मन्त्र विनियुक्त किये जाते थे, जो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थ के साथ-साथ उनकी प्रतिनिधिरूप याज्ञिक क्रियाओं का भी शब्दशः वर्णन करने में समर्थ थे ।[1] उत्तरकाल में **जैसे-जैसे यज्ञों की प्रधानता होती गई, वैसे-वैसे वेद का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी मुख्यार्थ गौण बनता गया, और याज्ञिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ की प्रधानता बढ़ती गई ।** इसका परिणाम यह हुआ कि सारा वेदार्थ याज्ञिक प्रक्रिया तक ही सीमित हो गया । अर्थात् **"यज्ञार्थं वेदाः प्रवृत्ताः"**[2] का वाद प्रवृत्त हो गया, और इसकी अन्त्य परिणति **मन्त्रानर्थक्य-वाद**[3] में हुई ।

काल्पनिक विनियोग

उत्तरकाल में जब देश में यज्ञों का मान तथा प्रभाव बढ़ा, और प्रत्येक कामना की सिद्धि के लिये यज्ञों की सृष्टि हुई, तब **उन समस्त यज्ञों की विविध क्रियाओं के अनुरूप वेदमन्त्र उपलब्ध न होने पर मन्त्रार्थ की उपेक्षा करके याज्ञिक क्रियाओं के साथ उनका बलात् सम्बन्ध जोड़ना, अर्थात् मन्त्रार्थ के विपरीत विनियोग का आरम्भ हुआ ।** ब्राह्मण-ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में इस प्रकार के अनेक काल्पनिक विनियोग उपलब्ध होते हैं । यथा—

१. मैत्रायणी संहिता ३।२।४ में लिखा है—

'निवेशनः संगमनो वसूनाम इत्यैन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते ।'

अर्थात्—अग्निचयन में **'निवेशनः संगमनो वसूनाम्'** (मै०सं० २।७।१२—

---

१. एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति।' गोपथ २।२।६।। तुलना करो—ऐ० ब्रा० १।४।।

२. 'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः' (वेदाङ्गज्योतिष के अन्त में) । 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् ....।' मीमांसा १।२।१।।

३. इस वाद के विषय में हम आगे लिखेंगे ।

मन्त्रसंख्या १५१) इस इन्द्रदेवतावाली ऋचा से गार्हपत्याग्नि का उपस्थान करे।[1]

याज्ञिकों के मत में जब इन्द्र से विशेषण-विशिष्ट महेन्द्र, वृत्रहा इन्द्र, पुरन्दर इन्द्र आदि भी भिन्न-भिन्न देवता हैं[2], तब इन्द्र और अग्नि के भिन्न-भिन्न देवता होने में कोई सन्देह ही नहीं रहता। ऐसी अवस्था में इन्द्र-देवतावाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान भला अभिधावृत्ति से कैसे हो सकता है? यहां निश्चय ही इन्द्र शब्द के मुख्यार्थ का त्याग करके इन्द्र=ऐश्वर्यवान् अथवा प्रदीप्त अर्थरूप गौणी कल्पना करनी पड़ेगी।[3] इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार के विनियोग **'यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदति'** रूपी विनियोग की परिभाषा की दृष्टि से मुख्य विनियोग नहीं हो सकते। इस विनियोग में कल्पना का कुछ प्रवेश स्पष्ट है।

---

१. मीमांसा ३।३।१४ के समस्त व्याख्याग्रन्थों में श्रुति और लिङ्ग के विप्रतिषेध में **'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते'** वचन उद्धृत है। और ऐन्द्री ऋचा से अभिप्राय **'कदाचन स्तरीरसि'** (ऋ० ८।५१।७) मन्त्र से है, यह व्यक्त किया है। **'कदाचन स्तरीरसि'** इस ऐन्द्र मन्त्र से गार्हपत्य का उपस्थान करना चाहिये, ऐसा साक्षात् वचन हमें उपलब्ध संहिता तथा ब्राह्मणग्रन्थों में कहीं नहीं मिला। तैत्तिरीय संहिता १।५।६ के सायणभाष्य में यह मन्त्र आहवनीयाग्नि के उपस्थान में विनियुक्त हैं। तैत्तिरीय संहिता के इस अनुवाक में निर्दिष्ट मन्त्रों के विनियोग के विषय में सायण और भट्टभास्कर में पर्याप्त मतभेद हैं, वह भी द्रष्टव्य है।

२. तुलना करो—**'तस्माद् देवतान्तरमिन्द्रान्महेन्द्रः'** शाबरभाष्य मीमांसा २।१।१६॥ **'अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति**—इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्रायांहोमुचे' । निरुक्त ७।१३॥

३. मीमांसा ३।२।४ सूत्रस्थ शाबर भाष्य में इसी वचन पर विचार करते हुये लिखा है—**'गुणसंयोगाद् गौणमिदमभिधानं भविष्यति। भवति हि गुणादप्यभिधानम्। यथा सिंहो देवदत्तः, अग्निर्माणवक इति। एवमिहाप्यनिन्द्रे गार्हपत्ये इन्द्रशब्दो भविष्यति।'** यही अभिप्राय सायणाचार्य ने अथर्व १।१।१ के भाष्य में इस प्रकार लिखा है—**'बलीयस्या श्रुत्या लिङ्गं बाधित्वा गुणकल्पनयापि विनियोगसम्भवात्। तत्र हि ऐन्द्रमन्त्रे इन्द्रशब्दस्य गौणीं वृत्तिमाश्रित्य गार्हपत्योपस्थाने विनियोगः कृतः।'**

२. अब हम गौणी अर्थ-कल्पना से भी अधिक काल्पनिक विनियोगों का एक उदारण देते हैं—

'दधिक्राव्णो अकारिषम् इति वा संबुभूषन् दधिभक्षम् ।' शांखा० श्रौत ४। १३।२।।

'दधिक्राव्णो अकारिषम् इति आग्नीध्रीये दधिद्रप्सान् प्राश्य' ।[1] आश्व० श्रौत ६।१३।।

अर्थात्— **दधिक्राव्णो अकारिषम्'** से दही का भक्षण करे । मन्त्रगत **'दधिक्रावा' पद अश्व का वाचक है** (देखो—निघण्टु १।१४) । **'दधिक्रावा'** पदान्तर्गत **'दधि'** अवयव का **'दही'** वाचक 'दधि' शब्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । अतएव यास्क ने दधिक्रावासदृश तथा समानार्थक **'दधिक्राः'** पद का निर्वचन **'दधत् क्रामतीति वा, दधत् क्रन्दतीति वा, दधद् आकारी भवतीति वा'** (निरुक्त २।२६) दर्शाया है । तदनुसार 'दधिक्राव्णः' पद का पूर्वपद **'दधि'** शब्द कर्तृवाचक 'कि' या 'किन्' (अष्टा० ३।२।१७१) प्रत्ययान्त है । औत्तरकालिक याज्ञिकों ने न केवल **'दधिक्रावा'** पद के, अपितु सम्पूर्ण मन्त्र के अर्थ की उपेक्षा करके दहीवाचक **'दधि' शब्द के साथ सादृश्यमात्र के आधार पर** इस मन्त्र का **'दधिप्राशन'** में विनियोग कर दिया[2] । ऐसे काल्पनिक विनियोग श्रौतसूत्रों में बहुधा उपलब्ध होते हैं ।

३. निरुक्त ७।२० में भी लिखा है—**"ऋग्वेद की समस्त शाखाओं में 'जातवेदाः' देवतावाला एक ही 'गायत्र तृच' है । यज्ञों में** 'जातवेदाः' देवता-**वाली अनेक गायत्रीछन्दस्क ऋचाओं की आवश्यकता होती है । इसलिये 'जात-वेदाः' देवतावाली ऋचाओं के स्थान में जो कोई 'अग्नि' देवतावाली गायत्री-**

---

१. तुलना करो—**'दधिक्राव्णो प्राङ्मुखो दधि प्राश्य ।'** काश्यप (आयुर्वेदीय) संहिता, पृष्ठ ३६ ।

२. इसी काल्पनिक विनियोग को आधार बनाकर पाश्चात्य विद्वानों ने इस मन्त्र के आधार पर दो कल्पनाएं की हैं—(क) आर्य लोग पहले दूध-दही के लिये घोड़ियां पालते थे । (ख) घोड़ियों के लिये उपयुक्त लम्बी-लम्बी घास के मैदान मध्य एशिया के आसपास हैं । अतः पहले आर्य लोग वहीं निवास करते थे । गौ का परिज्ञान तथा उस का ग्रामीकरण बहुत उत्तरकाल में हुआ ।

छन्दस्क ऋचाएं होती हैं, वे विनियुक्त हो जाती हैं[1]।"

ऐसा ही निर्देश निरुक्त १२।४० में पुनः मिलता है—"**ऋग्वेद की समस्त शाखाओं में 'विश्वेदेव' देवतावाला एक ही 'गायत्र तृच' उपलब्ध होता है। अतः उनके स्थान में जो कोई 'बहुदेवता' वाली गायत्र ऋचाएं हैं, वे विनियुक्त होती हैं। शाकपूणि 'विश्वेदेव' देवतावाली ऋचाओं के स्थान में 'विश्व' पद-घटित ऋचाओं का विनियोग मानता है।**"[2]

निरुक्त के इन उद्धरणों से **'काल्पनिक विनियोग क्यों प्रारम्भ हुए'** इस विषय पर भले प्रकार प्रकाश पड़ता है।[3]

उपलब्ध ब्राह्मणों में ऐतरेय-ब्राह्मण सब से प्राचीन है।[4] उसमें यज्ञ में क्रियमाण तत्तत् क्रियाकलाप को साक्षात् कहने वाले मन्त्र-विनियोग को यज्ञ की समृद्धि (=श्रेष्ठता) कहा है।[5] इससे स्पष्ट है कि **उसके काल में तत्तत् यज्ञीय क्रियाकलाप को साक्षात् या परम्परा से कथंचित् भी प्रतिपादन न करने वाले मन्त्रों का पद या अक्षरवर्ण के सादृश्य से विनियोग[6] करने की परिपाटी**

---

१. 'तदेतदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते, यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने विनियुज्यते।'

२. 'तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते। यत्तु किञ्चिद् बहुदैवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने विनियुज्यते। यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिः।

३. यज्ञकर्मों में केवल देवता विषय में ही काल्पनिक विनियोग नहीं किया गया, अपितु छन्दों के विषय में भी काल्पनिक छन्दों की सृष्टि रचकर मन्त्रों का विनियोग किया गया। ऐसे बहुधा अयथार्थछन्दस्क विनियोग ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में उपलब्ध होते हैं। इस विषय के लिये हमारे **'वैदिक-छन्दोमीमांसा'** ग्रन्थ का अन्तिम अठारहवां अध्याय देखना चाहिये।

४. इस विषय का प्रतिपादन हमने 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास', भाग १, पृष्ठ २४६–२५२ (संवत् २०३० संस्करण) में विस्तार से किया है।

५. एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्युजर्वाभिवदति।' ऐ० ब्रा० १।४,१३, १६ इत्यादि।

६. **पदसादृश्य से,** यथा—**'दधिक्राव्णो अकारिषमिति……दधिभक्षम्'** (शां० श्रौत ४।१३।२); **अक्षरवर्णसादृश्य से,**यथा—**'शन्नो देवी'** का शनैश्चर की पूजा में, **'उद्बुध्यस्व'** का बुध की पूजा में। अग्निवेश्य गृह्य अ० ५; वैखानस गृह्य अ० ४, खण्ड १३, १४; बोधायन गृह्यशेष अ० १६; १७ में

आरम्भ हो चुकी थी। और ऐसा असम्बद्ध विनियोग प्रामाणिक भी माना जाने लग गया था। अतएव ऐतरेय-ब्राह्मणकार उसे स्पष्ट शब्दों में अयुक्त घोषित न कर सके।

भारतीय कालगणना के अनुसार महीदास ऐतरेय का काल याज्ञिक-प्रक्रिया के उद्भव के ३५०० वर्ष पश्चात्, और भारतयुद्ध से लगभग १५०० वर्ष पूर्व है।[1] अतः पद अक्षर वर्णमात्र के सादृश्य से काल्पनिक विनियोगों का आरम्भ निश्चय ही भारतयुद्ध से २००० वर्ष पूर्व हो चुका था। परन्तु उस काल तक उनका आधिक्य नहीं था, यह भी ऐतरेय के वचन से स्पष्ट है।

काल्पनिक मन्त्रों की रचना

जब विभिन्न प्रकार के यज्ञों की मात्रा बहुत बढ़ी, तब उन सब यज्ञों में क्रियमाण विविध क्रिया-कलाप के अनुरूप (=जो अर्थतः उस क्रिया को कह सकते हों) मन्त्रों के उपलब्ध न होने पर **मन्त्रकल्पना का आरम्भ हुआ**[2]। इस प्रकार के अनेक काल्पनिक मन्त्र ब्राह्मण आरण्यक और श्रौतसूत्र आदि में उपलब्ध होते हैं। गृह्यसूत्रों में तो इस प्रकार के काल्पनिक मन्त्रों की बहुतायत है (उत्तरकाल में ऐसे काल्पनिक मन्त्रों को लुप्त शाखाओं में पठित समझा जाने लगा)।

हमारे विचारानुसार काल्पनिक मन्त्रों की रचना का आरम्भ भारतयुद्ध

नवग्रह पूजा के मन्त्र। अक्षरवर्ण-सादृश्य से किये गये विनियोग विनियोग-शास्त्र के शास्त्रत्व को ही नष्ट कर देते हैं।

१. यह हमारी कालगणना के अनुसार है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि ऐतरेय ब्राह्मण कृष्णद्वैपायन के शिष्य-प्रशिष्यों के शाखा-प्रवचन से पूर्व का है। द्र—'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २५०–२५२ संवत् २०३० संस्करण)।

२. द्र०—ब्राह्मण धम्मिय सुत्त १९ का पूर्व पृष्ठ १०८, टि० २ में उद्धृत वचन। निरुक्त ७।३ में लिखा है—'**तदेतद् बहुलम् आध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु।**' अर्थात् आशीः से रहित स्तुतिमात्र का प्रयोग आध्वर्यव=यजुर्वेद में और यज्ञ-प्रयोजनवाले मन्त्रों में बहुतायत से मिलता है। यहां याज्ञेषु का अर्थ है—**यज्ञ एव प्रयोजनं येषां मन्त्राणां तेषु**=अर्थात् यज्ञार्थ सृष्ट मन्त्रों में।

से लगभग दो-ढाई सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था[1]। इस काल्पनिक **मन्त्र-रचना** के अनेक चरण हैं। यथा—

प्रथम—आरम्भ में वेदमन्त्रों को अपने-अपने कर्मों के अनुरूप बनाने के लिये उनमें साधारण परिवर्तन किया गया।[2]

द्वितीय—तत्पश्चात् मन्त्रों के विभिन्न स्थानों के विभिन्न वाक्य जोड़कर मन्त्रों की रचना की गई[3]।

तृतीय—तदनन्तर वैदिक-ग्रन्थों में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों का सन्निवेशमात्र करके (जिससे वे वैदिक मन्त्रवत् प्रतीत हों) मन्त्र रचे गये[4]।

चतुर्थ—अन्त में यही मन्त्र-कल्पना '**नमो भगवते वासुदेवाय**' सदृश साम्प्रदायिक; तथा '**ओं ह्रीं ह्रुं फट् स्वाहा**' आदि सर्वथा अर्थरहित तान्त्रिक मन्त्रों की रचना में परिणत हुई।

---

१. यज्ञों की अत्यधिक कल्पना द्वापर में हुई—"**संरोधादायुषस्त्वेते व्यस्यन्ते द्वापरे युगे**" (महा० शा० २३८।१४)। यज्ञों की विविध कल्पना होने पर ही मन्त्रों की कल्पना करने की आवश्यकता हुई। अतः **मन्त्रकल्पना का आरम्भ द्वापर के प्रारम्भ में या उससे पूर्व मानना होगा।**

२. तुलना करो—राजसूयप्रकरण के '**एष वो अमी राजा**' (माध्य० संहिता ९।४०; १०।१८) के सामान्यवाचक '**अमी**' पद के साथ '**एष वो भरता राजा**' (तै० सं० १।८।१०।२); '**एष वः कुरवो राजा, एष पञ्चाला राजा**' (मैत्रा० सं० २।६।९; काठक सं० १५।१७) मन्त्रों में आये **भरत कुरु पञ्चाल** आदि विशिष्टवाचक पदों की।

३. इसके लिये ऋग्वेद के खिलपाठ के मन्त्रों का अनुशीलन करना चाहिये।

४. यथा—सावित्री मन्त्र के '**धियो यो नः प्रचोदयात्**' के '**नः प्रचोदयात्**' पदों का सन्निवेश करके रचे गये कल्पित ११ मन्त्र मैत्रायणी संहिता २।९।१ में उपलब्ध होते हैं। यथा—'**तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्॥**' इसी प्रकार के नारायण गरुड़ दन्ती दुर्गा आदि के ११ मन्त्र तै० आर० १०।१ में भी मिलते हैं। 'वीरमित्रोदय भक्तिप्रकाश' पृष्ठ १०६ पर एक **राम-गायत्री** उद्धृत है—'**दाशरथाय विद्महे सीतावल्लभाय धीमहि। तन्नो रामः प्रचोदयात्।**' **इति रामगायत्र्या पुष्पाञ्जलिर्देया।**

याज्ञिकवाद की मन्त्रानर्थक्य-वाद में परिणति

याज्ञिक-काल में जब वेद के उपयोग का एकमात्र केन्द्र यज्ञ बन गये[१], तब कर्मकाण्ड में साक्षात् अविनियुक्त वेदभाग निष्प्रयोजन न माना जावे[२], इसलिये वेद के समस्त मन्त्रों का कर्मकाण्ड के साथ येन-केन प्रकारेण बलात् सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया गया।[३] मन्त्रों की मुख्यता समाप्त होकर विनियोजक ब्राह्मण-ग्रन्थ ही मुख्य बन गये। ब्राह्मणग्रन्थों की मुख्यता यहां तक बढ़ी कि **'उरु प्रथस्व'** आदि मन्त्रों में विद्यमान साक्षात् विधायक **लोट् लिङ्** और **लेट्** लकारों को विधायक न मानकर ब्राह्मणग्रन्थों के **'प्रथयति'** आदि पदों को ही विधि-अर्थवाला (=विधायक) माना गया।[४] अर्थात् प्रारम्भ में मन्त्र के किसी पद-विशेष के मुख्य अर्थ की उपेक्षा की गई, परन्तु उत्तरकाल में पूरे मन्त्र को ही अनर्थक मानकर उसके पदमात्र के सादृश्य से विनियोग की कल्पना की गई। **'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः'** तथा **'वक्ष्यन्ति वेदागनीगन्ति कर्णम्'** आदि मन्त्रों का कर्णवेध-संस्कार में किया गया विनियोग[५] ऐसा ही है। इन मन्त्रों में कोई

---

१. **'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः'**। वेदाङ्गज्योतिष के अन्त में। **'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्......'**। मीमांसा १।२।१।।

२. देखो—**'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्'** (मीमांसा १।२।१) पूर्वपक्षोपस्थापन।

३. 'आश्विने सम्पत्स्यमाने सूर्यो नोदेयाद् अपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयात्' (द्र० आप० श्रौत १४।१।२)। तथा **'सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि वाचस्तोमे पारिप्लवे शंसति** (सायण ऋग्भाष्योपोद्घात में उद्धृत)। यद्यपि इन वचनों का तात्पर्य आश्विन शस्त्र की समाप्ति और सूर्योदय के मध्य के काल में मानुषी वाक् के व्यवहार के प्रतिषेध में है, तथापि याज्ञिक लोग इन्हीं वचनों के आधार पर यज्ञकर्म में साक्षात् अविनियुक्त मन्त्रों का यज्ञ में विनियोग का विधान मानते हैं।

४. **'अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्'** (मीमांसा २।१।३१)। अर्थात् प्रयोग=ब्राह्मणवचन के सामर्थ्य से (ब्राह्मणवचन अनर्थक न हो जावे, इसलिये) मन्त्र के विध्यर्थक लोट् लेट् लिङ् आदि लकार अभिधानवाची=यज्ञ में क्रियमाण कर्म के स्मरणमात्र करानेवाले होते हैं, विधायक नहीं होते। अर्थात् विधायकत्व ब्राह्मणवचनों में ही है, मन्त्रों में नहीं है।

५. देखो—कात्यायन गृह्य, कर्णवेध संस्कार (पारस्कर गृह्य की टीका में

भी ऐसा पद नहीं है, जो कर्ण के वेधन करने का वाचक हो। मन्त्रों में पठित कर्ण पदमात्र को देखकर आंख मीचकर कर्णवेध में इनका विनियोग कर दिया गया। उत्तरकाल में **पदैकदेशमात्र के सादृश्य से** विनियोग होने लगा। यथा—**'दधिक्राव्णो अकारिषम्'** का दधिभक्षण में।[1] तत्पश्चात् अक्षरमात्र के सादृश्य से विनियोगों की कल्पना हुई। यथा **'शन्नो देवी'** का शनैश्चर की, और **'उद्-बुध्यस्व'** का बुध की पूजा में।[2]

इस प्रकार उत्तरोत्तर काल्पनिक विनियोगों के आधिक्य से प्रभावित होकर कौत्स जैसे महायाज्ञिक ने स्पष्ट घोषणा कर दी—"**मन्त्र अनर्थक हैं।**"[3] अर्थात् मन्त्रों का यज्ञों में क्रियमाण कर्मों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका यज्ञा-न्तर्गत किसी भी कर्मविशेष में प्रयोग होने से अदृष्ट (=धर्मविशेष) उत्पन्न होता है।

उद्धृत)। तथा संस्कारभास्कर बम्बई संस्करण पत्रा १४१ ख। संस्कारभास्कर के रचयिता ने इसी गृह्य के अनुसार यह विनियोग लिखा है।

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ १६२ पर शांखायन श्रौत ४।१३।२; तथा आश्व० श्रौत ६।१३ के वचन।

२. द्रष्टव्य—अग्निवेश्य गृह्य ५; वैखानस गृह्य अ० ४, खण्ड १३,१४; बोधायन गृह्यशेष अ० १६, १७ में नवग्रह पूजा के मन्त्र।

नवग्रह-पूजा में विनियुक्त मन्त्रों के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण (संवत् १९३२, सन् १८७५) के पृ० ३३३ में इस प्रकार लिखा है—"**शन्नो देवी...**, **उद्बुध्यस्वाग्ने** इत्यादि मन्त्रों में कहीं शनै-श्चर मंगल और बुधादि ग्रहों के नाम भी नहीं हैं, परन्तु विद्याहीन होने से आजीविका के लोभ से ब्राह्मणों ने जाल रच रखा है—ए ग्रह की काण्डी (=कण्डिका) है। सो किसी ने ऐसा विचारा कि ग्रहों का मन्त्र पृथक् निकालना चाहिये सो मन्त्रों का अर्थ तो नहीं जानता, किन्तु अटकल से उसने युक्ति रची कि शनैश्चर शब्द के आदि में तालव्य शकार है, इससे यही शनै-श्चर का मन्त्र है। देखना चाहिये कि 'श' सुख का नाम है (मूल में यह वाक्य आगे-पीछे है), तथा **पृथिव्या अयम्** इससे परमेश्वर का ग्रहण होता है। इस शब्द से मंगल को ले लिया, **उद्बुध्यस्व** क्रिया से बुध को ले लिया। **उद्बुध्यस्व** 'बुध अवगमने' धातु की क्रिया है।"

३. 'यदि मन्त्रार्थप्रत्यायनाय, अनर्थकं भवतीति कौत्सः, अनर्थका हि मन्त्राः। तदेतेनोपेक्षितव्यम्।' निरुक्त १।१५॥

इस प्रकार याज्ञिकों द्वारा उद्भावित मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रभाव वेदों की तात्कालिक शाखाओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों में स्पष्ट लक्षित होता है। यही कारण है कि इन शाखाओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों में (शतपथ को छोड़कर) विनियोग (= इस मन्त्र से यज्ञ का अमुक कर्म करे) का ही उल्लेख प्रधानता से मिलता है। इतना ही नहीं, ब्राह्मण शब्द का **ब्रह्मणां मन्त्राणां व्याख्यानं ब्राह्मणम्** इस मूल अर्थ को तिरोहित करके ब्राह्मण का लक्षण—**'कर्मचोदका ब्राह्मणानि'**[1]; **'विनियोजकं ब्राह्मणम्'**[2] मात्र याज्ञिकों ने स्वीकार कर लिया। शतपथ से अतिरिक्त अन्य उपलब्ध ब्राह्मणग्रन्थों में जहां-कहीं मन्त्रों के अर्थ उपलब्ध होते हैं, वे प्रायः आनुषङ्गिक हैं। अर्थात् मन्त्रार्थ के परिज्ञान के लिये ब्राह्मणग्रन्थों की रचना नहीं हुई। अतः इन ब्राह्मणग्रन्थों (शतपथ को छोड़कर) से वेद के याज्ञिक अर्थ का भी बोध नहीं होता। केवल ब्राह्मण-प्रदर्शित विनियोग के आधार पर याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ की कल्पना की जाती है।

इस विस्तृत विवेचना से स्पष्ट है कि याज्ञिक प्रक्रियाओं में हुये उत्तरोत्तर परिवर्तन और परिवर्धन का वेदार्थ पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। और **जो याज्ञिक प्रक्रिया प्रारम्भ में वेद के आधिदैविक वा आध्यात्मिक मुख्यार्थ का ज्ञान कराने के लिये कल्पित की गई थी, उसने अन्त में वेदों को भी अर्थरहित (= निरर्थक) बना दिया।** यास्क जैमिनि और याज्ञवल्क्य के प्रभाव से मन्त्रानर्थक्यवाद का यद्यपि कुछ प्रतिवाद हुआ, तथापि उससे प्राचीन या तत्समकालीन ग्रन्थों में मन्त्रार्थ से असम्बद्ध जो याज्ञिक मन्त्रविनियोग हो चुका था, उसका परिमार्जन न हुआ अर्थात् उसका खण्डन नहीं किया गया। अतः याज्ञिक लोग उसी प्रकार मन्त्रार्थ से असम्बद्ध नये-नये विनियोग उत्तरकाल में भी करते रहे। हमारा विचार है कि—यदि यास्क जैमिनि और याज्ञवल्क्य आदि मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रबल खण्डन न करते, तो जो कुछ याज्ञिकप्रक्रियानुसारी टूटा-फूटा वेदार्थ उपलब्ध होता है, वह भी न मिलता। और वेदमन्त्र सर्वथा तान्त्रिक मन्त्रों के समान निरर्थक समझे जाते। अस्तु।

इस प्रकार हम ने श्रौतयज्ञों के सम्बन्ध में निम्न विषयों पर सक्षेप से प्रकाश डाला है—

१—यज्ञ-शब्द का अर्थ।

---

१. आपस्तम्ब परिभाषा क० १।

२. तै० सं० भट्टभास्कर-भाष्य, भाग १, पृष्ठ ३; तथा 'कर्मचोदका ब्राह्मणानि'। आप० श्रौत परि० १।३४॥

२—श्रौत-यज्ञ (=द्रव्य यज्ञ) का लक्षण।

३—श्रौत-यज्ञों के भेद-प्रभेद।

४—द्रव्ययज्ञों की कल्पना का प्रयोजन।

५—द्रव्ययज्ञों की आधिदैविक=सृष्टियज्ञों से तुलना।

६—द्रव्ययज्ञों के प्रादुर्भाव का काल।

७—प्रारम्भिक यज्ञ।

८—प्रारम्भिक यज्ञों में सादगी और सात्त्विकता।

९—याज्ञिक प्रक्रिया में परिवर्तन तथा नये यज्ञों की कल्पना।

१०—याज्ञिक-प्रक्रिया और वेदार्थ।

११—यज्ञों के प्रादुर्भाव का वेदार्थ पर उत्तरकाल में प्रभाव।

१२—काल्पनिक विनियोग।

१३—काल्पनिक मन्त्रों की रचना।

१४—याज्ञिकवाद की मन्त्रानर्थक्यवाद में परिणति।

यज्ञों के नित्य नैमित्तिक और काम्य भेदों में से नित्यत्वेन विहित अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधान्त यज्ञों में यद्यपि उत्तरकाल में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है, तथापि इन में अनावश्यक रूप से उत्तरकाल में परिवर्धित हुए बाह्य आडम्बरों, वैदिक भावना से प्रतिकूल अंशों, और मन्त्रार्थ के अननुसरित और मन्त्रार्थविपरीत विनियोगों का परिज्ञान हो जाने से इनका परित्याग सुकर है। उत्तरकाल में हुए परिवर्तनों तथा परिवर्धनों के त्याग के पश्चात् ये नित्य श्रौत-यज्ञ अपने शुद्धरूप में उपस्थित हो जाते हैं। परन्तु इन्हीं श्रौतयज्ञों में विहित अजमेध अश्वमेध गोमेध और पुरुषमेध, तथा इनके विकृतिरूप अन्य पशुयागों की समस्या बहुत ही विकट है। अतः अब हम सामान्यरूप से श्रौत-पशुयागों की मीमांसा करते हैं—

श्रौत-पशुयाग-मीमांसा

वेद की उपलब्ध शाखाओं ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में स्वतन्त्ररूप से; और अन्य यज्ञों के अवयवरूप पशुयज्ञों का बहुधा उल्लेख मिलता है। पशुयज्ञों पर विचार करने से पूर्व पशुयज्ञों में विहित पशुओं के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है।

ऐतरेय-ब्राह्मण २।८ तथा शतपथ-ब्राह्मण १।२।३।६–७ में **पुरुष अश्व गौ अवि और अज** पशुओं का निर्देश मिलता है।[1] इन्हें 'मेध्य' माना जाता है। विचारणीय यह है कि क्या ये पशु लौकिक पशु हैं, अथवा यज्ञ में ये किन्हीं अन्य पशुओं के प्रतीकभूत हैं।

हम पूर्व (पृष्ठ १३५-१४८) लिख चुके हैं कि श्रौत-द्रव्यमय यज्ञ स्वयं आधिदैविक सृष्टियज्ञ के प्रतीकात्मक अथवा रूपक वा नाटकरूप व्याख्यान हैं। और द्रव्यमय यज्ञों में प्रयुक्त सभी पात्र वा द्रव्य भी सृष्टियज्ञगत विविध आधिदैविक तत्त्वों के प्रतीक हैं। इस दृष्टि से पुरुषमेध अश्वमेध गोमेध अवि-मेध और अजमेध नामक यज्ञ,और उनके द्रव्यरूप पुरुष आदि पशु भी प्रतीकात्मक ही हैं।

वेद-प्रतिपादित पशुयज्ञ सृष्टियज्ञ हैं

उदाहरण के लिये हम सब से पूर्व **'पुरुषमेध'** को उपस्थित करते हैं। पुरुषमेध में यजुर्वेद का ३१वां अध्याय, तथा ऋग्वेद का १०।९० पुरुषसूक्त विनियुक्त है। इस सूक्त में श्लेषालङ्कार से **प्राकृतिक विराट् पुरुष** (=महद् अण्ड=हिरण्यगर्भ) का, और **त्रिगुणातीत परम विराट् पुरुष ब्रह्म** का प्रतिपादन किया गया है। हम इस प्रकरण के कुछ मन्त्र उपस्थित करते हैं,जिनसे स्पष्ट हो जायेगा कि श्रौत पुरुषमेध में विनियुक्त मन्त्रों में किस पुरुष का उल्लेख है, और उसका मेध क्या है? यजुर्वेद अ० ३१ का पांचवां मन्त्र है—

ततो विराड् अजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चात् भूमिमथो पुरः॥

प्रथम चार मन्त्रों में विराट् पुरुष की महिमा का वर्णन किया है। प्रस्तुत मन्त्र में **सर्ग की प्रक्रिया का अतिसंक्षिप्त वर्णन है**। इसकी व्याख्या सांख्य-दर्शन और वेद के अन्यत्र निर्दिष्ट प्रकरण के आधार पर करनी चाहिये।

मन्त्रार्थ—उस [प्रारम्भिक अजायमान सत्त्वरजतम की साम्यावस्थारूप प्रकृति] से विराट् उत्पन्न हुआ, विराट् से पुरुष उत्पन्न हुआ। उससे उत्पन्न हुआ पुरुष अत्यरिच्यत=अतिरिक्त=खाली हुआ। उसने भूमि तथा अन्य पुरों=लोकों को प्रकट किया।

यह मन्त्र का शाब्दिक अर्थ है। इसमें प्रकृति के सर्गोन्मुख होने के पश्चात्

---

१. तुलना करो—'[अग्निः]एतान् पञ्च पशून् अपश्यत्—पुरुषमश्वं गाम-विमजम्। यदपश्यत् तस्मादेते पशवः।' शत० ब्रा० ६।२।१।२॥

उत्पन्न दो प्रधान विकारों का उल्लेख किया गया है। **विराट्** शब्द से यहां सांख्यकथित **महान्, अहंकार** और उससे उत्पन्न **पञ्चतन्मात्रों** (१+१+५=७) की उत्पत्ति पर्यन्त प्रथम सर्ग=**प्रथम देवयुग** का निर्देश हैं। और **'पुरुष'** शब्द से हिरण्यगर्भ प्रजापति आदि विविध नामों से स्मृत **'महदण्ड'** का।

ऋग्वेद १०।७२ के अदिति सूक्त में कहा है—अदिति (=देवों की माता[1] प्रकृति) के आठ पुत्र[2] उत्पन्न हुये। उनमें **सात पूर्व युग** में हुये, और **आठवां मार्ताण्ड**[3] (=मृत=मरणधर्मा नाशवान् अण्ड=महदण्ड) **दूसरे युग में** हुआ। मन्त्र इस प्रकार है—

> **अष्टौ पुत्रासो[4] अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि।**
> **देवाँ उप प्रैत सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत ॥८॥**
> **सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत पूर्व्यं युगम्।**
> **प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ॥९॥**

यह वैदिक **मार्ताण्ड ही महदण्डरूप पुरुष[5] प्रजापति** है। इसकी उत्पत्ति महत् अहंकार और पञ्चतन्मात्रों से होती है।[6] जैसे अण्डज प्राणियों के अण्डों के भीतर उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग बनते रहते हैं, वैसे ही महदण्ड के भीतर लोक-

---

१. अदितिरदीना देवमाता। निरुक्त ४।२२॥

२. लौकिक कश्यप ऋषि की पत्नी अदिति के १२ पुत्र थे। अतः स्पष्ट है कि लौकिक देवों की माता अदिति और आधिदैविक देवों की माता अदिति दोनों भिन्न-भिन्न हैं। मन्त्र में आधिदैविक देवों की माता अदिति का निर्देश है।

३. मृत+अण्ड (=मरणधर्मा अण्ड=मृताण्ड, **'मृताण्ड एव मार्ताण्डः'**, **प्रज्ञादित्वात्** (अ० ५।४।३८) **स्वार्थेऽण्**। सूर्यवाचक **मार्त्तण्ड** शब्द इससे भिन्न है।

४. प्राचीन समय में सौभाग्यवती स्त्रियों को **अष्टपुत्रा भव** ऐसा आशीर्वाद दिया जाता था, उसका मूल यह मन्त्र प्रतीत होता है।

५. ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। स प्रजापतिः। शत० ११।१।६।२॥

६. पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च अव्यक्तानुग्रहेण च।
महदादयो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति वै ॥ वायुपुराण ४।७४॥
पुरुष=ब्रह्म, अव्यक्त=प्रकृति, विशेष=पञ्चतन्मात्र।

लोकान्तरों का निर्माण होता है। इसी को वेद में **यज्ञ**[1] और **विश्वकर्मा भौवन**[2] (=भुवनों का उत्पन्न करनेवाला) भी कहा है। जब मार्ताण्ड (=महदण्ड) के अन्तःताप से तदन्तर्गत भुवनों का निर्माण समाप्त होने को होता है, तब यह मार्ताण्ड **सहस्रांशु समप्रभ** (द्र०—मनु १।६)=हिरण्य के समान प्रदीप्त होने से '**हिरण्यगर्भ**' कहाता है। इसी अवस्था से युक्त महदण्ड का वर्णन ऋग्वेद (मं० १०, सूक्त १२१) के हिरण्यगर्भसूक्त में इस प्रकार किया है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

मन्त्रार्थ—यह हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ आरम्भ में वर्तमान था। वही उत्पन्न हुए लोकों का पति=स्वामी था। उसी ने पृथिवी और द्युलोक को धारण किया था। उस 'क'=प्रजापति=हिरण्यगर्भ देव के लिये हम [देव=अन्तःवर्तमान प्राणरूप भूतगण] अपने हव्य अंश से **विधेम**[3]=निर्माण-कार्य करते हैं।

स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः। यजुः ३१।५॥

स जातः=जब विराट् पुरुष=महद् अण्ड परिपक्व हो गया, हिरण्यवत् चमकने लगा, तब वह **अत्यरिच्यत**=अतिरेचित हुआ=रिक्त हुआ[4]। अर्थात् उसके ऊपर के आवरण के भेदन से भीतर निर्मित ग्रह उपग्रह बाहर आये। उस अतिरेक के समय पहले भूमि और पश्चात् अन्य पुर=ग्रहोपग्रह अपनी स्थिति को प्राप्त हुए।

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥यजुः ३१।६॥

उस यज्ञ=संगतिकरण से निर्मित विराट् पुरुषरूप यज्ञ जो **सर्वहुत्**[5], अर्थात्

---

१. द्रष्टव्य—**तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः** (यजुः ३१।६)।

२. द्रष्टव्य—ऋ० मं० १०, सूक्त ८१।

३. विपूर्वो धाञ् करोत्यर्थे प्रयुज्यत इति वैयाकरणा आहुः।

४. स (=प्रजापतिः) सर्वाणि भूतानि सृष्ट्वा रिरिचान इव मेने। शत० ब्रा० १०।४।२।२॥

५. द्रष्टव्य—निरुक्त १०।२६—विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार।......विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् (ऋ० १०।८१।६) इति॥

जिसके भीतर वर्तमान प्रकृत्यंश सब हुत हो गये थे, अर्थात् कार्यरूप में परिणत हो गये थे, उससे पृषदाज्य[1]=कहीं अन्धकार और कहीं प्रकाश संभृत=धारित हुआ। और उसी सर्वहुत् यज्ञ ने **वायव्य**=वायु में विचरण करनेवाले **ग्राम्य** और **आरण्य पशु**, अर्थात् स्वरूप से दिखाई पड़नेवाले जो लोक-लोकान्तर थे, उनको उत्पन्न किया।

ये वायु में विचरनेवाले **ग्राम्य पशु** समूहरूप से एक स्थान पर स्थित सूर्यरूपी यूप=खूंटे में उसकी रश्मियों अथवा आकर्षणरूप रस्सी से बन्धे हुए नियमित कक्षा में भ्रमण करनेवाले बुध शुक्र आदि ग्रह, और **आरण्य पशु** स्वतन्त्र विचरण करनेवाले धूमकेतु आदि हैं[2], भूलोकवासी पशु-पक्षी यहां अभिप्रेत नहीं हैं। अगले ८ वें मन्त्र में कहे **उभयादत्** (=दोनों ओर दांतवाले=भक्षण सामर्थ्यवाले) अश्व और **एकदत्**=एक ओर दांतवाले गौ अज अवि आदि भी लौकिक पशु नहीं हैं। विस्तारभय से हम इस विषय पर नहीं लिख रहे हैं (**अवि पशु** का वर्णन इस निबन्ध में आगे आयेगा)। उससे आगे १४ वें मन्त्र में कहा है—'जिस सर्वहुत् पुरुष से देवों (=भौतिक शक्तियों) ने यज्ञ का विस्तार किया है, उसका **आज्य** (=व्यक्ति वा कान्ति का साधन) वसन्त था, **इध्म** (=प्रदीपक) ग्रीष्म, और **हव्य** शरद् ऋतु थी।'

इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि **यह यज्ञ भौतिक यज्ञ नहीं है**। इस यज्ञ (=पुरुषाध्यायोक्त सृष्टियज्ञ) का द्रष्टा (=दर्शक) यजमान[3] **नारायण**[4] है।

---

१. यज्ञकर्मणि दधिसहितमाज्यं पृषदाज्यमित्युच्यते (=दहीसहित आज्य पृषदाज्य कहाता है)। पृषदाज्य में दही के अंश पृषत्=श्वेत धब्बे के समान घृत से पृथक् गृहीत होते हैं। इसी साम्य से उक्त मन्त्र में पृषदाज्य का अर्थ 'कहीं अन्धकार और कहीं प्रकाश' किया है।

२. **असौ वा आदित्यो यूपः**। द्र०—ऐ० ब्रा० ५।२८॥ **पशवो वै यूपमुच्छ्रयन्ति**। शत० ३।७।२।४॥ सोमयाग के पशु प्राणी यूप के खड़े करने में निमित्त होते हैं। इस दृष्टि से सृष्टियज्ञ में आदित्यरूपी यूप के साथ सम्बद्ध ग्राम्य पशु विविध ग्रहोपग्रह हैं।

३. यज्ञों में यजमान केवल द्रष्टा होता है, और अपने से प्रेरित ऋत्विजों के द्वारा क्रियमाण कर्म के फल से निर्मुक्त रहने के लिये प्रत्येक आहुति के पश्चात् **'इदं न मम'** का ही संकल्प दोहराता रहता है।

४. यजुर्वेद अ० ३१, और ऋ० १०।९० का द्रष्टा **'नारायण'** ही है। द्र०—सर्वानुक्रमणी।

नारा नाम **आपः**=मूल प्रकृति का है। उसमें जिसका **अयन**=व्याप्ति है, उस परमपुरुष का नाम नारायण है।[1]

आधिदैविक पदार्थों के लिये 'पशु' शब्द का व्यवहार

आधिदैविक जगत् के अग्नि वायु सूर्य आदि पदार्थों के लिये वेद में न केवल 'पशु' शब्द का व्यवहार ही मिलता है; अपितु उनके आलभन और उनसे यजन का भी निर्देश उपलब्ध होता है। अश्वमेध के प्रकरण में एक मन्त्र है—

अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त। वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त। सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त॥ शुक्लयजुः २३।१७; तै० सं० ५।७।२६॥

अग्नि वायु और सूर्यरूपी पशु से यजन लौकिक द्रव्यमय यज्ञों में तो सम्भव है ही नहीं। अतः स्पष्ट ही ये सृष्टियज्ञ के साधनभूत पशु हैं। यही तत्त्व निरुक्तकार यास्क ने पुरुषाध्याय वा पुरुषसूक्त में पठित एक मन्त्र का व्याख्यान करते हुये स्पष्ट किया है। मन्त्र और उसकी यास्कीय व्याख्या इस प्रकार है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः=अग्निनाऽग्निमयजन्त देवाः। अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त तेनायजन्त इति च ब्राह्मणम्। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त। यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः। द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः। पूर्वं देवयुगमित्याख्यानम्॥ निरुक्त १२।४१॥

अर्थात्—यज्ञ से यज्ञ का देवों ने यजन किया=अग्नि से अग्नि का देवों ने यजन किया। 'अग्नि पशु था, उसका आलभन किया, और उससे यजन किया' यह ब्राह्मण का कथन है। वे ही मुख्य कर्म थे। उन महिमासम्पन्न देवगणों ने नाक=द्युलोक का सेवन किया=द्युलोक को प्राप्त किया। जहां पर पूर्वकालीन साध्य=साधनभूत देव विद्यमान थे। नैरुक्तों का मत है कि ये साध्य देव द्युस्थानीय देवगण हैं। आख्यानविदों का मत है कि यह पूर्व देवयुग का कथन है।

इस मन्त्र का लगभग ऐसा ही व्याख्यान ऐतरेय-ब्राह्मण १।१६ में मिलता

---

१. आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ मनु० १।१०॥

है । यास्क ने **द्युस्थानो देवगणः** लिख कर साध्य देवों को आदित्य की रश्मियां कहा है । महीदास ऐतरेय ने **छन्दांसि वै साध्या देवाः** कहकर उसी ओर संकेत किया है । ऐ० ब्रा० २।१८ में छन्दों को प्रजापति आदित्य का अङ्ग कहा है[1] । पुराणों में छन्दों का आदित्य के अश्वरूप में बहुधा वर्णन मिलता है ।[2]

निरुक्त की इस व्याख्या से दो बातें स्पष्ट हैं कि अग्नि आदि आधिदैविक तत्त्व भी पशु कहाते हैं । दूसरा किन्हीं वेदार्थविदों के मत में प्रकृत मन्त्र और उसके सहपठित पुरुषाध्याय (यजु० ३१) वा पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०) के मन्त्रों में पूर्व देवयुग का अर्थात् सर्ग के आदि काल का वर्णन है[3] ।

इसी प्रसङ्ग में हम एक महत्त्वपूर्ण निर्देश कर देना आवश्यक समझते हैं कि वेद की शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों में जहां भी पशुयाग का वर्णन है, वहां प्रायः उससे पूर्व वा पश्चात् शाखा वा ब्राह्मण के प्रवक्ता **पुराकल्प**[4] के रूप में अर्थवाद का निर्देश करते हैं । पुराकल्परूप अर्थवाद में कल्प=सर्ग की पुरा=प्राचीन कल्प=सर्गकालीन घटनाओं का वर्णन किया जाता है । यथा—

१—तै० सं० २।१।१।४-५ में 'प्रजा वा पशु कामनावाले के लिये प्राजापत्य तूपर अज के आलभन' की विधि[5] से पूर्व पुराकल्प अर्थवाद इस प्रकार पढ़ा है-

"प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत् । सोऽकामयत प्रजाः पशून् सृजेयेति । स आत्मनो वपामुदक्खिदत् । तामग्नौ प्रागृह्णात् । ततोऽजस्तूपरः समभवत् । तं स्वायै देवताया आलभत, ततो वै स प्रजाः पशून् असृजत ।"

अर्थात्–प्रजापति अकेला था । उसने कामना की कि प्रजाओं पशुओं को उत्पन्न

---

१. प्रजापतेर्वा एतान्यङ्गानि यच्छन्दांसि । ऐ० ब्रा० २।१८।।

२. **छन्दोभिरश्वरूपैः** । वायु पु० ५२।४५।। **छन्दोरूपैश्च नैरश्वैः** । मत्स्य पु० १२५।४२।। **छन्दोभिर्वाजिनरूपैस्तु** । वायु ५१।५७; मत्स्य १२४।४।। **हयाश्च सप्त छन्दांसि** । विष्णु पु० २।८।७।। इस विषय में विशेष देखिये—हमारा **'वैदिक-छन्दो-मीमांसा'** ग्रन्थ; पृष्ठ ६-७ (प्रथमसंस्करण) ।

३. द्र०—पूर्व पृष्ठ १७१ में निर्दिष्ट **पूर्व्यं युगम्** मन्त्रांश ।

४. 'पुराकल्प' का अर्थ न्याय-वात्स्यायन-भाष्य २।१।६४ में अन्यथा दर्शाया है । इस पर हमने भाष्यव्याख्या (१।२।१०) पृष्ठ १४९ पर विशेष विचार किया है ।

५. यः प्रजाकामः पशुकामः स्यात्, स एतं प्राजापत्यमजं तूपरमालभेत । तै० सं० २।१।१।४-५।।

करूं। उसने अपनी वपा को निकाला। उसको अग्नि में छोड़ा। उससे तूपर (=शृङ्ग-रहित) अज उत्पन्न हुआ। उसे अपनी देवता के लिये आलभन किया। उस से प्रजा और पशुओं को उत्पन्न किया।

इस पुराकल्प में उक्त प्रजापति, उसकी वपा, उसका अग्नि में छोड़ना, उससे तूपर अज का होना, और उसे देवता के लिये आलभन करके प्रजा पशुओं को उत्पन्न करना रूप सारा कथानक सर्गकाल का है। आचार्य शबरस्वामी ने भी इस प्रकरण की सृष्टितत्त्व परक ही व्याख्या की है। द्रष्टव्य—मीमांसा १।२।१० भाष्य, पृष्ठ १४६, १५०। हमने भी इसी शाबरभाष्य की व्याख्या में विवरण के अन्तर्गत इस प्रकरण का विशिष्ट व्याख्यान किया है (द्र०—पृष्ठ १५०—१५३)।

२—तै० सं० २।१।२।१ में 'वरुणगृहीत पुरुष वरुणदेवतावाले एकशितिपाद् (=एक श्वेत पैरवाले)[1] कृष्ण अज का आलभन करे', इस विधि[1] के पूर्व और अनन्तर विस्तृत पुराकल्परूप अर्थवाद पढ़ा है। इस विषय का स्पष्टीकरण हम आगे **'सूर्य पशु का आलभन और उससे यज्ञ'** प्रकरण में करेंगे, पाठक वहां देखें।

ये दो प्रकरण हमने निदर्शनमात्र के लिये उपस्थित किये हैं।

उक्त दृष्टि से पुरुषमेध अश्वमेध गोमेध अविमेध अजमेध के लौकिक पशु सृष्टियज्ञ के सर्गकालीन, अथवा वर्तमानकालीन आधिदैविक पदार्थों के प्रतिनिधिमात्र हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। द्रव्यमय पुरुषमेध आदि सृष्टिगत किस यज्ञ के प्रतिनिधि है? और इन यज्ञों में पुरुष आदि को पुराकाल में मारा जाता था वा नहीं, इसकी मीमांसा हम यथास्थान करेंगे।

अब हम पशुयज्ञों की मीमांसा से पूर्व दो विषयों पर और प्रकाश डालना चाहते हैं। उनमें एक है—द्रव्यमय यज्ञों के मानवों तक पहुंचने का इतिहास, और दूसरा—**आलभते** का अर्थ तथा **आलभन** और **आलम्भन** क्रिया का भेद।

यज्ञ-सम्बन्धी कथानक

यज्ञों के सम्बन्ध में कथानक वैदिक-वाङ्मय में मिलता है, वह दो प्रकार का है। एक सृष्टिगत आसुर और दैव यज्ञों के सम्बन्ध में, और दूसरा श्रौत-सूत्रोक्त मानुष द्रव्ययज्ञों के सम्बन्ध में। दोनों के वर्णन में स्थान-स्थान पर देव

---

१. यो वरुणगृहीतः स्यात् स एतं वारुणं कृष्णमेकशितिपादमालभेत। तै० सं० २।१।२।१॥

और असुर शब्दों का प्रयोग मिलता है। अतः इन वचनों के विषय-विभाग में बड़ी कठिनाई होती है। हम अपनी बुद्धि के अनुसार दोनों वचनों का विभाग करके लिखते हैं।

प्रस्तुत आसुर यज्ञों पर विचार करने से पूर्व यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि भारतीय दर्शन के अनुसार सृष्टि और प्रलय का चक्र सदा चलता ही रहता है। परन्तु जब वर्तमान सृष्टि के सम्बन्ध में कुछ लिखना होता है, तो भारतीय ग्रन्थकार वर्तमान सृष्टि से पूर्व जो प्रलयावस्था रही थी, उस का पहले संक्षेप से वर्णन करते हैं, पश्चात् सृष्टि के सर्जन का।

हमारे सौरमण्डल की स्थिति और प्रलय का काल ८ अरब ६४ करोड़ वर्ष का है। इसमें ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष दिन, अर्थात् सृष्टि का स्थितिकाल, और ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष रात्रि अर्थात् प्रलयकाल होता है। प्रलयकाल के आरम्भ से आसुर=ध्वंसनात्मक प्रवृत्तियां उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती हैं। और प्रलय के मध्य में पूर्णता को प्राप्त होने के पश्चात् दैवी प्रवृत्तियों का उत्तरोत्तर विकास होता है, और आसुर प्रवृत्तियां घटती जाती हैं[1]। इस कारण वर्तमान सृष्टि से पूर्व प्रलयकाल में आसुर प्रवृत्तियों के कारण ध्वंसनात्मक यज्ञ हो रहे थे। अर्थात् प्रलयात्मक यज्ञ आसुर शक्तियों के पास था। इसी का निर्देश तैत्तिरीय-संहिता ६।३।७।२ में किया है—

'असुरेषु वै यज्ञ आसीत्, तं देवा तूष्णीं होमेनापवृञ्जन्'।

अर्थात्—पहले निश्चय ही यज्ञ असुरों में था। देवों ने उसे तूष्णीम् होम से काट लिया=छीन लिया। अभिप्राय स्पष्ट है कि जब प्रलयकाल में आसुरी शक्तियां प्रबल हो रही थीं, तब सर्गोन्मुखकाल में दैवी शक्तियों ने तूष्णीं=चुपचाप=शनैःशनैः अपना कार्य=सर्जनरूप यज्ञ आरम्भ किया। और शनैः शनैः सर्जन-प्रक्रिया बढ़ती गई। इस प्रकार यज्ञ असुरों से देवों के हाथ में आ गया।

---

१. इसी तत्त्व का निरूपण गायत्र्यादि आसुर और दैव छन्दों की अक्षर-संख्या के माध्यम से छन्दःशास्त्रों में किया है। द्र०—हमारी वैदिक-छन्दोमीमांसा पृष्ठ ११५-१२० प्र० सं०। आसुर यज्ञों में विघटन की प्रवृत्ति की अधिकता और सर्जन प्रवृत्ति का ह्रास आसुर छन्दों की ह्रसीयमान अक्षर-संख्या के माध्यम से और दैव यज्ञों में सर्जन प्रवृत्ति का वर्धन दैव छन्दों की विवर्धमान अक्षर संख्या के माध्यम से दर्शाया है।

सर्गोन्मुख काल में दैवी प्रवृत्तियां छोटी थीं, आसुरी प्रवृत्तियां बड़ी थीं। इसको श्लेष से शतपथ में कहा है—'कानीयसा एव देवाः; ज्यायसाः असुराः' (शत० १४।४।१।१)।

मानुष सर्ग के आरम्भ में प्रजापति कश्यप की भी असुर और देवसंज्ञक संततियां थीं। इनमें भी वयः की दृष्टि से आसुर बड़े थे और देव छोटे। **'असुर'** शब्द का अर्थ है—**'असु+र'** (मत्वर्थीय)=प्राणोंवाला अर्थात् बलवान्।

असुर पृथिवी के प्रथम शासक

कश्यप-पुत्र असुर ही ज्येष्ठ होने से इस पृथिवी के प्रथम शासक हुए। तैत्तिरीय संहिता ६।२।४।२-३ में लिखा है—

'असुराणां वा इयमग्र आसीत्। यावदासीनः परा पश्यति तावद्देवानाम्। ते देवा अब्रुवन् अस्त्वेव नोऽस्याम्॥'

अर्थात्—यह पृथिवी पहले असुरों की थी। जितना बैठा हुआ व्यक्ति पीछे की ओर देख सकता है, उतनी अर्थात् अत्यल्प देवों की थी। देवों ने असुरों से कहा कि इस पृथिवी में हमारा भी भाग होवे[1]।

इसी तथ्य का निर्देश मैत्रायणी संहिता ३।८।३; ४।१।१० में भी मिलता है।

यह वर्णन उस समय का है, जब पृथिवी की सलिलावस्था के पश्चात् संसार का उन्नततम भाग त्रिविष्टप (=तिब्बत) जल से बाहर प्रकट होकर प्राणियों के उत्पन्न होने योग्य हुआ था। देव और असुर यहीं के शासक थे।

असुरों द्वारा वर्णाश्रम-मर्यादा वा यज्ञों का प्रवर्तन

असुरों के प्रथम शासक होने से वर्णाश्रम-मर्यादा का व्यवस्थापन इन्हीं के द्वारा हुआ, और द्रव्यमय यज्ञों का प्रवर्तन भी इन्हीं ने किया।

वर्णाश्रम-विभाग—प्रह्लादपुत्र कपिल असुर द्वारा वर्णाश्रम के विभाग का

---

१. दायभाग के असमान बटवारे और देवों के मांगने पर भी असुरों द्वारा उनके भाग को न देने के कारण कौरव-पाण्डवों के समान देवों और असुरों में १२ अत्यन्त भयङ्कर युद्ध हुए। इन युद्धों की भयङ्करता की प्रतीति युद्ध की भयङ्करता का बोध कराने के लिये उपमारूप से रामायण महाभारत में बहुधा प्रयुक्त देवासुर-संग्राम के निर्देशों से होती है। यह संग्राम न्यूनातिन्यून ३०० वर्ष तक चला।

उल्लेख बौधायन धर्मसूत्र २।१२।३० में मिलता है। वहां लिखा है—'**तत्रोदाहरन्ति प्राह्लादिर्वै कपिलो नामासुर आस। स एतान् भेदान् चकार देवैः सह स्पर्धमानः।**' इसी कारण असुरों में भी वर्णाश्रममर्यादा थी। मैत्रायणी-संहिता २।३।७ में लिखा है—

'देवाः पराजिग्यमाना असुराणां वैश्यमुपायन्'

अर्थात्—देव लोग पराजित होते हुए असुरों के वैश्यों के पास पहुंचे। [सम्भवतः देवों का असुरों के वैश्यों के पास जाने का प्रयोजन असुरों की सम्पत्ति पर अधिकार करके उन्हें निर्बल करना था]।

यज्ञों का प्रवर्त्तन—यज्ञों का आरम्भ भी असुरों में ही हुआ। तैत्तिरीय संहिता ३।३।७।१ में लिखा है—

'प्रजापतिर्देवासुरानसृजत। तदनु यज्ञोऽसृज्यत, यज्ञं छन्दांसि। ते विश्वञ्चो व्यक्रामन्। सोऽसुरान् अनु यज्ञोऽपाक्रामत्। यज्ञं छन्दांसि॥'

इससे इतना स्पष्ट है कि यज्ञ पहले असुरों के पास थे।

सौत्रामणी[1] यज्ञ के विषय में शतपथ १२।६।३।७ में स्पष्ट लिखा है—

'असुरेषु वा एषोऽग्रे यज्ञ आसीत् सौत्रामणी। स देवान् उपप्रैत।'

यज्ञ असुरों से देवों के पास पहुंचा—शतपथ-ब्राह्मण १२।६।३।७ के पूर्वोक्त वचन के अनुसार सौत्रामणी पहले असुरों के पास था, फिर वह देवों के पास पहुंचा[2]। इसी प्रकार पूर्व (पृष्ठ १७७) उद्धृत तैत्तिरीय-संहिता ६।३।७।२ के वचन में श्लेष मानें, तो उससे भी यही ज्ञात होता है कि यज्ञ असुरों से देवों को प्राप्त हुए। कुछ काल पश्चात् देव लोग यज्ञ-विद्या में असुरों से बहुत आगे बढ़ गये। अन्ततः ऐसी स्थिति आई कि असुर यज्ञों के विषय में देवों का अनुकरण करने लगे—'**देवा वै यद् यज्ञे अकुर्वत तदसुरा अकुर्वत।**' तै० सं० ६।४।६।१॥

यज्ञ देवों से मनुष्यों के पास पहुंचा—कुछ काल पश्चात् यज्ञ देवों से मनुष्यों के पास पहुंचा। महाराज ऐल ने गन्धर्वों (=देव-जातिस्थों) से अग्नि-विद्या का रहस्य जानकर यज्ञ की एक अग्नि को तीन अग्नियों में वि-

---

१, सौत्रामणी यज्ञ के विषय में प्रसिद्ध है कि उसमें सुरापान (=मद्यपान) का विधान है, वस्तुतः यह झूठ है। उसमें वर्णित सुरा होशहवास खोनेवाली मदिरा नहीं है। वह तो 'कांजी' से भी हलका तीन दिनमात्र में सिद्ध होनेवाला पेय है। विशेष द्रष्टव्य—हमारी महाभाष्य अ० १, आह्निक १, (भाग १), पृष्ठ २१ की हिन्दी-व्याख्या।

२. सायणाचार्य को प्राचीन इतिहास का सम्यक् बोध न होने से उसने तै० सं० ३।३।७ के भाष्य में अशुद्ध व्याख्यान किया है।

भक्त किया[1] । ऋषियों ने यज्ञ को विविध क्रिया-कलापों की सूक्ष्मता वा विविधता की पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया ।

मनुष्यों में यज्ञ का आरम्भ त्रेता युग के आरम्भ में हुआ था, परन्तु असुरों और देवों में कृतयुग के उत्तरार्ध में आरम्भ हो चुका था । अतः पूर्व पृष्ठ १४९, टि० १ पर निर्दिष्ट यज्ञप्रवर्तन के कृतयुग-निदर्शक और त्रेतायुग-निदर्शक दोनों प्रकार के वचन युक्त हैं,उनमें कोई विरोध नहीं है ।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये असुर कौन थे ? प्रश्न का कारण है असुरों के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा । जिसके अनुसार 'असुर' शब्द सुनते ही राक्षस पिशाच आदि वैदिक मर्यादाविहीन जनों का बोध होता है । अतः हम प्रसङ्गवश उन असुरों के विषय में भी प्रकाश डालना उचित समझते हैं ।

भारतीय इतिहास के अनुसार **असुर, देव** और **मनुष्य** ये पुरुष जाति के तीन कुल थे । आरम्भ में प्रजापति कश्यप से दिति अदिति दनू आदि पत्नियों से जो सन्तानें हुईं, वे माता के नामों पर **दैत्य आदित्य दानव** आदि कहलाये । दैत्य ही भारतीय इतिहास में **असुर** कहे गये हैं । पीछे से दानव आदि भी असुरों के सहयोगी बन गये । अदिति के १२ पुत्र आदित्य देव कहे गये हैं । इन्हीं से असुरों और देवों के कुलों का आरम्भ होता है ।

असुर आरम्भ में श्रेष्ठ चरित्रवान् थे । प्रजापति कश्यप ने इनकी श्रेष्ठता और ज्येष्ठता के कारण पृथिवी का शासन इन्हें दिया । इन्हीं असुरों ने वेद के अनुसार वर्णाश्रम-विभाग और यज्ञों का प्रवर्तन किया, यह हम पूर्व (पृष्ठ १७८-१७९) में लिख चुके हैं। **शासन अथवा विशेषाधिकार मिल जाने पर यदि उस पर अंकुश न रखा जाय, तो मनुष्य की मति धीरे-धीरे विकृत होने लगती है।** इसी सिद्धान्त के अनुसार असुरों में गिरावट आई । असुर शब्द, जो पहले श्रेष्ठ अर्थ (असु+र =प्राणों से युक्त=बलवान्) का वाचक था[2], वह उनके

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ १५०, टि० १ ।

२. उत्तरकाल में जब देवों ने असुरों को पराजित करके देवभूमि त्रिविष्टप (तिब्बत) से निकाल दिया, तब ये तिब्बत के पश्चिम-दक्षिण प्रदेशों में बस गये । पुराने ईरानी इन्हीं असुरों की सन्तान थे । अतः उनकी भाषा में असुर शब्द श्रेष्ठ बलवान् अर्थ में ही प्रयुक्त होता था । वही उत्तरकाल में **अहुर** रूप में परिणत हो गया । इसी कारण जेन्दावस्ता में **अहुर** शब्द श्रेष्ठ देव का वाचक है ।

निकृष्ट आचरण से निकृष्ट अर्थ का बोधक बन गया। असुर लोग पहले श्रेष्ठ आचार-विचारवाले थे, इस अर्थ को प्रदर्शित करने वाला और उनके पूर्व इतिहास पर प्रकाश डालनेवाला एक शब्द है—**'पूर्वे देवाः'**। यह अमरकोश आदि में असुरों के पर्यायाची नामों में उपलब्ध होता है।

यहां प्रसङ्गवश यह और लिख देना उचित समझते हैं कि निरङ्कुश राज्यसत्ता पाकर जो दशा असुरों की हुई, **वही दशा उत्तरकाल में देवों के हाथ में निरङ्कुश राज्यसत्ता आने पर देवों की भी हुई**। इन्द्र के अनेक मर्यादा-विहीन कर्मों का वर्णन इतिहास-पुराणों में मिलता है। यज्ञों में पशवालम्भन का **आरम्भ** भी इन्द्र ने ही किया था; यह आगे लिखा जायेगा।

हमें ऋषियों का परम आभारी होना चाहिये कि उन्होंने असुरों और देवों के निरङ्कुश शासन से शिक्षा लेकर मानव राजाओं की रक्षा के लिये मानवीय राजनीति में ऐसा विशिष्ट प्रावधान किया, **जिससे राजा सर्वथा निरङ्कुश न रहे**। वह था राजा के लिये पुरोहित का प्रावधान करना। यह पुरोहित साधारण यज्ञकर्त्ता ऋत्विक् नहीं था। वह राजा की भावी आपदाओं से पहले से ही रक्षा का प्रावधान करने में समर्थ सर्वश्रेष्ठ परम तेजस्वी ब्राह्मण होता था। यही सर्वप्रधान मन्त्री होता था। रघुकुल के राजाओं का पुरोहित वा प्रधानमन्त्री वसिष्ठ ऐसा ही समर्थ व्यक्ति था। दूर जाने की आवश्यकता नहीं, मध्यकाल के प्रधान राजनीतिशास्त्रज्ञ **आचार्य कौटिल्य** ने भी लिखा है—**"तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यः स्वामिनमिव चानुवर्तेत"** (अधिकरण १, अ० ६)। एक स्थान पर तो आचार्य चाणक्य ने यहां तक लिखा है कि प्रमाद करते हुए राजा को एकान्त में आचार्य वा अमात्य कोड़े तक लगावे—

"मर्यादां स्थापयेद् आचार्यान् अमात्यान् वा। य एनं अपायस्थानेभ्यो वारयेयुः। छायानालिकया प्रतोदेन वा रहसि प्रमाद्यन्तमभितुदेयुः।" (अधि० १; अ० ७)।

आलभते, आलभेत पदों पर विचार

अब हम कर्मकाण्ड में अत्यन्त विवादास्पद **आलभते** पद पर विचार करते हैं। प्रायः समस्त पशुयागों के प्रकरण में **आलभते** वा **आलभेत** पदों का ही प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है—प्राप्त करना अथवा स्पर्श करना (**आ+डुलभष् प्राप्तौ**, धातु १।७०२)। उपनयन वा विवाहादि संस्कारों में जहां भी

हृदयमालभते[1] आदि प्रयोगों में **आलभते** का प्रयोग मिलता है, वहां सर्वत्र **'स्पर्श करता है'** अर्थ ही सर्ववादी-अभिमत है। परन्तु याज्ञिक **वायव्यं श्वेत-मालभेत भूतिकामः** (तै० सं० २।१।१।१) प्रभृति पशुयाग-विधायक वाक्यों में **आलभेत** का अर्थ **आलम्भनं कुर्यात्** (=पशु को मारे) ऐसा करते हैं। किन्तु जिन आरण्यक पशुओं पक्षियों एवं पुरुषों के द्रव्यदेवता-विधायक वचनों में **आलभते** का प्रयोग मिलता है, वहां समस्त याज्ञिक **आलभते** विधि होने पर भी इन्हें मारते नहीं हैं, अपितु इनका पर्यग्निकरण संस्कार करके उत्सर्जन कर देते हैं, इन्हें छोड़ देते हैं। यथा—

अश्वमेध में—**'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते, प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते'** यजुः २४।२०, २९) आदि आरण्य पशु-पक्षियों के सम्बन्ध में लिखा है—**कपिञ्जलादीनुत्सृजन्ति पर्यग्निकृतान्** (कात्या० श्रौत २०।६।६)। वेद के सभी याज्ञिक भाष्यकारों ने लिखा है—**तेष्वारण्याः सर्वे उत्स्रष्टव्याः, न तु हिंस्याः** (द्र०—यजुः २४।४० उव्वट-महीधर-भाष्य)।

पुरुषमेध में—यजुर्वेद अ० २९, कं० ५ से २२ तक **'ब्रह्मणे ब्राह्मणम् [आलभते]'** इत्यादि से निर्दिष्ट पुरुषों को भी पर्यग्निकरण के पश्चात् छोड़ दिया जाता है—**'कपिञ्जलादिवत् उत्सृजन्ति ब्राह्मणादीन्'** (कात्या० श्रौत २१।१।१२)। इसी प्रकरण में ३० २२ के व्याख्यान में याज्ञिक भाष्यकार भी लिखते है—**'पर्यग्निकरणानन्तरम् इदं ब्राह्मणे इदं क्षत्रायेत्येवं सर्वेषां यथास्वं देवतोद्देशेन त्यागः। ततः सर्वान् ब्राह्मणादीन् यूपेभ्यो विमुच्योत्सृजति'** (महीधरभाष्य)।

इन निर्देशों से यह स्पष्ट है कि आरण्य पशु-पक्षियों और पुरुषों को यज्ञ में मारा नहीं जाता है, अपितु **देवतोद्देश से उनका त्याग किया जाता है**। इस कारण यहां **आलभते** का अर्थ आलम्भन =हिंसा नहीं है, अपितु इनको स्पर्श करके तत्तद्देवतोद्देश से त्याग करना अर्थ ही इष्ट है।

---

१. **अथास्य दक्षिणांसमधि हृदयमालभते**। पार० गृह्य १।८।८; २।२।१५॥ इसी प्रकार अन्य गृह्यसूत्रों में भी वचन उपलब्ध होते हैं।

इसी प्रकार **अङ्गान्यालभ्य जपति** (पार० गृह्य २।४ के अन्त में बहुटीका-कार-सम्मत पाठ) में भी **आलभ्य** का अर्थ **स्पृष्ट्वा** ही है। शबरस्वामी ने भी मीमांसा-भाष्य १।२।१० में **उपयुज्य** अर्थ किया है। शाबरभाष्य के विवरणकार गोविन्दस्वामी ने लिखा है—**आलभ्येत्यस्य व्याख्यानमुपयुज्येति प्राप्येत्यर्थः**, अर्थात् आलभ्य का अर्थ **प्राप्त करके है**।

उपर्युक्त विवरण से इतना स्पष्ट हो जाता है कि **आलभते वा आलभेत** इत्यादि का याज्ञिकों को सर्वत्र आलम्भन=मारना अर्थ अभिप्रेत नहीं है।

आ-लभ, आ-लम्भ दो धातुएं

अब हम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि **'आ+लभ'** और **'आ+लम्भ'** दो स्वतन्त्र धातुएं हैं। इनमें **'आलभ'** का अर्थ प्राप्त करना और स्पर्श करना ही है, और **आलम्भ** का अर्थ मारना है। अर्थभेद से धातुद्वय के निरूपण के लिये हम आयुर्वेदीय चरक-संहिता का एक वचन उद्धृत करते हैं—

"आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्' पशवः प्रोक्षणमापुः।" चिकित्सास्थान १६।४॥

इस उद्धरण में **समालभनीयाः** और **आलम्भाय** दो पृथक् पदों का प्रयोग किया है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'श' भिन्न अजादि प्रत्ययों के परे **लभेश्च** (अष्टा० ७।१।६४) से सम्-आङ्पूर्वक लभ धातु को 'अनीयर्' प्रत्यय के परे नुम् होकर **समालम्भनीय** प्रयोग उपपन्न होता है। **आलम्भाय** में भी उक्त पाणिनीय नियम से आङ्पूर्वक लभ से घञ् (=अ) में नुम् होता है। चरकसंहिता के उक्त नुम्रहित **समालभनीयाः** और नुम्सहित **आलम्भाय** प्रयोगों से जाना जाता है कि ये दोनों प्रयोग **लभ** और **लभि=लम्भ** दो स्वतन्त्र धातुओं के हैं। उत्तरकाल में जब लम्भ के अधिकांश प्रयोग नष्ट हो गये, तो पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों ने लम्भ धातु से निष्पन्न भाषा में अल्पावशिष्ट प्रयोगों का लभ धातु में नुम् का आगम करके अन्वाख्यान कर दिया। इसी धात्वैक्यकल्पना के कारण **आलम्भ** धातु का जो अर्थ था, वह **आलभ** का समझा जाने लगा। और इसी कारण उत्तरकाल में **आलभते आलभेत** पदों का अर्थ **आलम्भनं कुर्यात्** किया जाने लगा।

वैयाकरणों के आगम आदेश विधान से प्रकृत्यन्तर की कल्पना

वैयाकरणों ने अल्प प्रयोग के कारण जिन शब्दों का प्रतिपादन धातु वा प्रातिपदिक में आगम आदेश विपर्यास आदि की कल्पना करके किया है, वह कल्पनामात्र है। वस्तुतः पुराकाल में ऐसे अल्प प्रयोगावशिष्ट शब्दों की मूलभूत धातु वा प्रातिपदिकरूप प्रकृति स्वतन्त्र थी। इस विषय का प्रतिपादन हमने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में विस्तार

से किया है। प्रकृत में हमारा यही कहना है कि जिन **आलम्भ आलम्भनीय आलम्भ्या** आदि शब्दों का सम्बन्ध पाणिनि ने **लभेश्च; आङो यि** (अष्टा० ७।१।६४,६५) सूत्रों के द्वारा **लभ** धातु में नुम् का आगम करके दर्शाया हैं, उन प्रयोगों की मूलभूत प्रकृति **लभि=लम्भ** स्वतन्त्र धातु थी। इस प्रकार की लुप्त प्रकृतियों के जानने की एक कसौटी महाभाष्यकार ने **न धातु-लोप आर्धधातुके** (अष्टा० १।१।४) सूत्र के भाष्य में प्रदान की है। तद-नुसार—

"वैयाकरणों ने जिन शब्दों में जिन निमित्तों में आगम आदेशादि का विधान किया है, वे कार्य उन निमित्तों के होने पर भी किन्हीं शब्दों में उपलब्ध न होवें, और जहां उक्त निमित्त न हों, वहां भी देखे जायें। **वहां प्रकृत्यन्तर जानना चाहिये**"। यथा—

'बृंहेरच्यनिटि। बृंहेरच्यनिटि उपसंख्यानं कर्तव्यम्। निबर्हयति, निबर्हकः। अचि इति किमर्थम्? निबृंह्यते। अनिटि इति किमर्थम्? निबृंहिता, निबृंहितुम्। तत्तह्यु पसंख्यानं कर्त्तव्यम्? न कर्त्तव्यम्। बृहिः प्रकृत्यन्तरम्। कथं ज्ञायते? अचीति लोप उच्यते, अनजादावपि दृश्यते—निबृह्यते। अनिटीत्युच्यते,इडादावपि दृश्यते—निबर्हिता, निबर्हितुम्। अजादावित्युच्यतेऽजादावपि न दृश्यते—निबृंहयति, निबृंहकः'॥ महाभाष्य १।१।४॥

अर्थात्—इड्भिन्न अजादि प्रत्यय परे रहने पर '**बृंह**' के अनुनासिक का लोप होता है। यथा—**निबर्हयति, निबर्हकः**। '**अचि**' क्यों कहा? '**निबृंह्यते**' यहां 'यक्' परे लोप न हो। '**इड्भिन्न के परे**'—क्यों कहा? '**निबृंहिता, निबृंहितुम्**' यहां इट् परे लोप न हो। तो यह वार्तिक बनाना चाहिये? नहीं बनाना चाहिये। क्योंकि '**बृह**' **प्रकृत्यन्तर=धात्वन्तर है** [उससे ये रूप बन जायेंगे]। कैसे जाना जाता है [कि बृह धात्वन्तर है]? वार्तिक में अच् परे रहने पर लोप कहा है परन्तु अनजादि (=अजादिभिन्न हलादि) प्रत्यय के परे रहते भी अनुनासिकलोप देखा जाता है। यथा—'**निबृह्यते**'। इट् परे रहने पर अनुनासिक का लोप नहीं होता ऐसा कहा है, परन्तु इडादि में भी लोप देखा जाता है। यथा—'**निबर्हिता, निबर्हितुम्**'। अजादि में अनुनासिक का लोप कहा है, परन्तु अजादि में भी लोप नहीं देखा जाता। यथा—'**निबृंहयति, निबृंहकः**'।

महाभाष्य के इस उद्धरण से **प्रकृत्यन्तर=धात्वन्तर कल्पना करने का**

नियम अत्यन्त स्पष्ट है।[1] इसी नियम के अनुसार हम वैयाकरणों द्वारा **लभ** धातु से सम्बद्ध प्रयोगों के नियमों की परीक्षा करेंगे।

पाणिनि ने दो सूत्र रचे हैं—**लभेश्च; आङो यि** ।।७।१।६४,६५।।

अर्थात्—लभ धातु को शप् और लिट् भिन्न अजादि प्रत्यय के परे रहने पर नुम् का आगम होता है। यथा—**लम्भयति, लम्भकः**। तथा आङ् से उत्तर लभ धातु को यकारादि प्रत्यय परे रहने पर भी नुम् का आगम होता है। यथा—**आलम्भ्या गौः, आलम्भ्या वडवा**।।

प्रथम नियम के अनुसार **लभ** धातु से **'अनीयर्'** प्रत्यय के परे रहने पर नुम् होकर **'लम्भनीय'** प्रयोग होना चाहिये, परन्तु चरकसंहिता (१६।४) के पूर्वोद्धृत (पृष्ठ १८३) पाठ में **'समालभनीयाः'** प्रयोग में नुम् का अभाव देखा जाता है। दूसरे नियम के अनुसार **'यत्'** वा **'ण्यत्'**[2] प्रत्यय में **'आलम्भ्या'** प्रयोग होना चाहिये, परन्तु **'अग्निष्टोम आलभ्यः'** (काशिका १।१।७५ में उद्धृत) प्रयोग में नुम् का अभाव उपलब्ध होता है।

इस व्यत्यास से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूलतः **लभ** और **लम्भ** धातु पृथक्-पृथक् हैं। पाणिनीय व्याकरण से प्राचीन **काशकृत्स्न धातुपाठ** में **डुलभष् प्राप्तौ** (१।५६४), और **लभि धारणे** (१।३६२) दोनों स्वतन्त्र धातुएं पढ़ी

---

१. महाभाष्य में लोप आगम आदेश के द्वारा अनेक स्थानों में **प्रकृत्यन्तर-विधान का निर्देश** मिलता है। यथा महाभाष्य १।१।४; ३।१।३४; ३।१।७८; ३।२।१३५; ४।१।३५; ४।१।६७; ४।२।२; ४।३।२२; ५।२।२६; ६।१।६०; ६।३।३५; ६।४।२४; ७।३।८७।।

२. वैदिक ग्रन्थों में **'आलम्भ्यां'** अन्तस्वरित है। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर (द्र०—अष्टा० ६।२।१३६) से ण्यत् प्रत्यय का स्वर होता है। नुम् होने से पूर्व 'लभ' अदुपध होने से **पोरदुपधात्** (अष्टा० ३।१।९८) से यत् प्रत्यय होना चाहिये। यत्प्रत्यय में स्वर होगा **आलभ्यां**। अतः ण्यत् प्रत्यय करने के लिये काशिकाकार ने क्लिष्ट कल्पना करके प्रत्ययोत्पत्ति से पूर्व नुम् करके अदुपधत्व का व्याघात मानकर **ऋहलोर्ण्यत्** (अष्टा० ३।१।१२४) से ण्यत् की कल्पना की है। **आलभ्यः** यत्प्रत्ययान्त है। 'लम्भ' को स्वतन्त्र धातु मानने पर क्लिष्ट कल्पना की आवश्यकता ही नहीं रहती। लभि=लम्भ धातु में अदुपधत्व न होने से ण्यत् ही स्वतः प्राप्त होता है।

हैं[1]। और इनके रूप भी क्रमशः **लभते लभनम्**, तथा **लम्भति लम्भनम्** पृथक्-पृथक् दर्शाये हैं।

लभ और लम्भ के भिन्न अर्थ

यतः **'लभ'** और **'लम्भ'** दोनों स्वतन्त्र पृथक्-पृथक् धातुएं हैं, अतः इनके अर्थ में भी कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होना चाहिये। इस अन्तर की पुष्टि **'चरक'** के पूर्वोद्धृत (पृष्ठ १८३ में) **'आदिकाले यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म'** वाक्य से भी होती है। यदि दोनों का एक ही अर्थ होता,तो दो क्रियाओं का पृथक् पृथक् निर्देश न होता। काशकृत्स्न धातु-पाठ में **लभ** और **लभि=लम्भ** के पृथक्-पृथक् अर्थ हैं,यह हम उपर दर्शा चुके हैं।

लभ के अर्थ—**१. प्राप्ति अर्थ—(क)** 'लभ' धातु का **अर्थ** पाणिनीय तथा काशकृत्स्नीय दोनों धातुपाठों में **'प्राप्ति'** लिखा है—**'डुलभष् प्राप्तौ'**।

(ख) काशिका ७।१।६५ में उद्धृत **'अग्निष्टोम आलभ्यः'** वाक्य में भी **'आलभ'** का अर्थ **प्राप्त करना** ही है।

२. स्पर्श अर्थ—(क) उपनयन तथा विवाह-प्रकरण में श्रूयमाण—**'दक्षिणांसमधि हृदयमालभते'** (पारस्कर गृह्य) वाक्य में **'आलभते'** का स्पष्ट अर्थ **'स्पर्श'** ही है।

(ख) **सुश्रुत** कल्पस्थान अ० १, श्लोक १६ के—**'आलभेतासकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान्'** में **'आलभेत'** का **अर्थ स्पर्श** ही है।

३. नियोजन अर्थ—महीधर ने यजुर्वेद २४।२० के भाष्य में **आलभ** का **अर्थ** नियोजन किया है—**'आलभते नियुनक्ति'**।

लम्भ के अर्थ— **१. हिंसा अर्थ**—चरक के पूर्व (पृष्ठ १८३ में) निर्दिष्ट वाक्य **'नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म'** में **'आलम्भ'** का अर्थ हिंसा है, यह पूर्वनिर्दिष्ट **'समालभनीयाः'** पद के प्रतिद्वन्द्वीरूप में प्रयुक्त होने से स्पष्ट है।

२. स्पर्श अर्थ—कहीं-कहीं 'आलम्भ' का प्रयोग स्पर्श अर्थ में भी देखा जाता है। यथा—

---

१. द्र०—हमारे द्वारा संस्कृत-रूपान्तरित 'काशकृत्स्न-धातुव्याख्यानम्' पृष्ठ ६४, ५८॥

कुमारं जातं···पुरा अन्यैरालम्भात् ॥ आश्व० गृह्य ॥
स्त्रीप्रेक्षणालम्भने मैथुनशङ्कायाम् ॥ गौतम धर्म० २।२२॥

इन उदाहरणों में **'आलम्भ'** का अर्थ **'स्पर्श'** के अतिरिक्त और कुछ सम्भव ही नहीं है।

३. **प्राप्ति अर्थ**—निरुक्त १।१४—**'नामधेयप्रतिलम्भमेकेषाम्'**; तथा कठोपनिषद् १।१२५ **'नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः'** में लम्भ का प्राप्ति अर्थ देखा जाता है।

४. **धारण अर्थ**—काशकृत्स्न-धातुव्याख्यान १।३६२ में लभि='लम्भ' का धारण अर्थ कहा है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

इन प्रयोगों से इतना स्पष्ट है कि **आलभ और आलम्भ दोनों स्पर्श अर्थ में समानार्थक हैं**। परन्तु **आलभ का कहीं भी हिंसा अर्थ नहीं है**। **'आलम्भ्या गौः'** इत्यादि **प्रयोगों** में 'आलम्भ्या' का अर्थ स्पर्श हो सकता है। अथवा यह भी सम्भव है कि **इन** वचनों में **'आलम्भ्या'** का अर्थ हिंसन ही हो, और यह वचन उत्तरकालीन हो। जो कुछ भी हो, इस प्रकरण से यह तो पूर्णतया स्पष्ट हो गया कि **वेद तथा ब्राह्मणों में जहां-कहीं भी (=आङ् पूर्वक लभ धातु) का प्रयोग है, वहां सर्वत्र इसका मूल प्राचीन अर्थ 'प्राप्ति' अथवा 'स्पर्श' ही है**। उत्तरकालीन व्याख्यानकारों ने अथवा लेखकों ने **आलभ** और **आलम्भ** को समानार्थक समझकर **'आलभते'** वा **'आलभेत'** का जो हिंसन अर्थ किया है, वह सर्वथा अप्रामाणिक है।

'घ्नन्ति' शब्द का प्रयोग और उसका अर्थ

ब्राह्मण-ग्रन्थों में **घ्नन्ति वा एतत् पशून्** का प्रयोग देखकर इस का अर्थ 'मारते हैं' करते हैं। हन् धातु के दो अर्थ हैं—हिंसा और गति। हन् धातु से निष्पन्न **हिंसा** आदि में गति अर्थ देखा जाता है। 'हन्' के 'हिंसा'=मारना=प्राण-वियोग करना अर्थ के प्रति ही आग्रह करने वाले निम्न वाक्य पर ध्यान देवें—
घ्नन्ति वा एतत् सोमं यदभिषुण्वन्ति, यज्ञं वा एतद् घ्नन्ति (मै० सं० ४।८।३)।
यहां 'घ्नन्ति' का अर्थ मारना=प्राणवियोग करना कथञ्चिदपि सम्भव नहीं है। गति के तीन अर्थ हैं—**ज्ञानं गमनं प्राप्तिः**। 'घ्नन्ति यज्ञम्' में प्राप्त्यर्थ है। जो सोम को कूटता है=रस निकालता है वह यज्ञ को प्राप्त होता है।

इन **लभ और लम्भ** को दो स्वतन्त्र धातु मानने पर यह विशेषरूप से स्पष्ट हो जाता है कि वेद शाखा और ब्राह्मण आदि में पशुयाग के प्रकरण में सर्वत्र **आलभते आलभेत** का ही प्रयोग क्यों उपलब्ध होता है, हिंसार्थक **लम्भ** का

प्रयोग क्यों नहीं मिलता? अतः हम प्रकृत लेख में लभ और लम्भ धातुओं को स्वतन्त्र मानकर सर्वत्र वैदिक वाङ्मयोक्त लभ धातु के **आलभन** शब्द का ही प्रयोग करेंगे।

अब हम पशुयज्ञों के सम्बन्ध में विचार करते हैं। प्रमुख पशुयज्ञ हैं— **पुरुषमेध अश्वमेध गोमेध अविमेध अजमेध**। इन में मेधृ धातु का अन्त में प्रयोग देखा जाता है। मेधृ धातु के दो अर्थ हैं—हिंसन और संगमन—**मिदृ मेदृ हिंसायाम्, मेधृ संगमे च** (पा० धातु० १।६०६,६११)। इन शब्दों में 'मेध' का अर्थ संगमन है, वेद में इन की हिंसा का निषेध क्यों किया है, यह हम अनुपद ही लिखेंगे।

पुरुषमेध आदि पर विचार करने से पूर्व हम साक्षात् मन्त्रोक्त **अग्नि वायु** और **सूर्य पशुओं** से क्रियमाण यज्ञ पर कुछ लिखना उचित समझते हैं—

अग्नि-पशु का आलभन और उससे यज्ञ

यजु० २३।१७ में कहा है—**अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त**। अर्थात् अग्नि पशु था, उससे देवों ने यजन किया। इसी मन्त्र के भाव को स्पष्ट करनेवाला एक ब्राह्मणवचन यास्क मुनि ने निरुक्त १२।२४ में उद्धृत किया है—**'अग्निः पशुरासीत्, तमलभन्त, तेनायजन्त इति च ब्राह्मणम्'**।

इस अग्निरूप पशु का देवों ने आलभन करके कैसे यज्ञ किया, इस का वर्णन ऋग्वेद (१०।१२१।७-८) में इस प्रकार मिलता है—

आपो ह यद् बृहती विश्वमायन् दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

ऋ० १०।१२१।७,८॥

इन मन्त्रों का अभिप्राय यह है कि सर्ग के आरम्भ में जब प्रकृति के विकारभूत **बृहती आपः** (=वृद्धिगुणवाली पञ्चतन्मात्रों) ने **गर्भ** को धारण करते हुए (=महद् अण्ड के रूप में संघटित होते हुए) **अग्नि** को उत्पन्न किया। उसके पश्चात् देवों का एक **असु** (=गतिशील[1]) महद् अण्ड उत्पन्न हुआ।

---

१. असु क्षेपणे (=दिवादिगण-पठित) धातु से औणादिक 'उ' प्रत्यय। यहां क्षेपण से गतिमात्र अभिप्रेत है।

जिन **आपः** (=पञ्चतन्मात्रों) ने अपनी महिमा से **दक्ष** (=अग्नि[1]) को धारण करते हुए और **यज्ञ**[2] (=महदण्ड) को उत्पन्न करते हुए देखा[3]। जो **देवों**[4] **में अधिदेव** (=महादेव) था, उस **क** (=प्रजापति[5]) के लिये हम (=महदण्ड के अन्तःवर्तमान प्राणरूप देवगण=भूतगण) हविप्रदान रूप कर्म से, अर्थात् अपने सहयोग से महदण्ड कार्य को सम्पन्न करते हैं।

आपः से संघटित महद् अण्ड में प्रथम पञ्चतन्मात्रस्थ अग्नितन्मात्र से अग्नि का प्रादुर्भाव हुआ। और उसके साथ अवशिष्ट तन्मात्रों और उन से उत्पन्न भूतों ने सहयोग किया। उस सहयोग से महद् अण्ड के भीतर ग्रहोपग्रहों का निर्माण हुआ। इसी तत्त्व का प्रतिपादन **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः** (यजुः ३१।१६, ऋ० १०।९०।१६) मन्त्र करता है। यह यज्ञनामक महदण्ड **सर्वहुत्** था—**तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः** (यजुः ३१।६, ऋ० १०।९०।८)। इसे ही वेद में **विश्वकर्मा**[6] कहा हैं (द्र०—ऋ० मं० १०, सूक्त ८१)।

महदण्ड में ग्रहोपग्रहों के निर्माणकाल में दैवी शक्तियों ने पूर्वतः विद्यमान अग्नि का पुनः आलभन किया। उसे मुख्यरूप से द्यु अन्तरिक्ष और पृथिवी-स्थानों में स्थापित किया। उसका वर्णन भी ऋग्वेद (१०।८८।१०) में इस प्रकार मिलता है—

---

१. द्र०—उद्धृत मन्त्रों के '**गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्**' और '**दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्**' चरणों में प्रथम में अग्नि को गर्भरूप में धारण करने का उल्लेख है, और दूसरे में उसी गर्भस्थ अग्नि को 'दक्ष' कहा है। **दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च** (धातु० १।४०३); **दक्ष गतिहिंसनयोः** (धातु० १।५२१); **दक्षतेरुत्साहकर्मणः** तथा **दक्षतेः समर्धयतिकर्मणः** (निरुक्त १।७)।

२. 'यज्ञ' पद से यहां 'प्रजापति हिरण्यगर्भ' आदि विविध नामों से स्मृत 'महद् अण्ड' अभिप्रेत है।

३. यहां **पर्यपश्यत्=देखा** का भाव अपने आप को कारण से कार्यरूप में परिणत होने मात्र से है। चेतनवद् उपचार से दर्शन का प्रयोग जानना चाहिये।

४. महद् अण्ड की उत्पत्ति से पूर्व पञ्चतन्मात्ररूप पञ्च महाभूतों के सूक्ष्म तत्त्व उत्पन्न हो चुके थे। द्र०—प्रशस्तपाद-भाष्य, सर्गवर्णन-प्रकरण। '**महदादयो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति वै**।' वायुपुराण ४।७४॥

५. **प्रजाजतिर्वै कः**। ऐ० ब्रा० २।३८; कौ० ब्रा० ५।४॥

६. विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुह्वाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुह्वाञ्चकार।...विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् (ऋ० १०।८१।६)। निरुक्त १०।२६॥

स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभिः रोदसिप्राम् ।
तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः ॥

अर्थात् –भौतिक देवों ने अपने सामर्थ्य से द्युलोक और पृथिवीलोक[1] में पूर्ण (=व्यापक) होनेवाले जिस अग्नि को द्युलोक (=महद् अण्ड) के उपरि भाग में (अग्नि के अन्य तत्वों से सूक्ष्म होने से ऊर्ध्व भाग में) उत्पन्न किया । उस कल्याणकारी अग्नि को तीन भागों में विभक्त किया[2] । वह विश्व-रूप=विविध रूपवाली ओषधियों (=ओष=अग्नि को धारण करनेवाले महद् अण्ड के अवयवरूप ग्रहो-ग्रहों) को पकाता है, समर्थ बनाता है ।

इस अग्नि के प्रादुर्भाव से महद्-अण्डस्थ ग्रहोपग्रह पक गये (निर्मित हो गये), और इससे यह महद् अण्ड सहस्रांशु=सहस्र सूर्य के समान चमकने लगा (=हिरण्यमय हुआ) । यह अग्नितत्त्व सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति में महत्त्वपूर्ण प्रमुख भूमिका निभाता है । सारे देव इसी से अनुप्राणित होते हैं । इसीलिये ऋग्वेद १।१।२ के मन्त्र में कहा हैं—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवाँ एह वक्षति ।

अर्थात्—[अग्नि से] पूर्व उत्पन्न ऋषि=प्राणस्वरूप भौतिक शक्तियां, और नूतन (=पश्चात्) उत्पन्न ऋषि इसी अग्नि की स्तुति करते हैं, उसके अनुकूल आचरण करते हैं । वही सब देवों=भौतिक तत्त्वों को सर्ग के लिये यथास्थान प्राप्त कराता है ।

वायु-पशु का आलभन और उससे यज्ञ

यजुर्वेद २३।१७ के उपरि निर्दिष्ट मन्त्र में सृष्टियज्ञ में **वायु पशु** से

---

१. 'पृथिवी' पद महद्-अण्ड में विकसित होनेवाले स्वयं प्रकाशित न होने वाले ग्रहोपग्रहों का उपलक्षक है । ऋ० १०।१९०।३ के **'सूर्याचन्द्रमसौ धाता दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ।'** मन्त्र के पूर्वार्ध में सूर्य स्वयं प्रकाशक ग्रहों का, और चन्द्र उपग्रहों का उपलक्षक है । उत्तरार्ध का द्यु सूर्य के चारों ओर की बाह्य परिधि का, पृथिवी स्वयं प्रकाशित न होनेवाले ग्रहों का, अन्त-रिक्ष दो ग्रहों के मध्य अवकाश का, और स्वः गतिशील उल्कापिण्डों का उपलक्षक है ।

२. **तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय । पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः ।** निरुक्त ७।२८॥

यजन का भी वर्णन है। इस वायु-पशु का प्रथम आलभन महद् अण्ड में हुआ। सौरमण्डल के अङ्ग-प्रत्यङ्गरूप भागों के निर्माण के लिये इसे यथास्थान स्थापित किया गया। जैसे इस शरीर में गर्भावस्था में एक ही प्राणवायु दशधा विभक्त होकर शरीरावयवों के निर्माण में सहयोग देता है, वैसे ही महदण्डस्थ ग्रहोपग्रहों के निर्माण में एक ही वायुतत्त्व अनेकधा विभक्त होकर सहायक होता है। ऋग्वेद १।२।१ में लिखा है—

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधि हवम् ॥

जगत् के निर्माण में प्रवृत्त भौतिक शक्तियां कहती हैं—हे दर्शत ! जगत् को दर्शनीय बनानेवाले वायो ! तुम आओ। तुम्हारे लिये ये सोम=उत्पादक तत्त्व अलंकृत हैं, तैयार हैं। इनका पान करो, अर्थात् इनको अपने भीतर समेट लो। और हमारे हव=हवनीय=यजनीय आकाङ्क्षा को सुनो, और सुनकर पूर्ण करो।

वायु-पशु का पुनरालभन—जगत् के सर्ग और स्थितिकाल में पशुयज्ञ होते ही रहते हैं, यह पूर्व कह चुके हैं। वायु का सर्गोत्पत्ति के पश्चात् एक बार पुनः आलभन हुआ। हमारी पृथिवी और सूर्य के मध्य जो वायु विद्यमान था, उसके कार्यभेद वा स्थानभेद (सप्त परिवह=सात आकाश) के कारण सात विभाग हुए, और एक-एक विभाग (=परिवह) में स्थित वायु के भी सात-सात विभाग किये गये। ये ४९ विभागों में विभक्त वायुतत्त्व सप्त-सप्त (७×७=४९) मरुतों के नाम से वैदिक-वाङ्मय में प्रसिद्ध हैं।

सूर्य (आदित्य) पशु का आलभन और उससे यज्ञ

यजुर्वेद २३।१७ के उपर्युक्त मन्त्र में **सूर्य पशु** से किये गये याग का भी वर्णन है। सूर्य नाम आदित्य का है। महद् अण्ड के विभक्त होने पर ग्रहोपग्रह जब उससे बाहर आये, तब ये सब लोक पास-पास थे। धीरे-धीरे ये सब एक-दूसरे से दूर हुए। पृथिवी और आदित्य की समीपता का वर्णन मन्त्रों और ब्राह्मणों में बहुत्र मिलता है।[1] कुछ काल के पश्चात् आदित्य अग्नि और प्रबल वात के कारण झटके के साथ पृथिवी से दूर हुआ। परन्तु स्व-स्थान से

---

१. **'जामी सयोनी मिथुना समोकसा'** ऋ० १।१५९।४।। **'द्यावापृथिवी सहास्ताम्'**। तै० सं० ५।२।३।३; तै० ब्रा० १।१।३।२।। **'सह हैवेमावग्रे लोका आसतुः'**। शत० ७।१।२।२३।।

विचलित सूर्य दोले (=झूले) के समान एक स्थान पर स्थिर नहीं हुआ। कई बार पृथिवी के समीप आया और दूर हुआ। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार वह न्यूनातिन्यून दो-तीन बार पृथिवी से दूर होने के पश्चात् अपने स्थान पर स्थिर हुआ।[1] आदित्य की इस **सरण**=दूर होने की क्रिया के कारण ही आदित्य का **सूर्य** नाम हुआ—**'सूर्यः सरतेर्वा'** (निरुक्त १२।१४)।

इस प्रकार जब सूर्य स्वस्थान में टिक गया, उसके पश्चात् सूर्य के जाज्वल्यमान भाग पर, जैसे पिघले हुए लोहे पर कुछ क्षण पश्चात् मैल जम जाता है, वैसे ही मैल जम गया। उससे सूर्य का प्रकाश अवरुद्ध हो गया। इसे तैत्तिरीय संहिता में स्वर्भानु[2] आसुर के द्वारा सूर्य का तम से बींधना कहा है—**'स्वर्भानुरासुरः सूर्यं तमसाऽविध्यत्'** (तै०सं० २।१।२।२)। सूर्य के इस दोष को दैवी शक्तियों ने चार चरणों में दूर किया। इसका वर्णन तैत्तिरीय संहिता के इसी प्रकरण (२।१।२।२-३) में इस प्रकार किया है—

'तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिमैच्छन्। तस्य यत् प्रथमं तमोऽपाघ्नन् सा कृष्णाऽविरभवत्, यद् द्वितीयं सा फल्गुनी, यत् तृतीयं सा बलक्षी, यदध्यस्थाद् अपाकृन्तन् साऽविर्वशा समभवत्'।

ऐसा ही पाठ मैत्रायणी संहिता २।५।२, तथा काठक संहिता १२।१३ में भी मिलता है।

अर्थात्—देवों ने स्वर्भानु असुर के द्वारा सूर्य पर उत्पन्न किये गये तम के आवरणरूपदोष की प्रायश्चित्ति (=दोषनिवृत्ति) चाही। उन्होंने जो तम को प्रथम बार हटाया यह कृष्णवर्ण अवि[3] हुई, अर्थात् अत्यन्त कृष्णवर्ण आवरण

---

१. **आदित्या वा अस्माल्लोकादमुं लोकमायन्, तेऽमुष्मिंल्लोके व्यतृष्यन्त, इमं लोकं पुनरेत्य ……सुवर्गलोकमायत्।** तै० सं० १।५।४॥ **आदित्यो वा अस्माल्लोकादमुं लोकमैत्, सोऽमुं लोकं गत्वा पुनरिमं लोकमध्यायत्…… सोऽग्निमस्तौत्। स एनं स्तुतः सुवर्गं लोकमगमयत।** तै० सं० १।५।९॥ अग्नि की स्तुति से सूर्य के स्वर्गमन वा दूर गमन के लिये देखिये—तै० सं० २।५।८; ५।१।५॥ शत० ब्रा० १४।१।१।२२॥

२. **स्वः सूर्यस्य भां प्रकाशं नुदति अपसारयति इति स्वर्भानुः। असुर एवासुरः प्रज्ञादित्वाद्** (अ० ५।४।३८) **अण्।** द्र०—सायणभाष्य तै० सं० २।१।२॥

३. '**समभवत्'** क्रिया यहां प्राकट्य अर्थ में प्रयुक्त है।

हुए। जो दूसरी बार तम को हटाया, वह लालवर्णा[1] (=गहरे लाल वर्ण-वाली) अवि हुई। जो तीसरी बार तम को हटाया, वह श्वेत वर्ण (=भूरे रङ्गवाली) अवि हुई। और जो अस्थि के ऊपर[2], अर्थात् सूर्य के अन्तःभाग से तम को काटा= हटाया, वह वशा अवि हुई।

प्रकृत में स्वर्भानु द्वारा सूर्य पर तम के आरोप और उसके अपाकरण, और अपाकरण से कृष्णवर्णा, लोहिनी, भूरी और वशाधर्मा अवियों के उत्पन्न होने का उल्लेख किया है। इतना अंश यहां आलङ्कारिक है, शेष भाग पूर्ण-तया सर्गावस्था के सूर्य पर बार-बार आये आवरण और उसके अपाकरण का वास्तविक निर्देशक है। सूर्य में अभी भी कृष्णवर्ण धब्बे विद्यमान हैं। साम्प्रतिक कृष्ण धब्बे भी नियत समय पर प्राकृतिक घटनाचक्रानुसार जब दूर होते हैं तब सूर्य में अत्यधिक ऊंची-ऊंची लपटें उत्पन्न होती हैं। उनसे सारा रेडियोक्रम नष्ट सा हो जाता है। यह आधुनिक वैज्ञानिकों का कथन है।

चार बार क्रमशः जो सूर्य का आवरण हटा, उसके हटने पर अवि (=विशिष्ट अवस्थापन्न) पृथिवी की जो स्थिति दृश्यरूप में आई, उसी का वर्णन उक्त वचन में आलङ्कारिक रूप में किया है। **'अवि'** पृथिवीमात्र का वाचक नहीं है, अपितु 'अवि' शब्द से अवि (=भेड़) के समान पिलपिली= नरम स्थितिवाली पृथिवी का नाम है। यह आगे**'अविमेध'**में स्पष्ट करेंगे। यहां आलङ्कारिक भाषा में सूर्य के चार बार क्रमशः उतारे गये आवरण से चार रंग वा प्रकार की अवियों (=भेड़ों) वा पृथिवी की विशिष्ट स्थितियों का परिज्ञान कराया है।

प्रथम बार सूर्य का जो घना आवरक पदार्थ हटा, वह अत्यन्त कृष्णवर्ण था। जब सूर्य पर घना आवरण था, तब प्रकाश का सर्वथा अभाव होने से पृथिवी आदि लोक दृश्य अवस्था में नहीं थे, अन्धकार में डूबे हुए थे। जब प्रथम बार घना आवरण हटा, तब पृथिवी आदि पर अति क्षीण प्रकाश पहुंचने से वे लोक

---

१. भट्टभास्कर ने **'फल्गुनी'** का अर्थ **'नील-वर्णा'** किया है। सायण ने **'लालवर्णा'** किया है। मै० सं० २।५।२ में **'लोहिनी'** पाठ होने से सायण का अर्थ उचित प्रतीत होता है।

२. मै० सं० २।५।२ में **'अध्यस्तात्'** पाठ है। क्या उसका अर्थ 'निम्न भाग' से है?

कृष्णवर्ण से दिखाई दिये[1]। जब दूसरी बार आवरण हटा, तब सूर्य का प्रकाश कुछ अधिक स्फुट हुआ। लालवर्ण सा प्रकाश निकला, उससे पृथिवी आदि लोक लालवर्ण से दिखाई दिये। जब तृतीय बार आवरण हटा, प्रकाश की मात्रा अधिक बढ़ी, पृथिवी आदि मटैले से श्वेत वर्ण वाले दिखाई दिये। जब चौथी बार आवरण हटा, तब पृथिवी आदि लोक अपने वास्तविक स्वरूप में दिखाई दिये। वह पृथिवी का स्वरूप था, **'वशा अवि'** रूप।

यद्यपि इस काल में प्राणीजगत् था ही नहीं। अतः पृथिवी की विभिन्न स्थितियों का द्रष्टा भी नहीं था। इसलिये पृथिवी आदि लोकों की उपलब्धि-विशेषों की जो स्थिति कही है, उसे तादृश उपलब्धिशक्त्यवच्छिन्न पदार्थस्वरूप का वर्णन जानना चाहिये।

स्वर्भानु असुर के द्वारा सूर्य के तम से आवृत होने तथा तम को दूर करने का वर्णन ऋग्वेद ५।४० के ५-९ चार मन्त्रों में मिलता है। वहां छठे मन्त्र में इन्द्र के द्वारा तीन बार[2] तम को हटाने का वर्णन है, और चौथी बार अत्रि द्वारा। ८वें मन्त्र में अत्रि के द्वारा सूर्य में चक्षु (=प्रकाशक तेज) के आधान और स्वर्भानु की माया को दूर करने का उल्लेख हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरपमाया अघुक्षत्।

जैमिनि ब्राह्मण १।८० में लिखा है—'सूर्य को स्वर्भानु असुर ने तम से आच्छादित कर दिया था। देवों ने और ऋषियों ने उसकी चिकित्सा की। देवों ने अत्रि ऋषि[3] से कहा कि तुम इस तम को दूर करो'।[4]

ऋग्वेद और जैमिनि ब्राह्मण में कथित अत्रि क्या भौम=भूमि का पुत्र

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ (१९२) की टिप्पणी ३।

२. मन्त्र में साक्षात् 'तीन बार' का उल्लेख नहीं है, परन्तु **'तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः'** (ऋ० ५।४०।६) में **'तुरीय'** पद से पूर्व तीन बार तम हटाने की प्रतीति स्पष्टरूप से होती है।

३. ऋष गतौ। तम का अपनोदन=दूरीकरण क्रिया के कारण दैवी तत्त्व विशेष को ही यहां ऋषि कहा है।

४. 'स्वर्भानुरासुर आदित्यं तमसाऽविध्यत्। तद्देवाश्चर्षयश्चाभिषज्यन्। तेऽत्रिमब्रुवन्नृषे त्वमिदमपजहीति'। जै० ब्रा० १।८०॥

अग्नि अभिप्रेत है ? क्या सूर्य के तम के निवारण में भौम अग्नि का भी सहयोग था ? यह विवेचनीय है।

तैत्तिरीय संहिता २।१।२, ४; २।१।८; २।२।१० में भी लिखा है— **'आदित्यो न व्यरोचत'** (=आदित्य प्रकाशित नहीं हो रहा था)। ऐसा निर्देश करके उसे प्रकाशित करने के कई निर्देश मिलते हैं। सायण ने लिखा है—'आदित्य के विषय में उक्त विविध प्रायश्चित्तियां कल्प वा युग के भेद से व्यवस्थित जाननी चाहियें'। अर्थात्—सर्गावस्था में सूर्य पर कई बार तम का आक्रमण हुआ, और उसका निराकरण हुआ[1]। स्वर्भानु द्वारा तम का आक्रमण वर्तमान समय में भी होता है, और उसका यह आक्रमण नियत समय पर होता रहता है, यह पूर्व संकेत कर चुके हैं। सूर्य ग्रहण के समय चन्द्रमा के द्वारा सूर्य-प्रकाश के अवरोध को भी आलङ्कारिक भाषा में स्वर्भानु असुर के द्वारा सूर्य को निगलना कहा जाता है।

'वशा अवि' का आलभन

यद्यपि प्रस्तूयमाण 'वशा अवि का आलभन' विषय पर विचार पुरुषमेधादि पांच पशु यागों के अन्तर्गत करना चाहिये, तथापि जिस **'वशा अवि'** के आलभन का हम वर्णन कर रहे हैं, उसका वेद-प्रतिपादित अग्नि वायु और सूर्य पशु के समान आधिदैविक स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट होने से क्रमभङ्ग करके हम यहां **'वशा अवि'** के आलभन का वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं—

अवि नाम लोक में भेड़ का है। **अविमेध** का भी वर्णन वैदिक ग्रन्थों में मिलता है। **'मेध'** यज्ञ का नाम है। 'मेध' शब्द **'मेधृ सङ्गमे हिंसायां च'** धातु से बनता है। इसके **सङ्गम**=मिलना और **हिंसन** दोनों अर्थ हैं। यही मेध शब्द **गोमेध अजमेध अश्वमेध पुरुषमेध** आदि यज्ञविशेषों के नामों में भी प्रयुक्त हुआ है। वैदिक यज्ञों में मेध शब्द के यथायोग्य (=जहां जो सम्भव है) अर्थ गृहीत होते हैं।

स्वर्भानु के द्वारा आदित्य को तम से आवृत करने और उस तम के निराकरण के सम्बन्ध में पूर्व (पृष्ठ १६२) तैत्तिरीय संहिता का जो वचन उद्धृत किया था, उसमें अस्थि के ऊपर के तम को हटाने से **वशा अवि** का प्राकट्य कहा है। उसके आगे संहिता का पाठ इस प्रकार है—

---

१. 'आदित्यविषये बहवः प्रायश्चित्तयः कल्पयुगादिभेदेन व्यवस्थापनीयाः'। तै० सं० भाष्य २।१।८॥

साविर्वशा समभवत्। ते देवा अब्रुवन् देवपशुर्वा अयं समभूत्। कस्मा इममालप्स्यामह इति। अथ वै तर्ह्यल्पा पृथिव्यासीत्। अजाता ओषधयः। तामविं वशामादित्येभ्यः कामायाऽलभन्त, ततो वा अप्रथत पृथिवी, अजायन्त ओषधयः। तै० सं० २।१।२।३।।

अर्थात्—वशा अवि प्रकट हुई। वे देव बोले—यह देवपशु प्राप्त हुआ है। इसे किसके लिये आलभन करें। उस समय यह पृथिवी अल्प थी, ओषधियों से रहित थी। उस वशा (=वन्ध्या) अवि को आदित्यों की कामना के लिये आलभन किया। उससे पृथिवी फैली, उस पर ओषधियां उत्पन्न हुईं।

मैत्रायणी संहिता २।५।२ में इस प्रकार कहा है—

अथवा इयं तर्ह्यृक्षाऽऽसीद् अलोमिका। ते अब्रुवन् तस्मै कामायालभामहै, यथाऽस्यामोषधयश्च वनस्पतयश्चाजायन्त।।

इस पाठ में ऋक्षा पृथिवी को अलोमिका कहा है। और उस पर वनस्पतियों को ओषधियों के रूप में लोम उत्पन्न करने की कामना की है।

यद्यपि ये दोनों पाठ समान से प्रतीत होते हैं, पर सूक्ष्मता से देखने पर इन दोनों में अन्तर है। ये अन्तर **वशा** और **ऋक्षा** तथा **ओषधि** और **वनस्पति** शब्दों से प्रकट होता है। तैत्तिरीय संहिता में वशा कहा है, जिसका अभिप्राय है कि उस समय पृथिवी पर घास तृण कुछ भी पैदा नहीं हुए थे। तदनन्तर जब घास तृण उत्पन्न हो गये, तो वह लोमिका=रोमोंवाली हो गई। ओषधि का अर्थ है—**'ओषध्यः फलपाकान्ताः'** अर्थात् जो फल पक जाने पर स्वयं नष्ट हो जावें। अर्थात् घास तृण आदि। इनसे जब पृथिवी भर गई, तब वह **ऋक्षा** हुई। लोक में **ऋक्ष** नाम भालु का है। उसके समस्त अङ्गों पर लम्बे-लम्बे रोम होते हैं। इस समय अभी **वनस्पति**=पुष्प-फलवाले वृक्ष उत्पन्न नहीं हुए थे। अतः ऋक्षा पृथिवी पर वनस्पतियां=बड़े-बड़े वृक्ष उत्पन्न हुए। पृथिवी की इन दो दशाओं में से तैत्तिरीय संहिता में प्रथम दशा का वर्णन किया है, और मैत्रायणी संहिता के पाठ में द्वितीय दशा का। जैमिनि ब्राह्मण २।५४ में दोनों अवस्थाओं को एक बनाकर भी कहा है—**'औषधिवनस्पतयो वा लोमानि'**।

अजावशा—तै० सं० ३।४।३।२ में अजा वशा के याग का वर्णन उपलब्ध होता है—**सा वा एषा सर्वदेवत्या यदजा वशा वायव्यामालभेत।**

वशा अवि और वशा अजा में भेद—वशा अवि पृथिवी की वह स्थिति

है जब पृथिवी पिलपिली थी, कठोर नहीं हुई थी —**अविरासीत् पिलिप्पिला** (यजुः २०।१२)। उस समय उस पर ओषधि वनस्पतियों के न होने से वह वशा=वन्ध्या थी। अजा पृथिवी की उस स्थिति का बोधन है, जब दृंहित (दृढ) हो गई थी और स्वकक्षा में घूमने लग गई थी, परन्तु अभी उस पर ओषधि वनस्पतियों का प्रादुर्भाव न होने से वह वशा थी।

अनेक बार अवि का आलभन

उक्त दोनों पाठों में **वशा अवि** तथा **ऋक्षा अवि** का दो बार आलभन कहा है। इन दोनों अवस्थाओं में पृथिवी **अविरूप** थी, अर्थात् अवि के समान **पिलपिली** =नरम थी। इसे ही यजुर्वेद (२०।१२) में **'अविरासीत् पिलिप्पिला'** शब्दों से कहा है। ऋक्षा अवि को यजुर्वेद (१३।५०) में **ऊर्णायु** कहा है क्योंकि उस पर ऊन के समान ओषधिरूप लोम उत्पन्न हो गये थे। मैत्रायणी संहिता २।५।२ के उपर्युक्त वचन में वनस्पतियों को भी लोम कहा है। यहां लोम से अभिप्राय केशों से है, जो रोमों की अपेक्षा लम्बे होते हैं।

इस अविरूप पृथिवी का अनेक बार आलभन हुआ। यजुः १३।१७ में **भू भूमि अदिति विश्वधा पृथिवी** शब्दों के द्वारा पृथिवी की भिन्न-भिन्न पांच अवस्थाएं कही हैं। **'पृथिवी'** अवस्था के अनन्तर उसमें **दृंहण** होता है—**'पृथिवीं दृंह'** (यजु० १३।१८)। यह दृंहण पृथिवी में शर्करा=रोड़ों की उत्पत्ति से होता है। वैदिक ग्रन्थों में कहा है—

'शिथिरा वा इयमग्र आसीत् तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत्'।
मै० सं० १।६।३॥

'आर्द्रेव हीयमासीत् तां देवाश्शर्कराभिरदृंहन् तेजोऽग्ना अदधुः'।
काठक सं० ८।२॥

सलिलरूपा भू का सुवर्णोत्पत्ति पर्यन्त नौ बार आलभन हुआ। उस की प्रक्रिया भी वैदिक वाङ्मय में वेदिनिर्माण के प्रसङ्ग में बताई है। इसके लिये देखिये पूर्व पृष्ठ १३९-१४३।

प्रसिद्ध पशुयाग

वैदिक-वाङ्मय में **पुरुषमेध अश्वमेध गोमेध अविमेध और अजमेध** नाम के पांच प्रशिद्ध पशुयाग हैं। अब इन पशुयागों के सम्बन्ध में विचार किया जाता है कि ये पशुयाग क्या हैं? पुरुष आदि शब्दों से प्राणियों का ग्रहण

अभीष्ट है अथवा पुरुष आदि प्राणी भी आधिदैविक सृष्टियज्ञ के किन्हीं आधिदैविक तत्त्वों के प्रतिनिधि हैं ? तथा क्या पुरुष आदि की द्रव्यमय यज्ञों में हिंसा होती है ?

इन विषयों पर क्रमशः विचार करने से पूर्व हम पुरुष आदि प्राणियों के सम्बन्ध में वेद में क्या लिखा है, इसका संक्षेप से निर्देश करा देना उचित समझते हैं—

अथर्ववेद १।१६।४ में पुरुष अश्व और गौ के सम्बन्ध में लिखा है—

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि वा पूरुषम् ।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥

अर्थात्—कोई हमारी गाय को मारता है, यदि अश्व को, यदि पुरुष को, तो हम उसे सीसे (=सीसे की गोली) से बींध दें । जिससे वह वीरहा हमारे मध्य न रहे ।

यजुर्वेद अ० १३ में पुरुष अश्व गौ और अवि (=भेड़) पशुओं की हिंसा न करने का साक्षात् उल्लेख है । यह भी ध्यान रखने योग्य है कि यह अध्याय याज्ञिकों के मत में अग्निचयन में विनियुक्त है । पुरुषादि की हिंसा के प्रतिषेधक मन्त्र इस प्रकार हैं—

इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुं सहस्राक्षो मेधाय चीयमानः । यजुः १३।४७॥

अर्थात्—इस सहस्राक्ष द्विपाद् (=पुरुषरूप) पशु की हिंसा मत कर ।

अश्वं जज्ञानं सरिरस्य मध्ये ।.........अग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ।
यजुः १३।४२॥

अर्थात्—सलिल के मध्य उत्पन्न अश्व की हे अग्ने ! हिंसा मत कर ।

इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु । यजुः १३।४८॥

अर्थात्—बलवानों में बलवान् हिनहिनानेवाले इस एक शफ (=एक खुरवाले) पशु को मत मार ।

गां मा हिंसीरदितिं विराजम् । यजुः १३।४३॥

अर्थात्—अदिति=अखण्डनीया अथवा अहिंस्या, विराट्=पय आदि विविध पदार्थों के देने से प्रकाशमान गौ की हिंसा मत कर ।

इमं साहस्रं शतधारमुत्सं......। घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ।। यजुः १३।४९॥

अर्थात्—इस सहस्रधनार्ह=अत्यन्त मूल्यवन् सैकड़ों धाराओंवाले कूप के समान, मानव के लिये दूध देनेवाली अदिति=अहिंसनीया गौ पशु को मत मार।

अवि जज्ञानं······अग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ।। १३।४४।।

अर्थात्—उत्पन्न हुई अवि भेड़ की हे अग्ने ! हिंसा मत कर।

इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम् ।

त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ।।यजुः १३।५०।

अर्थात्—इस ऊर्णायु=अवि को जो वरुण की नाभि है, द्विपाद् और चतुष्पाद् पशुओं की [ऊन को देकर] त्वचा के समान शीत से रक्षक है, और त्वष्टा=उत्पन्न करनेवाले की प्रजाओं में जो प्रथम उत्पन्न हुई है। उसकी हे अग्ने ! हिंसा मत कर।

इन मन्त्रों के पाठमात्र से ही यह व्यक्त हो जाता है कि वेद में पुरुष अश्व गो और अवि की हिंसा वर्जित की है।

अब हम उक्त पुरुषमेध आदि यागों पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करेंगे।

पुरुषमेध का पुरुष और उसका आलभन

शुक्ल यजुर्वेद का ३० वां और ३१ वां अध्याय पुरुषमेध में विनियुक्त है। ३० वें अध्याय के आरम्भ में चार सविता देवतावाले मन्त्र हैं। उनमें से प्रथम ३ मन्त्रों से ३ आहुतियों का विधान है। इसके पश्चात् ५वीं कण्डिका से २२वीं कण्डिका तक विभिन्न प्रकार के कार्य करनेवाले और विभिन्न आकार-प्रकार के पुरुषों का वर्णन है। कं० ५ से २१ तक ब्राह्मण राजन्य आदि पुरुष विशेषों का द्वितीया विभक्ति से तथा देवता का **ब्रह्मणे क्षत्राय** आदि का चतुर्थ्यन्त विभक्ति से निर्देश मिलता है। **आलभते** क्रिया का २२वीं कण्डिका में निर्देश है। उसका प्रत्येक वाक्य के साथ सम्बन्ध[1] होकर **ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते, क्षत्राय राजन्यमालभते** आदि वाक्य बनता है। याज्ञिकों के

---

१. तै०ब्रा० ३।४।१-१९ तक यह प्रकरण पठित है। उसमें **आलभते** क्रिया प्रथम वाक्य में ही पठित है—**ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते...**। उसके अनुसार उत्तर वाक्यों में सर्वत्र **आलभते** का अनुषङ्ग होता है।

मतानुसार अर्थ होता है—'ब्रह्म देवता के लिये ब्राह्मण का आलभन करे'[1], 'क्षत्र देवता के लिये राजन्य का आलभन करे'[1]। श्रौतसूत्रों में इन ब्राह्मण आदि १८४ पुरुष पशुओं को यूप में बांधने का निर्देश मिलता है।

यूप में नियुक्त १८४ पुरुष पशुओं की ब्रह्मा **सहस्रशीर्षा अनुवाक** (यजुः अ० ३१।१-१६) से स्तुति करके अश्वमेध में जैसे कपिञ्जल आदि आरण्य पशु-पक्षियों का उत्सर्जन कहा है (कात्या० श्रौत २०।६।६) वैसे ब्राह्मणादिकों को छोड़ दिया जाता है—

नियुक्तान् ब्रह्माभिष्टौति होतृवदनुवाकेन सहस्रशीर्षेति।
कपिञ्जलादिवद् उत्सृजन्ति ब्राह्मणादीन्[2]॥

कात्या० श्रौत २१।१।११-१२॥

ब्राह्मणादि पुरुषों के उत्सर्ग के पश्चात् जिस पुरुष का जो देवता था, उसके लिये सकृद् गृहीत आज्य से **ब्रह्मणे स्वाहा, क्षत्राय स्वाहा** मन्त्रों से आहुति दी जाती है। इन आज्याहुतियों से ही देवता तृप्त हो जाते हैं।[3] ये आहुतियां ११ अनुवन्ध्या (=बन्ध्या) गौवों से यजन[4] करके स्विष्टकृत् आहुति से पूर्व दी जाती हैं (द्र०—कात्या० श्रौत २१।१।१६)।

पुरुषमेध के ३१ वें अध्याय में निर्दिष्ट **विराट् पुरुष** अधिदैवत (= सृष्टियज्ञ) में महद् अण्ड है, और अध्यात्म में परम पुरुष (=परमात्मा) है।

पुरुषमेध के सम्बन्ध में यहां कुछ विचारणीय बातें उपस्थित करते हैं—

पुरुषमेध का प्रयोजन—कात्यायन श्रौतसूत्र २१।१।१ में लिखा है कि 'पुरुषमेध सब भूतों का अतिक्रमण करके सब से ऊपर स्थित होने की कामना से किया जाता है'— **पुरुषमेधस्त्रयोविंशतिदीक्षोऽतिष्ठा कामस्य**[5]।

---

१. **चतुर्थ्यन्ता देवताः, द्वितीयान्ताः पशवः।** द्र०—भट्टभास्कर-भाष्य, तै० ब्रा० ३।४।१ के आरम्भ में।

२. द्र०—शत० ब्रा० १३।६।२।१३॥

३. तान् पर्यग्निकृतान् एवोदसृजत्, तद्देवत्या आहुतिरजुहोत्, ताभिस्ता देवता अप्रीणात्। ता एनं प्रीता अतृणन् सर्वैः कामैः। शत० ब्रा० १३।६।२।१३॥

४. द्र०—शत० ब्रा० १३।६।२।१६॥

५. द्र०—शत० ब्रा० १३।६।१।१॥

पुरुषमेध के अनन्तर अरण्यव्रजन—पुरुषमेध के अनन्तर कात्यायन श्रौतसूत्र (२१।१।१७-१८) में दो पक्ष कहे हैं—आत्मा में अग्नियों का समारोपण और सूर्य का उपस्थान करके अरण्य में चला जाये=संन्याल ले लेवे; दूसरा घर में निवास करे।[1] इस में संन्यासपक्ष प्रधान है।[2]

यहां यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि पुरुषमेध के आरम्भ में भी सूर्य-देवताक होम है, और अन्त में भी सूर्योपस्थान का विधान है (द्र०—कात्या० श्रौत २१।१।६, १७)।

पुरुषमेध में विनियुक्त ३०-३१ अध्यायों का ऋषि-देवता—यजुर्वेद अ० ३०-३१ का **नारायण ऋषि है**। अ० ३० के आद्य १-४ मन्त्रों का देवता **सविता** है। उव्वट के अनुसार अ० ३१ का **नारायण**[3] **ऋषि**, पुरुष देवता, १-२१ **अनुष्टुप्** छन्द, २२ **त्रिष्टुप्** छन्द और **मोक्ष में विनियोग** है—**पुरुषसूक्तस्य नारायण ऋषिः पुरुषो देवताऽनुष्टुप् छन्दः अन्त्या त्रिष्टुप् मोक्षे विनियोगः।** इसके आगे उव्वट ने लिखा हैं कि इस अध्याय का भाष्य शौनक ऋषि ने किया था, और उसने यह जनक के लिये मोक्षार्थ कहा था—**अस्य भाष्यं शौनको नामर्षिरकरोत् ।...सर्वमेतज्जनकाय मोक्षार्थं कथयामास**[4]।

पुरुषमेध का निर्वचन—शतपथ १३।६।२।१ में पुरुषमेध का निर्वचन इस प्रकार दर्शाया है—

'इमे वै लोकाः पूः, अयमेव पुरुषो योऽयं पवते। सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात् पुरुषः। यदेषु लोकेष्वन्नं तदस्यान्नं मेधः। तद्यदस्यैतदन्नं मेधस्तस्मात् पुरुषमेधः। अथो यदस्मिन् मेध्यान् पुरुषा नालभते तस्मादेव पुरुषमेधः।'

अर्थात्—आधिदैवत पक्ष में—ये लोक ही पूः (=शरीर) हैं। यही पुरुष है जो यह पवित्र करता है (=आदित्य)। वह इस पुर में सोता है, इस से पुरुष है। जो इन लोको में अन्न (=अदन योग्य=भक्षण योग्य रस) है, वह उसका अन्न (=अदनीय=भक्षणयोग्य) मेध (=सार) है। जो इसका

---

१. द्र०—शत० ब्रा० १३।६।२।२०॥

२. तत्पुरुषमेधानन्तरं संन्यास एव। महीधर-भाष्य यजुः ३०।२२॥

३. पुरुषो ह नारायणोऽकामयत......स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्। शत० ब्रा० १३।६।१।१॥ यह नारायण अधिदेव में आदित्य वा वायु है, और अध्यात्म में परमपुरुष अथवा शारीर पुरुष आत्मा है।

४. उव्वट-भाष्य का यह पाठ निर्णयसागर प्रेस, बम्बई के संस्करण में है।

अन्न मेध है, इससे यह पुरुष मेध है ।[१] (अधियज्ञ पक्ष में) जो इस [यज्ञ] में मेध्य पुरुषों का आलभन किया जाता है । उससे ही यह पुरुषमेध है ।

इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि **पुरुषमेध** में पुरुषों की हिंसा नहीं होती है । कर्म-समाप्ति से पूर्व उन्हें छोड़ दिया जाता है। यतः पुरुषमेध सर्वोत्कर्ष की प्राप्ति के लिये किया जाता हैं, अतः इस यज्ञ में उन सभी पुरुषों को एकत्रित किया जाता हैं, जो जिस कार्य के लिये लोक में प्रसिद्ध हैं । पुरुषमेध का यजमान अपने आप को लौकिक पुरुषों से ऊंचा उठावे, इस भावना से वह तुलना अथवा विविध चरित्र विज्ञान के लिये १८४ प्रकार के पुरुषों को इकट्ठा करता है । और पुरुषमेध के पश्चात् उनसे ऊपर उठने के लिये वह अरण्य में जाकर तप करता है,अथवा संन्यास ले लेता है । और यदि शारीरिक स्थिति के कारण वह अपने को अरण्यवास अथवा संन्यास के योग्य नहीं समझता, तो वह ग्राम में रहता हुआ ही तपश्चर्या के द्वारा अपने को ऊंचा उठाने का प्रयत्न करता है। इसी का एक प्रकार **वेद-संन्यास** है। जिसमें ब्राह्मण संन्यास लेकर अपने पुत्र के आश्रय में रहता हुआ तपश्चर्या और वेद का अभ्यास करता है। इस विषय में मनुस्मृति का वचन इस प्रकार है—

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषान् अपानुदन् ।
नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुख वसेत् ॥ मनु० ६।९५॥

पुरुषमेध में **अनुबन्ध्या (= बन्ध्या) गौ का आलभन** कहा है । यह है अफला अपुष्पा वाक् का आलभन । ऋ० १०।७१।५ में कहा है—

'अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ।'

इसका व्याख्यान निरुक्तकार यास्क ने इस प्रकार किया है—

"अधेन्वा ह्येष चरति मायया वाक्प्रतिरूपया । नास्मै कामान् दुग्धे वाग्दोह्यान् देवमनुष्यस्थानेषु । यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामिति । अफलास्मा अपुष्पा वाग्भवतीति । निरुक्त २।२०॥

अर्थात्—वेदवाणी को न जानकर जो वाक्प्रतिरूपक वाणी से व्यवहार

---

१. पुरुषमेध का सम्बन्ध आधिदैविक पक्ष में आदित्य के साथ है । इसी लिये पुरुषमेध याग के आरम्भ में सूर्यदेवताक होम और अन्त में सूर्योपस्थान का विधान किया गया है (द्र०—कात्यायन श्रौत २१।१।६, १७) ।

करता है, उसे वेदवाक् वेदवाणी से प्राप्त होनेवाले देव और मनुष्यसम्बन्धी फलों को प्राप्त नहीं कराती। वेदवाक् के फल यास्क ने यज्ञ दैवत और अध्यात्मज्ञान बताया है (निरुक्त १।२०)। ऋग्वेद का मन्त्र भी यही कहता है—जो वेद को पढ़ा हुआ तो है, परन्तु सर्वव्यापक ब्रह्म को नहीं जानता, तो उसका वेद पढ़ना निष्फल है—

ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

ऋ० १।१६४।३९॥

शतपथ-ब्राह्मण १४।७।२।२३ में भी कहा है—'**नानुध्यायान् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्**'। इसका भाव सायण ने इस प्रकार प्रकट किया है—**यद्यप्यसौ काव्यनाटकं शृणोति तथापि निरर्थकमेव तच्छ्रवणम्, तेन सुकृतमार्ग-ज्ञानाभावात्**।[1] अर्थात् काव्य नाटक आदि का पढ़ना निरर्थक है, क्योंकि उससे सुकृत् मार्ग का ज्ञान नहीं होता।

आधिदैविक पक्ष में-गौ सूर्य, सूर्य की रश्मियां, पृथिवी (=स्वयं अप्रकाशित लोक) आदि अनेक पदार्थों के नाम हैं। याज्ञिक ग्रन्थों में सर्वत्र **वशा (=बन्ध्या) गौ के आलभन** का निर्देश है। **यह एक रहस्यमय संकेत है।** बन्ध्या गौ सन्तान और दूध आदि नहीं देती। वह अनुपयोगी-सी होती है। अतः आधिदैविक पक्ष में भी स्वर्भानु असुर (=प्रकाशावरोधक मल) से युक्त आदित्य (द्र०—पृ० १९२) वशा गौ है। सर्गारम्भ में उसका आलभन करके दैवी शक्तियों ने सूर्य को प्रकाशमान किया था। सूर्य की किरणें भी जब वर्षाकाल में मेघ से आच्छादित होती हैं, तब वे वशा गौ होती हैं। अन्तरिक्षस्थ देवगण बन्ध्यात्व दोष के निमित्त मेघों का छेदन करके उन्हें पृथिवी तक पहुंचा कर ओषधि वनस्पतियों के उगाने और पकानेरूप कर्मयोग्य बनाते हैं। ऊषर भूमि वशा गौ है। उसमें धान्यादि उत्पन्न नहीं होते। कृषक जन खाद आदि देकर ऊषररूप बन्ध्यात्व कारण का निवारण करते हैं। इस प्रकार यज्ञ में जहां वशा गौ (=पशु) के आलभन का निर्देश है, वहां चिकित्सा द्वारा गौओं के वशात्व धर्म की निवृत्ति प्रयोजन होना चाहिये, जो कि सम्प्रति लुप्त है।

वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम का विधान इसीलिये किया गया है कि मनुष्य ने ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम में जो कुछ पढ़ा है, कर्म किया है, अनुभव किया है, उसका निदिध्यासनपूर्वक साक्षात्कार करे। आत्मसाक्षात्कार

---

१. सायणीय ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिका, वेदभाष्य-भूमिका-संग्रह, पृष्ठ ३९, काशी, संवत् १९९१।

मनुष्यजीवन का अन्त्य सोपान है, जिस पर चढ़कर मानव जीवन कृतकृत्य हो जाता है। यही पुरुषमेध यज्ञ का लक्ष्य है। और इसीलिये पुरुषाध्याय का विनियोग आचार्य शौनक ने मोक्ष में कहा है (द्र०—पृष्ठ १४५-१४६ उव्वट-भाष्य)।

पुरुषमेध में अजों (=बकरों) का भी आलभन होता है, उसके विषय में आगे अजमेध में निरूपण करेंगे।

शतपथकार और पुरुषमेध—शतपथकार ब्रह्मिष्ठ याज्ञवल्क्य ने पुरुषमेध प्रकरण के आरम्भ (श० १३।६।१–११) में पुरुषमेध के आधिदैविक और आध्यात्मिक स्वरूप का निरूपण किया है, तत्पश्चात याज्ञिक-प्रक्रिया का। तदनुसार पुरुषमेध यज्ञ का आधिदैविक जगत् और अध्यात्म के व्याख्यान में तात्पर्य है, यह स्पष्ट जाना जाता है। पुरुषमेध के पश्चात् अरण्यवास का निर्देश (शत० १३।६।२।२०) इसी का सम्पोषक है।

अधिदैवत वा सृष्टियज्ञ—अधिदैवत पक्ष में नारायण=आदित्य पुरुष है, और ये लोक ही उसका मेध हैं (शत० १३।६।१।६)। समस्त पशुयज्ञों में पशुओं को बांधने के लिये यूप होता हैं। पुरुषमेध में भी पुरुष-पशुओं के लिये यूप का निर्देश मिलता हैं। अश्वादि पशुओं को तो यूप में बांधना उचित हैं, जिससे वे यज्ञशाला से भाग न जावें। परन्तु पुरुष तो निर्देश के अनुसार कार्य करनेवाले होते हैं, अतः उनको यूप में अन्य पशुओं के समान रस्सी से बांधना उचित नहीं है। पुरुषमेध के आधिदैविक स्वरूप में पुरुष=नारायण आदित्य है, लोक-लोकान्तर मेध=अन्न हैं। सृष्टियज्ञ में आदित्यरूप यूप में रश्मिरूपी रस्सी से लोक-लोकान्तर बन्धे हुए हैं। अतः पुरुषमेध के याज्ञिक स्वरूप में यूप की आवश्यकता हैं, और लोकरूप पुरुष के बन्धन की भी। परन्तु यह अन्य पशुओं के समान बन्धन नहीं है, सांकेतिक बन्धन है। लोक में बहिन राखी के दिन भाई के हाथ में राखीरूप प्रेमसूत्र बांधकर उसे जैसे बांधती हैं, वैसा ही पुरुषमेध में पुरुषों का बन्धन=यूप का निर्देश करके समीप बैठानामात्र जानना चाहिये। क्योंकि अश्वमेध में कपिञ्जल आदि आरण्य पशुओं का यूपों के अन्तराल (=मध्य) में नियोजन का विधान है—**कपिञ्जलादीन् पृषतान्तांस्त्रयोदश त्रयोदश यूपान्तरेषु** (का० श्रौत० २०।६।६)। इस पर महीधर ने लिखा है—'मानव श्रौत में इनके बन्धन का उपाय इस प्रकार कहा हैं—नाड़ी में प्लुषि-मशकादि को, करण्ड=पिटारे में सर्पों को, कटहरे में मृग-व्याघ्रादि को, जलयुक्त घड़ों में मत्स्यादि को, जाल में पक्षियों को, कारा-

गार में हाथियों को, और नौका में उदकोत्पन्नों को रखे।' (महीधर-भाष्य यजुः २४।२०)।

अश्वमेध का अश्व और उसका आलभन

पुरुषमेध के पश्चात् अश्वमेध नामक क्रतु है। इसमें याज्ञिक सम्प्रदाय याज्ञिक प्रक्रियानुसार यज्ञीय अश्व को मारकर उसके अङ्गों से आहुति देने का विधान मानता है। अतः अश्वमेध क्या हैं, और उसका अश्व क्या है? इस पर विचार करना आवश्यक है। प्रथम हम अश्वमेध यज्ञ के कतिपय मुख्य अंशों का निर्देश करते हैं—

अश्वमेध लगभग एक संवत्सरसाध्य कर्म है। इस कर्म का अधिकारी अभिषिक्त सार्वभौम राजा होता है। फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी अथवा नवमी को इसको आरम्भ किया जाता है (कात्या० श्रौत २०।१।२)। अश्वमेध के लिये जिस अश्व का चुनाव किया जाता है, उसका पूर्व अर्ध भाग काला, पश्चात् अर्ध भाग श्वेत, और ललाट पर शकटाकार श्वेत चिह्न होना चाहिये (द्र०—शत० ब्रा० १३।४।२।४)। अश्वमेध के अश्व की १२ द्वादश अथवा १३ त्रयोदश अरत्नि (=२२अङ्गुल की एक अरत्नि-प्रमाण) लम्बी रशना होती है, उसे घृत से चुपड़ा जाता है। राजा की आभरणादि से अलङ्कृत चार पत्नियां महिषी, वल्लभा, अवल्लभा, दूतपुत्री अपनी-अपनी सौ-सौ (=४००) दासियों के साथ यजमान के समीप आती हैं। वल्लभा के ऊरु के मध्य शिर रखकर ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ राजा रात में शयन करता है (कात्या० श्रौत २०।१।१२,१७)। अश्वमेधीय अश्व को ईशान दिशा में छोड़ता है। उसके साथ शस्त्रास्त्रकवच धारण किये १०० राजपुत्र; १०० क्षत्रियपुत्र, १०० सूतपुत्र (=सारथिपुत्र), १०० क्षता=४०० (कात्या० श्रौत २०।२।१०-११)। अश्व को वडवा, स्नानार्ह उदक से बचाने का आदेश दिया जाता है (कात्या० श्रौत २०।२।१२-१३)। एक संवत्सर पर्यन्त अश्व को भ्रमण करके लौटाया जाता है। मार्ग में शस्त्रास्त्रधारी क्षत्रिय रक्षा करते हैं। इस काल में यदि कोई राजा अपने राज्य में भ्रमण करते हुए अश्व को रोकता है, तो उससे युद्ध करके उसे अपना अनुयायी बनाया जाता है। इस प्रकार अश्वमेध का अश्व जिस-जिस राज्य में भ्रमण करता है, उसके राजा लोग अश्वमेध में भेंट लेकर उपस्थित होते हैं। संवत्सरपर्यन्त भ्रमण करके अश्व के लौटने पर अश्वमेध का अन्य कर्म होता है। अश्वमेध

के अश्व के पूरे शरीर को रस्सी से लपेटा जाता है। रस्सी के तत्तत्स्थानीय छोरों=किनारों से भिन्न-भिन्न देवतावाले अज अवि आदि पशुओं को बांधा जाता है (द्र०—कात्या० श्रौत भूमिका, पृष्ठ ६६, विद्याधर टीका)। अश्व-मेध में ३२७ ग्राम्य पशु और २६० आरण्य पशु, २२ एकादशिनी पशु=६०९ पशु (उव्वट महीधर यजुः २४।४० भाष्य) होते हैं। आरण्य पशुओं का उत्सर्ग होता है (कात्या० श्रौत २०।६।६)। शेष ग्राम्य पशुओं का आलम्भन किया जाता है।

अश्वमेध पर विशेष विचार—अब अश्वमेध यज्ञ के सम्बन्ध में विशेष विचार किया जाता है। अश्वमेध कर्म का जो प्रमुख अंश ऊपर दर्शाया है, उससे स्पष्ट है कि यह अश्वमेध आधिदैविक जगत् के किसी यज्ञ का प्रतिरूपक है। अब हम इसको स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं—

सार्वभौम राजा—लौकिक अश्वमेध में सार्वभौम राजा पृथक् है, अश्व पृथक् है। परन्तु अश्व राजा के तेज का प्रतीक होने से दोनों परस्पर संबद्ध हैं। आधिदैविक अश्वमेध में सूर्य ही सार्वभौम राजा है, और वही अश्व है। अश्वमेध-सम्बन्धी (ऋ० १।१६२—१६३—१६४) सूक्तों में कहीं-कहीं अश्व तथा तत्पर्यायवाची शब्द से तत्साहचर्य अथवा तत्प्रसूत होने से सूर्यरश्मियों का भी निर्देश है।

अश्व—अश्वमेध के अश्व के जो लक्षण दिये गये हैं, वे आधिदैविक जगत् के सूर्य के ही हैं। सूर्योदय से डेढ़ घण्टा पूर्व रात्रि का तम होता है। पूर्व दिशा में शकटाकार खड़ी आकाश में व्याप्त उषा की किरणें दिखाई देती हैं। यह अश्व के पूर्व कृष्णभाग में ललाट पर श्वेत चिह्न है। उषा काल के पश्चात् सूर्योदय होने पर प्रकाश होता है। यह अश्व का पश्चात् अर्धश्वेत भाग है। आगे-आगे उषाकाल युक्त रात्रि होती है, उसके पीछे-पीछे सूर्य का प्रकाश चलता है।

अश्व की रशना—अश्व की रशना का परिमाण १२ या १३ अरत्नि कहा है। अरत्नि नापविशेष का नाम है। सूर्य की एक परिक्रमा में १२ मास होते हैं, और तृतीय वर्ष मलमास अथवा अधिक मास के होने से १३ मास होते हैं।[1] इसी १२ वा १३ मास लम्बी रशना से बन्धा हुआ सूर्य होता है।

---

१. ऋग्वेद १।२५।८ में १२ मास के साथ कदाचित् (तृतीय वर्ष में) उपजायमान तेरहवें अधिक मास का निर्देश मिलता है—**वेद मासो धृतव्रतो**

अश्व की रशना को घृत से चिकना किया जाता है। घृत दीपक=तेजस्वी पदार्थ का उपलक्षक है (=**घृ क्षरणदीप्त्योः**)। सूर्य की यह रशना प्रकाश से दीप्त=तेजस्वी होती है।

राजा की चार पत्नियां—राजा की चार पत्नियां हैं—पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण चार दिशाएं। पूर्व दिशा महिषी पटरानी है। इसी के साथ सूर्य का अभिषेक प्रसव होता है। पश्चिम दिशा वल्लभा है। सूर्य इसी दिशा में डूबता है - विश्राम करता है। इसी का रूपक कहा है—राजा वल्लभा के उरुओं के मध्य शिर रखकर सोवे। उस काल में ब्रह्मचर्य का विधान किया है। इस का कारण स्पष्ट है। हमारी दृष्टि में सूर्य वल्लभा पश्चिम दिशा में अस्त हो रहा है, परन्तु उस भाग की प्रजाओं की दृष्टि से सूर्य उदय हो रहा है। इस प्रकार हमारी पश्चिम दिशा तद्देशस्थ मनुष्यों की पूर्व दिशा हो रही है, अर्थात् वल्लभा पश्चिम दिशा में सूर्य के अस्त होने पर भी उसके साथ सम्बन्ध नहीं कर रहा है। इसी प्रकार अवल्लभा और दूतपुत्री पत्नियां उत्तर दक्षिण दिशाएं हैं, जिनके साथ सूर्य का उत्तरायण और दक्षिणायन में ही संयोग होता है, सर्वदा नहीं होता।

यहां यह भी ध्यातव्य है कि एक पत्नीव्रतपरायण दाशरथि राम आदि राजाओं ने भी पुरुषमेध किया था। ऐसी अवस्था में याज्ञिक प्रक्रिया, जिसमें राजा की न्यूनतम चार पत्नियों के कर्मों का विधान है, कैसे सम्पन्न किया गया होगा? हमारे मत में आधिदैविक अश्वमेध के सम्पूर्ण कर्म का यज्ञीय अश्वमेध में वहीं तक अनुकरण करना उचित है, जहां तक वह सम्भव हो।

अश्व का एक वर्ष परिभ्रमण—यह भी सूर्य की वार्षिक गति का ही उपलक्षक है।

कवची रक्षक-अश्व की रक्षा के लिये, बाधा को दूर करने वाले ४०० शस्त्रास्त्रसम्पन्न कवची राजपुत्रादि को भेजने का विधान भी सूर्य की किरणों का निदर्शक है। ऋग्वेद ६।४७।१८ में सूर्य की सहस्रविध किरणों का उल्लेख है- **युक्ता ह्यस्य हरयश्शतादश**। इन १००० विध रश्मियों के तीन भेद वायु पुराण ५३।१९-२३; ब्रह्माण्ड पूर्वभाग २४।२६-३० तथा मत्स्य पुराण १२८।

द्वादश प्रजावत:। वेदा य उपजायते। सौर और चान्द्र वर्ष में प्रति वर्ष होने वाले लगभग १० दिन के अन्तर को दूर करने के लिये प्रति तीसरे वर्ष चान्द्र वर्ष में अधिक मास की गणना की जाती है।

१८-२२ में दर्शाये हैं (द्र०—वेदविद्या निदर्शन, पृष्ठ २१३)। इनमें चित्रमूर्त्तिनामा ४०० **रश्मियां** वर्षा कराती हैं। वर्षाकाल में मेघों की रुकावट के कारण सूर्य की किरणों वा प्रकाश का पृथिवीपर्यन्त प्रसार नहीं होता। अश्व के विचरण से शत्रुरूपी रुकावट को दूर करने के लिये ४०० शस्त्रास्त्रधारी कवची सैनिक साथ रहते हैं। सृष्टियज्ञ में सूर्य के अबाध प्रसारण में मेघ बाधक होते हैं, उनको नष्ट करके वर्षा कराने वाली ४०० चित्रमूर्त्ति नामक रश्मियां[1] होती हैं। ऋ० १।३५।६—**आणिं न रथ्यममृताधितस्थुः** में सृष्टिसर्जना रश्मियों को अमृता कहा है।

अश्व के सर्वावयवों को रस्सी से बांधना—अश्वमेध में अश्व के पूरे शरीर को रस्सी से बांधते हैं। और तत्तत् स्थानीय रस्सी के छोरों से कुछ अन्य पशु बांधे जाते हैं। यह कर्म भी सृष्टियज्ञ को ही संकेत करता है। सूर्यमण्डल के सब ओर सूर्यरश्मियां प्रसृत होती हैं। इनसे सूर्यमण्डल पूर्णरूप से बंधा है, अर्थात् आच्छादित है। इन्हीं सूर्मरश्मियों के दूसरे छोर के साथ सौरमण्डल के पृथिवी आदि ग्रहोपग्रह बंधे हुए हैं।

विजित राजाओं से भेंट ग्रहण करना—यह भी सृष्टियज्ञ की घटना का ही स्मारक है। सूर्य का जिस-जिस क्षेत्र के साथ संयोग होता है, उस-उस प्रदेश से वह अपने तेज के द्वारा रसों=जलों को ग्रहण करता है।

इस प्रकार हमने स्पष्ट कर दिया है कि द्रव्ययज्ञरूप अश्वमेध का सम्बन्ध सृष्टियज्ञ के अश्वमेध के साथ है। इसके साथ ही लौकिक अश्वमेध का एक **राष्ट्रिय रूप** भी है। उसकी व्याख्या शतपथ तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में विस्तार से की है।

लौकिक अश्वमेध में ग्राम्य पशुओं की हिंसा का जो विधान है, उसके विषय में हम कुछ पूर्व लिख चुके हैं, और कुछ पांचों मेधों के पश्चात् लिखेंगे।

ऋग्वेदीय अश्व सूक्त—ऋग्वेद के मं० १ के सूक्त १६२–१६३–१६४ अश्वमेध में विनियुक्त हैं। हम इन सूक्तों के विषय पर संकेतरूप में संक्षेप से लिखते हैं—

सूक्त १६३ के प्रथम मन्त्र में अश्व की उत्पत्ति समुद्र और पुरीष से कही

---

१. तस्य रश्मिसहस्रं तु वर्षशीतोष्णनिस्रवम्। तासां चतुःशता नाड्यो वर्षन्ते चित्रमूर्त्तयः। द्र०—वायुपुराण ५३।१९; मत्स्यपुराण १२८।२८; ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वभाग २४।२६॥

है। दूसरे मन्त्र में इस अश्व को यम से दिया हुआ त्रित से युक्त किया हुआ कहकर इन्द्र इस पर प्रथम सवार हुआ, गन्धर्व ने इसकी लगाम पकड़ी, वसवों ने सूर से अश्व को छीलकर बनाया, ऐसा निर्देश है। चौथे मन्त्र में इस अश्व के द्युलोक अपों और समुद्र में तीन-तीन बन्धन कहे हैं। छठे मन्त्र में पतङ्ग (=गतिशील अश्व) को द्युलोक में गति करते हुए कहा है। दसवें **ईर्मान्तासः** मन्त्र की व्याख्या निरुक्तकार ने सूर्यरश्मिपरक की है (द्र०—निरुक्त ४।१३)। ११वें मन्त्र में अश्व के जर्भुराण देदीप्यमान शृङ्गों का अरण्य में विचरण कहा है। लौकिक अश्व के शृङ्ग ही नहीं होते, फिर उनके देदीप्यमान शृङ्गों का अरण्य में विचरण कैसे उपपन्न हो सकता है ?

इन संकेतों से स्पष्ट है कि अश्वमेध के १६३ वें सूक्त में उक्त **अश्व सूर्य** ही है।

सूक्त १५४ का आरम्भ **अस्य वामस्य पलितस्य** से होता है। आदि में **अस्य** सर्वनाम पद है। सर्वनाम पूर्वनिर्दिष्ट के स्मारक अथवा अभिधायक होते हैं। इस दृष्टि से पूर्व सूक्त १६२-१६३ में जिस अश्व का वर्णन है, उसी का **अस्य** से स्मरण कराकर उसके विषय में विशेष वर्णन किया है। इस **अस्यवामीय** सूक्त (१।१६४) में सूर्य और उसकी रश्मियों का ही वर्णन है। और यह वर्णन इतना स्पष्ट है कि इस प्रकरण में सूर्य और उसकी रश्मियों के अतिरिक्त और किसी का वर्णन माना ही नहीं जा सकता हैं। निरुक्तकार यास्क ने इस सूक्त के अनेक मन्त्रों की निरुक्त में सूर्यपरक ही व्याख्या की है।

अब केवल १६२ वें सूक्त की समस्या शेष रहती है। यद्यपि इस सूक्त में अनेक ऐसे मन्त्र और पदसमूह हैं,जो आपाततः अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी ही प्रतीत होते हैं। परन्तु दोनों सूक्तों के प्रकाश में उनका भी आधिदैविक अर्थ करना चाहिये। बृहदारण्यक उपनिषद् के आरम्भ में ऋ० १।१६२ सूक्त में निर्दिष्ट अश्वाङ्गों की आधिदैविक व्याख्या द्रष्टव्य है। इस विषय में डा० देवप्रकाश पातञ्जल का 'ए क्रिटिकल स्टडी आफ ऋग्वेद' (१।१३७-१६३) ग्रन्थ भी देखना चाहिये।

गोमेध की गौ और उसका आलभन

जैसे याज्ञिक ग्रन्थों में साक्षात् पुरुषमेध और अश्वमेध नामों का निर्देश मिलता है, तद्वत् **गोमेध** नामक कर्म का सम्पूर्ण याज्ञिक वाङ्मय में साक्षात् निर्देश उपलब्ध नहीं होता है। एक **गवामयन** नाम का संवत्सरसाध्य सत्र विहित है। इसमें गो-पशु के आलभन का विधान नहीं है। ऐतरेय-ब्राह्मण ४।१७ में गवामयन सत्र का विधान है। इसके आरम्भ में ही कहा है—

"गवामयनेन यन्ति। गावो वा आदित्याः। आदित्यानामेव तदयनेन यन्ति। गावो वै सत्रमासत।"

इस सत्र की गौवें आदित्य हैं। आदित्य के एक होते हुए भी काल और कर्मभेद से १२ भेद माने जाते हैं। अयन नाम गति का है। आदित्यों की गति गवामयन है। आदित्य की दक्षिणायन और उत्तरायण गति लोकप्रसिद्ध है। इसी ६-६ मास की गति का अनुकरण गवामयन सत्र है। इस प्रकार गवामयन सत्र मूलतः आधिदैविक ही है।

इसके अतिरिक्त कुछ कर्मों के अङ्गरूप में अथवा काम्य कर्म के रूप में गौ का आलभन मिलता है। यथा पुरुषमेध के अङ्गरूप में **अनूबन्ध्या याग**। महाभाष्य (१।१ आ० १) में उद्धृत **स्थूलपृषतीमनड्वाहीमालभेत** कर्म काम्य हैं। हम पूर्व (पृष्ठ २०२-२०३) पुरुषमेध के प्रकरण में लिख चुके हैं कि जहां भी गौ के आलभन का उल्लेख मिलता है, वहां **अनूबन्ध्या** और **वशा** शब्द से निर्देश किया है। इन दोनों शब्दों का अर्थ है—**बन्ध्या गौ**। महाभाष्योद्धृत पाठ में अनड्वाही का कथन है। अनड्वान् (=गाड़ी को वहन करनेवाला) बैल होता है। स्त्रीलिङ्ग अनड्वाही शब्द से वह गौ कहाती है, जिसे गाड़ी में जोता जाता है। गौ को गाड़ी में जोतने का धर्मशास्त्र में सामान्य निषेध किया है, परन्तु बन्ध्या गौ को गाड़ी में जोतने का अपवादरूद विधान स्वीकार किया है। अतः अनड्वाही का अर्थ भी बन्ध्या गौ ही है।

इस वशा गौ और उसके आलभन के विषय में हम पूर्व (पृष्ठ २०३) लिख चुके हैं।

यहां यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि पराशर स्मृति के नाम से एक श्लोक प्रसिद्ध है—

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैत्रकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥[1]

इसके अनुसार कलियुग में अश्वमेध और गोमेध में अश्व और गौ की हिंसा का निषेध किया है।

आयुर्वेदीय चरकसंहिता चिकित्सा-स्थान १९।४ में **अतिसार** रोग की उत्पत्ति के विषय में लिखा है—

---

१. यह वचन हमें पराशर स्मृति के लघु और बृहत् दोनों पाठों में कहीं नहीं मिला।

"**आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्' पशवः प्रोक्षणमापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामभावात् गवालम्भः प्रवर्तितः……… अतिसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे।**"

अर्थात्—आदिकाल (=कृतयुग) में निश्चय से यज्ञों में पशुओं का **समालभन** (=स्पर्श) किया जाता था। वे **आलम्भन** (=हिंसन) के लिये प्रकृत नहीं किये जाते थे। तत्पश्चात् दक्षयज्ञ के अनन्तर (त्रेता के प्रारम्भ में) मनु के नरिष्यन्, नाभाग, इक्ष्वाकु और शर्याति आदि पुत्रों के यज्ञों में '[वेद में] **पशुओं [के आलभन] की ही अनुज्ञा है**', ऐसा समझकर पशु प्रोक्षण अर्थात् आलम्भन को प्राप्त हुए। और इसके अनन्तर दीर्घकालीन यज्ञ करते हुए पृषध्र ने पशुओं के अभाव के कारण गौ का आलम्भन (=हिंसन) प्रवृत्त किया……। उससे अतिसार पूर्व उत्पन्न हुआ पृषध्र के यज्ञ में।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि आदिकाल में यज्ञ में किसी भी पशु की हिंसा नहीं होती थी। गवालम्भन तो अन्य पशुओं के आलम्भन के अनन्तर सब से अन्त में प्रवृत्त हुआ।

अविमेध की अवि और उसका आलभन

अविमेध नाम का भी कोई स्वतन्त्र कर्म याज्ञिक सम्प्रदाय में निर्दिष्ट नहीं है। हां, किन्हीं कर्मों में अवि के आलभन का विधान मिलता है। हम पूर्व (पृष्ठ १६५-१६७) **वशा अवि का आलभन** प्रकरण में अवि क्या है, उसका वशापन (=बन्ध्यात्व) क्या है, उसका देवों ने कैसे आलभन किया? यह दर्शा चुके हैं। अतः कर्मकाण्डीय ग्रन्थों में जहां भी अवि के आलभन का विधान है, उस सब का मूल पूर्व-निर्दशित आधिदैविक **अवि** ही है।

अविमेध के सम्बन्ध में एक प्रसंग ध्यान देने योग्य है—चातुर्मास्य अन्तर्गत वरुण-प्रघास संज्ञक द्वितीय पर्व में निस्तुष जौ के आटे से **मेष** और **मेषी** के निर्माण का आदेश है (शत० ब्रा० ५।५।२।१५-१६)। उसकी शरीराकृति पर एडक पशु से भिन्न पशु के लोम चिपकाये जाते हैं (का० श्रौत ५।३।७)। यज्ञकाल में मारुती पयस्या में मेषाकृति को और वारुणी पयस्या में मेषी की आकृति को रखते हैं (का० श्रौत ५।५।२-३)। और पयस्या की आहुति के समय पयस्या के साथ मेष और मेषी की आकृति का भी होम करते हैं (का०

श्री०५।५।१६-१९)। समस्त वैष्णव सम्प्रदाय तत्तत् पशुयागों में साक्षात् पश्ववयवों की आहुति के स्थान पर जौ के आटे की उस-उस पशु की आकृति बनाकर उसके अवयवों से पशुयाग करते हैं। इसे **पिष्ट पशु** कहा जाता है। सम्भव है इसका मूल वरुण-प्रघासस्थ पिष्टमय मेष-मेषी का होम हो।

अजमेध का अज और उसका आलभन

अजमेध नाम का भी कोई स्वतन्त्र कर्म नहीं है। याज्ञिक कर्मकाण्ड में अधिकतर पशुयागों में अज का आलभन होता है। अतः **अज** शब्द पर विचार करना आवश्यक है।

वेद की शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार समस्त पशुयागों की प्रकृति सोमयागस्थ अग्नीषोमीय अज-पशु का याग है। श्रौतसूत्रों के प्रवक्ताओं ने शाखा और ब्राह्मण में अग्नीषोमीय पशुयाग में विहित समस्त धर्मों का **निरूढ पशुबन्ध** में निर्देश किया है। अतः श्रौतसूत्रों के अनुसार निरूढ पशुबन्ध पशुयागों की प्रकृति है। प्रकृतिभूत अग्नीषोमीय पशुयाग की प्रकृति दर्शेष्टिस्थ सान्नाय्य (=दधि-पयः) याग है, और उसमें भी पयोयाग प्रकृति है (द्र०—का० श्रौत ४।३।१४–१६)।

अज शब्दार्थ —अज शब्द के व्युत्पत्तिभेद से दो अर्थ सम्भव हैं। एक—**अजति सातत्येन गच्छति इत्यजः**=सतत गतिमान् पदार्थ। दूसरा—**न जायत इत्यजः**=जो उत्पन्न नहीं होता, नित्य वर्तमान है। यथा—आत्मा परमात्मा और प्रकृति। इनके लिये 'अज' शब्द का प्रयोग वैदिक वाङ्मय में बहुधा मिलता है। दोनों ही अर्थवाले अज शब्द का स्वर वैदिक वाङ्मय में समानरूप से अन्तोदात्त ही उपलब्ध होता है।

पशुयागों के विधायक वचनों में बहुधा पुराकल्पसंज्ञक अर्थवाद-वचनों का निर्देश मिलता है। (द्र०—पूर्व पृष्ठ १७५)। पुराकल्प अर्थवादों में जगत् के सर्ग का निर्देश होता है। अतः सम्पूर्ण पशुयाग के पशु भी प्राकृतिक तत्त्वों के प्रतिनिधि हैं। इस दृष्टि से सम्पूर्ण पशुयागों की प्रकृति अग्नीषोमीय याग का पशु अज सूर्य के चारों ओर सतत भ्रमण करनेहारा पृथिवीलोक है। जैसे अवि पृथिवी की पिलपिली अदृढ अवस्था का वाचक है (द्र०—पृष्ठ १४१), वैसे ही अग्नीषोमीय अज भी अग्नीषोम गुणवाली प्रारम्भिक अकृष्टपच्या पृथिवी का वाचक है। वर्तमान में कृषियोग्य अनूसर भूमि भी न्यूनाधिक रूप में अग्नीषोमीय अज है। मूलतः अज पशु अग्निप्रधान है। उसका दुग्धादि भी अग्नितत्त्व-प्रधान है। उसी के अनुसार 'अज' नाम ऊषर भूमि का है। गोमय

आदि सोमप्रधान द्रव्यों के योग से ऊषर भूमि को अग्नीषोमीय धर्मवाली कृषियोग्य बनाना अग्नीषोमीय पशु का आलभन है। वसन्त ऋतु, जिसमें अग्नीषोमीय पशुयाग का विधान है स्वयं अग्नीषोम उभयप्रधान है। उस काल में पतझड़ से वीरान हुई ओषधि-वनस्पतियों में पुनः नये पल्लव आते हैं।

महाभारत, वायु-मत्स्य पुराण, पञ्चतन्त्र और स्याद्वादमञ्जरी के वचनों (इनके वचन आगे उद्‌धृत करेंगे) से यह प्रतीत होता है कि अज' नाम प्रजनन-शक्तिरहित तीन से सात वर्ष पुराने अन्नों का है, और इन्हीं 'अज' संज्ञक अन्नों से यज्ञ करने का वेद में विधान है।

पशुयज्ञ सम्बन्धी एक अर्थवाद पर विचार

ऐतरेय-ब्राह्मण २-८, ९ में पशुयज्ञ-सम्बन्धी एक लम्बा अर्थवाद पठित है। जो इस प्रकार है—

"पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्त। तस्मादालब्धान्मेध उदक्रामत्। सोऽश्वं प्राविशत्। तस्मादश्वो मेध्योऽभवत्। अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जत स किंपुरुषोऽभवत्। तेऽश्वमालभन्त। सोऽश्वादालब्धादुदक्रामत् स गां प्राविशत्। तस्माद् गौर्मेध्योऽभवत्। अथैनमुत्क्रान्तमेघमत्यार्जत स गौरमृगोऽभवत्। ते गामालभन्त। स गोरालब्धादुदक्रामत्। सोऽविं प्राविशत्। तस्मादविर्मेध्योऽभवत्। अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जत स गवयोऽभवत्। तेऽविमालभन्त। सोऽवेरालब्धादुदक्रामत्। सोऽजं प्राविशत्। तस्मादजो मेध्योऽभवत्। अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जत स उष्ट्रोऽभवत्। सोऽजे ज्योक्तमामिवारमत। तस्मादेष एतेषां पशूनां प्रयुक्ततमो यदजः। तेऽजमालभन्त। सोऽजादालब्धादुदक्रामत। स इमां प्राविशत्। तस्मादियं मेध्याऽभवत्। अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जत स शरभोऽभवत्। त एत उत्क्रान्तमेधा अमेध्याः पशवः। तस्मादेतेषां नाश्नीयात्। तमस्यामन्वगच्छन् सोऽनुगतो व्रीहिरभवत्। तद्यत् पशौ पुरोडाशमनुनिर्वपन्ति समेधेन नः पशुनेष्टमसत्··· ··· ···॥८॥ स वा एष पशुरेवालभ्यते यत्पुरोडाशः॥"

अर्थात्—"देवों ने पुरुष पशु का आलभन किया। उस आलब्ध पुरुष से मेध निकल गया। वह मेध अश्व में प्रविष्ट हुआ। उससे अश्व मेध्य हुआ। उस उत्क्रान्तमेध पुरुष को देवों ने वर्जित कर दिया। वह किंपुरुष=किन्नर हो गया। देवों ने अश्व का आलभन किया, उस आलब्ध अश्व से मेध निकल गया। वह मेध गौ में प्रविष्ट हुआ। वह गौ मेध्य हुई। उस उत्क्रान्तमेध अश्व को देवों ने वर्जित कर दिया। वह गौर-

मृग हुआ। देवों ने गौ का आलभन किया, वह मेध गौ से निकल गया। वह मेध अवि (=भेड़) में प्रविष्ट हुआ। उससे अवि मेध्य हुई। उस उत्क्रान्त-मेध गौ को देवों ने वर्जित किया। वह गवय (=नील गौ) हुआ। देवों ने अवि का आलभन किया। उससे मेध निकल गया। वह मेध अज (=बकरे) में प्रविष्ट हुआ। उससे अज मेध्य हुआ। उस उत्क्रान्तमेध अवि को देवों ने छोड़ दिया, वह उष्ट्र हुआ। वह मेध अज में चिरकाल तक रहा। इसलिये यह अज पशुओं में प्रयुक्ततम (=अधिक प्रयुक्त) है। देवों ने अज का आलभन किया। उस आलब्ध अज से मेध निकल गया। वह मेध इस पृथिवी में प्रविष्ट हुआ। उससे यह पृथिवी मेध्य हुई। उस उत्क्रान्तमेध अज को देवों ने वर्जित कर दिया। वह शरभ (=पशुविशेष) हो गया। इसलिये ये उत्क्रान्तमेधवाले पशु हैं, इनको न खावे।

देवों ने उस मेध को इस पृथिवी में प्रविष्ट जाना। वह मेध देवों से अनुगत (=चारों ओर से घिरा) होने से उत्क्रमण में अशक्त होकर व्रीहि (=तण्डुल=धान) हो गया। जो पशुयाग में पुरोडाश का अनुनिर्वाप करते हैं (=पुरोडाश याग करते हैं) उससे समेध (=मेध युक्त) पशु से इष्ट यज्ञ होता है।

वह यह पशु का ही आलभन होता है, जो यह पुरोडाश है।......सब पशुओं के मेध से यजन करता है, जो पुरोडाश से यजन करता है।"

इस सारे पुराकल्प अर्थवाद का प्रयोजन याज्ञिकों के मत में पशुयाग के पश्चात् क्रियमाण पशु-पुरोडाश की प्रशंसा करना है। परन्तु इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि **पुरुष अश्व गौ अवि और अज मेध्य=मेध=यज्ञ के योग्य नहीं हैं, पुरोडाश ही यज्ञीय है।**

पशुयागों में पशु-पुरोडाश का विधान

प्रत्येक पशुयाग में पश्वाहुति के पश्चात् **यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाशः** नियम से पशुदेवता के लिये ही पुरोडाश का विधान भी किया है। याज्ञिक जन इस पशु-पुरोडाश को छिद्र-अपिधान (=काटे गये अङ्गों के छिद्र को ढकने =पूर्ण करने) के लिये मानते हैं। उनका कहना है कि जब यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग में जीवित होता है, तब उस पशु के शरीर से जो निकाले गये अङ्गों के छिद्र हैं, उनकी पूर्ति इस पशु-पुरोडाश से होती है। वस्तुतः यह कल्पनामात्र है। क्योंकि यदि यज्ञ में हुत पशु को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, तो क्या

उसी के प्रभाव से वह सर्वाङ्गपूर्ण न हो जायेगा ? तथा इसमें यह भी विचारणीय हैं कि यज्ञ-हुत पशु को स्वर्ग में भी यदि पशु-योनि ही प्राप्त होती हैं, तो वह तो उसे यहां भी प्राप्त ही है, फिर विशेषता क्या हुई ? साथ ही यह भी चिन्त्य है कि क्या स्वर्ग में पशु भी होते हैं ?

पश्वालम्भन के अभाव में यज्ञ-पूर्ति

पूर्व (पृष्ठ २११) पर चरक का जो प्रमाण दिया हैं, और आगे महाभारत आदि के जो प्रमाण उपस्थित करेंगे, उनसे स्पष्ट हो जाता है कि आदिकाल में यज्ञों में पशुओं का आलम्भन (=वध) नहीं होता था, आलभन=स्पर्श होता था। उस-उस देवता का निर्देश करके पशु का स्पर्श वा निर्देश करने के पश्चात् यज्ञीय पशुओं का उत्सर्जन हो जाता था। हमने वेद की शाखा और ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार स्पष्ट कर दिया है कि यज्ञीय पशु भी सृष्टियज्ञ के अग्नि वायु सूर्य पृथिवी आदि विशिष्ट पदार्थ ही हैं। उनका सृष्टियज्ञ में आलम्भन=वध=नाश नहीं हुआ, अपितु भौतिक देवों के स्पर्श=सहयोग से इनमें गुणाधान (नये गुणों का स्थापन) हुआ। अतः सृष्टियज्ञ के अनुकृतिरूप पशुयागों में भला लौकिक पशुओं का आलम्भन कैसे हो सकता है ?

वस्तुतः जैसे पुरुषमेध में पुरुष-पशु का और अश्वमेध में आरण्य पशुओं का तत्तद्देवता का निर्देशपूर्वक उत्सर्जन होता है, वैसे ही आदिकाल में अन्य पशुओं का भी उत्सर्ग ही होता था। किसी भी आरम्भ किये गये कार्य को मध्य में छोड़ना अनुचित होता है। इसलिये पशुयाग के पशुओं के उत्सर्ग के पश्चात् यज्ञकर्म को पूरा करने के लिये ही आज्य पुरोडाश आमिक्षा आदि द्रव्यों का विधान[1]

---

१. **आज्य से**—तस्मिंस्त्वाष्ट्रं साण्डं लोमशं पिङ्गलं पशुमुपाकृत्य पर्यग्निकृतमुत्सृज्याज्येन शेषं संस्थापयेत्। यावन्ति पशोरवदानानि स्युस्तावत्कृत्व आज्यस्यावद्येत्। पशुधर्माज्यं भवति। आप० श्रौत १४।७।१३-१५। यहां त्वाष्ट्र पात्नीवत् पशु के उत्सर्जन का विधान करके आज्य से कर्म की समाप्ति कही है।

पुरुषमेध में भी 'स्विष्टकृद् वनस्पत्यन्तरे पुरुषदेवताभ्यो जुहोति' (कात्या० श्रौत २१।१।१३)। 'पुरुषाणां या ब्रह्मादयो देवताः····· ताभ्यः प्रत्येकं सकृद् गृहीतमाज्यं ब्रह्मणे स्वाहा क्षत्राय स्वाहा इत्येवं पदं चतुर्थ्यन्तमुच्चार्य स्वाहाकारेण जुहुयात्।' विद्याधर गौड़ की वृत्ति।

पुरोडाश से—अभिचाररूप 'गौः' संज्ञक सोमयाग में अग्नीषोमीय पशु का

तत्तत् प्रकरणों में देखा जाता है। सम्भवतः **यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पशुपुरोडाशः** का विधान आरम्भ काल में इसी दृष्टि से किया गया होगा। इसीलिये पशु-देवत्य पुरोडाश के लिये **छिद्रपिधानार्थम्** अर्थवाद भी उपपन्न होता है। जब उत्तरकाल में यज्ञ में पशुओं का आलम्भन आरम्भ हो गया, तब भी पौर्व-कालिक (उस काल का जब पश्वङ्गों से आहुतियां नहीं दी जाती थीं) पुरोडाश-विधान भी जुड़ा रह गया।

हमने पूर्व ऐतरेय-ब्राह्मण का जो लम्बा अर्थवादवचन लिखा है, उससे भी यही ध्वनित होता है कि पुरुष अश्व आदि के अङ्गों से यज्ञ नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे उत्क्रान्तमेध हैं। उनका मेध पृथिवी में प्रविष्ट होकर यव के रूप में प्रकट हुआ है। इसलिये व्रीहि ही यज्ञीय मुख्य द्रव्य है। **इतने पर भी यदि पुरुष अश्व आदि से यज्ञ किया जाता है, तो उत्क्रान्तमेध अर्थात् अमेध्य पदार्थ से यज्ञ करना मानना होगा।** इसके साथ ही यह भी विचार-णीय है कि देवों से पुरुष आदि के आलभन पर जब पुरुष आदि पशु उत्क्रान्त-मेध हो गये, तब इनमें पुनः मेध्यत्व कैसे उत्पन्न हुआ? यह वैदिक वाङमय के किसी भी ग्रन्थ में नहीं बताया है।

वस्तुतः ऐतरेय-ब्राह्मण का पूर्वोक्त अर्थवाद भी पुराकल्परूप है। और इसके पुरुष अश्व गौ अवि और अज भी सृष्टिगत विभिन्न लोकलोकान्तर हैं। इनमें मेध=शक्ति का उत्सर्जन होता रहता है, और वह उत्सर्जन रश्मियों वा वर्षा आदि के द्वारा इस भूमि में प्रविष्ट होता रहता है। उसी से व्रीहि यव आदि ओषधि-वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं। द्रव्यमय यज्ञ के ये ही मेध्य पदार्थ हैं।

शास्त्रकारों का कथन है कि—**यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः**[1]

वध नहीं होता है—'अग्नीषोमीयस्य स्थानेऽग्नीषोमीय एकादश कपालः' (आप० श्रौत २२।३।१०) से अग्नीषोमीय एकादश कपाल पुरोडाश का विधान मिलता है।

आमिक्षा से—'मैत्रावरुणीमामिक्षामनूबन्ध्यायाः स्थाने बह्वृचाः समामनन्ति' (आप० १३।२४।१०)। 'अनूबन्ध्याया वपायां हुतायाम् आमिक्षाया वा प्रधाने इष्टे········' (आप० श्रौत १४।७।१२ रुद्रदत्त वृत्ति)। 'अनूबन्ध्या-स्थाने मैत्रावरुण्यामिक्षा।' (आप० श्रौत २२।३।११)।

१. द्र०—यदन्नः पुरुषस्तदन्ना स्याद्देवता। निदानसूत्र १०।६॥

अर्थात् जिस अन्नवाला यजमान पुरुष होता है, उसका देवता भी उसी अन्न-वाला होता हैं। ऐसी अवस्था में निरामिषभोजी ऋषि लोगों का तथा ब्राह्मण-वर्णस्थ यजमानों का देवता भी निरामिष ही होगा, तब भला उसे पश्वङ्गों की आहुति किस प्रकार दी जा सकती है ?

इन विवेचनाओं से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि श्रौतयाग में जितने भी पशुयाग हैं, उन सब में सामान्यरूप पशु का पर्यग्निकरण के अनन्तर उत्सर्ग करके कर्म की समाप्ति पुरोडाश आज्य वा आमिक्षा से ही करनी चाहिये।

वेदार्थपारिजात में स्वामी करपात्री जी ने गवालम्भन का तो बड़े यत्न-पूर्वक खण्डन किया है। यहां तक कि उत्तररामचरित जैसे ग्रन्थों में उल्लिखित गोवत्स के आलम्भन को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने तो यह प्रतिज्ञा की है कि कभी गवालम्भन होता ही नहीं था। यह सब कथन **गतानुगतिको लोकः न लोकः पारमार्थिकः** कहावत के अनुसार ही है। आज यदि करपात्री जी ब्राह्मण श्रौत आदि में गौ का आलम्भन स्वीकार करलें तो समस्त हिन्दू उनके और ब्राह्मण श्रौत आदि ग्रन्थों के विरोधी बन जायें। इस डर से वे 'किसी भी काल में गवालम्भन नहीं होता था' का झूठा आडम्बर रचते हैं। यदि भूतकाल में पुराणपन्थी गवालम्भन नहीं करते थे तो श्रौत गृह्य तथा महाभारत में इन का उल्लेख क्यों कर मिलता है ? ये लोग प्रक्षेप तो मान नहीं सकते और वेदविरुद्ध होने से अप्रमाण भी नहीं कह सकते। इतना ही नहीं, कलि-वर्ज्य प्रकरण में पठित—

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैत्रिकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥

वचन को स्वामी करपात्री जी ने प्रमाणभूत माना है[1]। ऐसी अवस्था में हम उन से पूछते हैं कि यदि गौ का आलम्भन कभी हुआ ही नहीं तो उक्त वचन में कलि में गवालम्भन का निषेध क्यों किया है ? इस प्रकरण में अश्वालम्भन का भी निषेध है फिर शुङ्गवंशीय पुष्यमित्र और जयपुर के महाराज जयसिंह को अश्वमेध याग आप के मतानुयायी विद्वानों ने कैसे कराया ? जब कलियुग में संन्यास भी वर्जित है तब पौराणिक समुदाय में सहस्रों आप जैसों ने

---

१. अश्वालम्भं········पञ्च विवर्जयेत् इति वचनं तु बहुनिबन्धकृच्च-चितत्वात् प्रमाणभूतमेव। वेदार्थपारिजात, भाग २, पृष्ठ २०४९।

संन्यास धारण कैसे किया ? क्या आप लोगों का वर्तमान कलिकाल में संन्यास धारण करना धर्मविरुद्ध नहीं ?[1]

गौ के अतिरिक्त अन्य अश्व अज मेष आदि पशुओं ने करपात्री जी का क्या बिगाड़ा, जो उन के यज्ञ में आलम्भन के लिये पचासों पृष्ठ काले किये। उन्होंने लिखा है—

याज्ञिकपशुवधोऽपि पशूनां स्वर्गप्रापकत्वात् पशुयोनिनिवारणपूर्वकहिरण्य-शरीरप्राप्तिहेतुत्वात् पशूपकारक एव।·· ·····यज्ञे पशूनामुपयोगस्तु पशु-कल्याणाय भवति।······यस्मात् पशुरपकृष्टयोनेर्विमुक्तो देवयोनौ जायते। वेदार्थपारिजात भाग २, पृष्ठ ११७७, ११७८।

इस अंश का हिन्दी अनुवाद वेदार्थपारिजात में इस प्रकार किया है—

"यज्ञ में किया जाने वाला पशुवध भी पशुओं का स्वर्गप्रापक होने से तथा पशुयोनि निवारण पूर्वक दिव्य शरीर प्राप्ति कराने में कारण होने से पशु का उपकारक ही होता है।············वह यज्ञीय पशु अपकृष्ट योनि से विमुक्त होकर देवयोनि में उत्पन्न होता है···········।" वही, पृष्ठ ११७७–११७८।

अब कहिये करपात्री जी 'गौ' को आप पशुयोनि मानते हैं? यदि पशुयोनि मानते हैं तो उस अपकृष्ट योनि से गौ को छुड़ा कर दिव्य हिरण्य शरीर की प्राप्ति पूर्वक स्वर्ग-प्राप्त कराने के श्रेय से आप क्यों वञ्चित होते हैं ? उसे भी यज्ञ में जैसा सूत्र ग्रन्थों में उल्लेख है, मार कर अपकृष्ट योनि से मुक्त क्यों

---

१. यह प्रश्न स्वामी करपात्री जी के हृदय में भी उठा। उसके समाधान के लिये "**यावद् वर्णविभागः स्याद् यावद्वेदः प्रवर्तते। अग्निहोत्रं च संन्यासं तावत्कुर्यात् कलौ युगे॥**" इस अनिर्दिष्ट स्थानवाले वचनान्तर को उपस्थित करके पीछा छुड़ाया है (द्र०—वेदार्थपारिजात, भाग २, पृष्ठ ११७९)। स्वामी करपात्री जी के मतानुसार कलि में संन्यास का प्रतिषेध वित्तैषणा पुत्रैषणा लोकैषणा से निवृत्ति के दुष्कर होने से किया गया है (द्र०—वे० पा० पृष्ठ ११७९)। तब क्या प्रतिप्रसवात्मक **यावद् वर्णविभागः स्याद्** वचन एषणात्रय से युक्त व्यक्ति के संन्यासविधानार्थ है ? सम्भव है पौराणिक सम्प्रदाय के लाखों की सम्पत्ति रखनेवाले मठाधीश और करपात्री जी जैसे लोकैषणा से अभिभूत व्यक्तियों द्वारा ही संन्यास ग्रहण के लिये उक्त वचन की कल्पना की गई होगी। वैदिक मर्यादानुसार तो तीनों में से किसी एक एषणा से ग्रस्त व्यक्ति को भी संन्यासग्रहण का अधिकार नहीं है।

नहीं होने देते ? क्यों 'गौ का आलम्भन कहीं विहित नहीं है' का झूठा प्रपञ्च रचते हैं और क्यों सर्वत्र 'गौ' शब्द का अर्थान्तर करते हैं ?

अभ्युपगम-सिद्धान्त से पशुयागों पर विचार

यदि अभ्युपगम-सिद्धान्त अथवा दुर्जनसंतोष न्याय से भी पशुयागों पर विचार किया जाये, तो भी यह स्वीकार करना होगा कि यज्ञों में पशुहिंसा वर्जित है। समस्त द्रव्यमय यज्ञ आधिदैविक सृष्टियज्ञ को प्रत्यक्षवत् समझने के लिये रूपक वा नाटक हैं। यह सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का सार है। इस विषय में हम आरम्भ में विस्तार से लिख चुके हैं। इसलिये सृष्टियज्ञ में किन्हीं पशुओं=द्रव्यों का आलम्भन=हिंसन होता है, और उनका वर्णन मन्त्रों में उपलब्ध भी होता है। वस्तुतः सृष्टियज्ञबोधक मन्त्रों में पशुओं का आलम्भन=हिंसा का निर्देश नहीं है, तो भी जब हम सृष्टियज्ञ की परोक्ष प्रक्रिया को प्रत्यक्ष-रूप से समझने के लिये उसे द्रव्यमय यज्ञरूप नाटक के रूप में प्रस्तुत करते हैं, तब नाट्य सम्प्रदाय का यथावत् पालन करना आवश्यक होता है।

काव्य दो प्रकार के होते हैं——श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य। श्रव्यकाव्य यथा——रामायण महाभारत आदि; और दृश्यकाव्य यथा—विक्रमोर्वशी, अभिज्ञानशाकुन्तल आदि। श्रव्यकाव्य रामायण महाभारत आदि में राम-रावण और कौरव-पाण्डवों के युद्ध का यथावत् वर्णन किया गया है। उसमें घात-प्रत्याघात आदि का ऐसा सजीव वर्णन है, जिसे पढ़ते हुए सहृदय पाठक के सन्मुख युद्ध की घात-प्रत्याघातरूप घटनाएं आखों के सामने उपस्थित हो जाती हैं। परन्तु जब इन्हीं प्रसङ्गों के आधार पर नाटकों की रचना होती है, तब उन में घात-प्रत्याघात का न तो वर्णन ही किया जाता है, नाही रङ्ग-मञ्च पर उन्हें दिखाया जाता है। ठीक इसी नाट्य धर्म का यज्ञीय नाटकों में भी पालन आवश्यक है। यहां भी पशुओं का साक्षात् हिंसा का निदर्शन नहीं हो सकता है। पशुओं का कर्म के मध्य में ही उत्सर्जन करके अवशिष्ट नाटक की पूर्त्ति पुरोडाशाहुति से की जाती है।

वैष्णव सम्प्रदाय और पशुयाग

वैष्णव सम्प्रदाय पूर्णतः निरामिषभोजी है। वह वेद को अन्य सम्प्रदायों के समान स्वतः-प्रमाण मानता है। उसके सन्मुख जब यज्ञ में पशुबध की समस्या उत्पन्न हुई, तो उसने पशुहिंसा से बचने के लिये एक मार्ग निकाला, जिसे **पिष्ट-पशुयाग** कहा जाता है। माध्व सम्प्रदाय के आचार्यों ने पिष्ट पशु की सिद्धि के लिये बहुत प्रयत्न किया है। माध्व सम्प्रदाय के आचार्य और

पाणिनीय अष्टाध्यायी सम्प्रदाय के हमारे सुहृद् श्री पण्डितप्रवर बी० एच० पद्मनाभ राव जी (आत्मकूर, आन्ध्र)से हमने माध्व-सम्प्रदायानुसार पशु-यज्ञों के विषय में पूछा। आपने इस विषय में उपलभ्यमान सन्दर्भों को लिखकर तथा कुछ ग्रन्थान्तर में द्रष्टव्य के रूप में सूचित किया। इसके लिये मैं विद्वद्वर श्री० पं० पद्मनाभ राव जी का अनुगृहीत हूं। मैंने आपके द्वारा प्रेषित एवं संकेतित उद्धरणों का अवलोकन किया, उनसे मुझे विशेष सन्तुष्टि नहीं हुई। पशु के स्थान में प्रतिनिधि रूप में पिष्ट-पशु का विधान भी याज्ञिक-परम्परा के अनुरूप नहीं है। प्रतिनिधि द्रव्य का ग्रहण सर्वत्र प्रधानरूप से उपदिष्ट द्रव्य के नष्ट हो जाने अथवा अप्राप्ति में उपदिष्ट है। पिष्टपशु-ग्रहणवादियों के लिये हम एक ऐसे वचन को उद्धृत करते हैं, जो सम्भवतः उन्हें अज्ञातसा होगा।

चातुर्मास्य के वरुण-प्रघास कर्म में यव के पिष्ट से मेष-मेषी का विधान शतपथ-ब्राह्मण ३।५।२।१६ में किया है—

"तद्यन्मेषश्च मेषी च भवतः। एष वै प्रत्यक्षं वरुणस्य पशुर्यन्मेषः। तत्प्रत्यक्षं वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति। यवमयौ भवतः।"

वैष्णव सम्प्रदाय-पक्ष में एक प्रमाण वह भी दिया जा सकता है, जिसे हमने पूर्व (पृष्ठ २१३) उद्धृत किया है। ऐ० ब्रा० २।८ के अनुसार पुरुष अश्व आदि से मेध उत्क्रान्त होकर पृथिवी में प्रविष्ट होकर व्रीहिरूप में प्रकट हुआ। पशुओं से मेध के उत्क्रान्त हो जाने से वे अमेध्य हो गये। अमेध्य पदार्थ मेध=यज्ञ में अप्रयोगार्ह होता है। अतः पशु साक्षात् अप्रयोगार्ह हैं। उनके स्थान पर पशु-पुरोडाश ही प्रयोगार्ह है। इस पुरोडाश को वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य पश्वाकृति देकर पिष्टपशुयज्ञ का स्थापन कर सकते हैं।

इस प्रकार पशुयज्ञों के विषय में हमने ऊपर जो लिखा है, उसका संक्षेप इस प्रकार है—

१—वेद-प्रतिपादित पशु-यज्ञ सृष्टियज्ञ के भाग हैं (पृष्ठ १७०)।

२—आधिदैविक पदार्थों के लिये 'पशु' शब्द का व्यवहार (पृष्ठ १७४)।

३—'आलभते, और 'आलभेत' पदों पर विचार (पृष्ठ १८१)।

४—आलभ-आलम्भ दो स्वतन्त्र धातुएं (पृष्ठ १८३)।

५—लभ और लम्भ के भिन्न अर्थ (पृष्ठ १८६)।

६—अग्नि-पशु का आलभन और उससे यज्ञ (पृष्ठ १८८)।

यज्ञों में पशुओं की हिंसा पहले नहीं होती थी। इसका आरम्भ उत्तरकाल में हुआ, यह हम ऊपर निर्दशित कर चुके हैं। यज्ञों में पशु-हिंसा कब और क्यों हुई, इस का निदर्शन कराने के लिये इस बात पर भी विचार करना आवश्यक है कि आदि मानव निरामिष-भोजी था अथवा मांसाहारी। साम्प्रतिक वैज्ञानिक कहलाने वाले मानव-शरीर-विज्ञान एवं मानव-मानस-विज्ञान की अवहेलना करके कहते हैं कि मानव आदि में जंगली पशुओं का शिकार करके उनके मांस से अपनी क्षुधा को शान्त करता था। फल-मूल पर निर्वाह करना और कृषि के द्वारा अन्न उत्पन्न करना उसने बहुत काल पीछे सीखा।

कल्पना की अपेक्षा इतिहास का प्रमाण अधिक है। इसलिये यह देखना चाहिये कि इस सम्बन्ध में इतिहास क्या कहता है? साथ ही मानव-शरीर-रचना पर भी ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक हैं।

आदि मानव निरामिष-भोजी

न केवल भारतीय ग्रन्थ इस तथ्य को प्रकट करते हैं, अपितु संसार के सभी धर्मग्रन्थ इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में मानव

कन्दमूल फलों और स्वयं उत्पन्न अन्नों पर निर्वाह करता था।[1] बाइबल और कुरान जैसे मांसाहारियों के धर्मग्रन्थ में लिखित आदम और हव्वा की कथा भी तो यही प्रकट करती है कि खुदा ने इन आदि मानवों को अदन के बाग में रखा था, और एक फल को छोड़ कर सभी फलों को खाने का आदेश दिया था।

विकासमतानुयायी वृथा अनुमान के आधार पर आदि मानव को असभ्य एवं शिकार पर जीनेवाला मानते हैं। इसके प्रमाण में उत्खनन में उपलब्ध होने वाले पाषाणों के कल्पित हथियार भी विकासवादियों के मतानुसार पांच-सात वर्ष सहस्र से प्राचीन नहीं हैं, जबकि भारतीय इतिहास के ग्रन्थों तथा अन्य देशों के ग्रन्थों से व्यक्त होने वाला मानव-इतिहास बहुत पुराना है। **भारतीय इतिहास तो न्यूनातिन्यून अठारह बीस सहस्र वर्ष का क्रमबद्ध इतिहास है।** अतः सत्य इतिहास के विद्यमान होते हुए वृथा अनुमान का उदय ही नहीं होता। भारतीय इतिहास के अनुसार तो आदि मानव कन्दमूल फल एवं अकृष्टपच्य अन्नों का ही सेवन करता था। मानव-समाज में मांसाहार का प्रचलन बहुत काल पश्चात् हुआ (इस विषय में आगे लिखेंगे)। संसार की सबसे प्राचीन धर्मपुस्तक ऋग्वेद ५।८३।१० में स्पष्ट कहा है—**'अजीजन ओषधीर्भोजनाय'** अर्थात् मनुष्यों के खाने के लिये ओषधियां उत्पन्न की गयी हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद ६।१४०।२ में दांतों को उद्देश करके कहा है—

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय .....॥

इस मन्त्र में स्पष्टरूप से दांतों का भाग वा भोजन व्रीहि यव माष तिल बताया है।

शरीर-विज्ञान की साक्षी—सभी चिकित्सक चाहे वे भारतीय हों चाहे पाश्चात्य, एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि मनुष्य के दांतों और उदर की आंतड़ियों की बनावट मांसाहारी जीवों के समान नहीं है। इसके विपरीत इनकी बनावट फल मूल कन्द पर जीनेवाले वानरों के समान है। इसलिये अब अनेक पाश्चात्य चिकित्सक भी नीरोग जीवन के लिये मांसाहार का त्याग आवश्यक मानते हैं।

इतना ही नहीं, जितने घास तृण फल मूल का भक्षण करने वाले पशु हैं,

---

१. इसके विस्तार के लिये देखिये—पं० भगवद्दत्त कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास', भाग १, पृष्ठ २१०–२१२, द्वि० सं०।

वे चाहे भूखे मर जायें, परन्तु वे कभी मांस नहीं खाते। क्या वानरों को वा हिरण आदि पशुओं को किसी ने आज तक मांस खाते देखा है? मानव भी स्वभावत: निरामिषभोजी प्राणी है। अत: वह आदिकाल में मांसाहार में स्वभावतः प्रवृत्त नहीं हो सकता।

मांसाहार का आरम्भ

हम पूर्व लिख चुके हैं कि कश्यप प्रजापति के दिति से उत्पन्न दैत्य = असुर इस पृथिवी के प्रथम अधिष्ठाता थे[1], ये अत्यन्त बलवान् थे। अत एव इन्हें असुर = (**असु = प्राण + र[2] = युक्त**) कहा गया है[3]। इन दैत्यों का आचार प्रारम्भ में अत्यन्त श्रेष्ठ था। इसलिये पहले इन्हें '**देव**' कहा जाता था। उत्तरकाल में इन असुरों के **आचारभ्रष्ट होने पर** अदिति सुत देवों से इनका भेद दर्शाने के लिये इन्हें 'पूर्वदेव' कहा जाने लगा[4]। यूनानी ग्रन्थों में उल्लिखित देवों की तीन श्रेणियों[5] में प्रथम श्रेणी के देव ये असुर ही हैं हरक्यूलिस = सुरकुलेश = विष्णु को द्वितीय श्रेणी का देव कहा है, और बेक्कस = विप्रचित्ति दानव को तृतीय श्रेणी का)। दैत्यों का पृथिवी पर निष्कण्टक आधिपत्य होने से उनमें शनैः-शनैः मद अहंकार उत्पन्न हुआ, और उससे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का प्रादुर्भाव हुआ, और शनैः शनैः उनमें सुरापान और मांसाहार की प्रवृत्ति हुई। अब उनका धर्म केवल **शरीरपोषण** रह गया[6]। ऐसी अवस्था में असुर शब्द '**असुषु रमते**' (= प्राणों में रमने वाला) व्युत्पत्ति के अनुसार निन्दित अर्थान्तर

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ १७८, तथा टि० संख्या ५।

२. 'र' मत्वर्थीय। यथा—पाण्डुर पांसुर नगर।

३. तस्य वा असुरेवाजीवत्, तेनासुना सुरान् असृजत, तदसुराणामसुरत्वम्। मै० सं० ४।२।१॥

४. अमर कोश १।१।१२॥ **स पूर्वदेव-चरितम्......महा०सभा०** १।१७॥ **पूर्वदेवो वृषपर्वा दानवः** (नीलकण्ठ)। **देवान् यज्ञमुषश्चान्यान् असृजत्**। महा० वनपर्व २२०।१०॥ यहां '**देवान्**' का विशेषण '**यज्ञमुष्**' प्रयुक्त होने से देव शब्द से पूर्वदेव = असुरों का निर्देश किया है। द्र०—**असुरसृष्टिमाह—देवान्**। नीलकण्ठी टीका।

५. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १, पृष्ठ २१३, २१४, २१५। (द्वि० सं०)।

६. छान्दोग्य उप० ८।८।२–५॥

का वाचक हुआ। इन्द्रादि अदिति-सुत असुरों से छोटे थे। असुरों ने उन्हें पृथिवी का भाग नहीं दिया[1]। दायभाग (पृथिवी के बंटवारे) के निमित्त असुरों और देवों में विरोध उत्पन्न हुआ। तद्धेतुक १२ महान् संग्राम हुए[2]। अन्त में देवों ने असुरों को पराजित करके उन्हें स्वर्ग से खदेड़ दिया।[3] तदनन्तर महान् विजय और ऐश्वर्य के मद से देवों में भी शनैः-शनैः तामसी प्रवृत्ति बढ़ने लगी। वे भी आचार में उच्छृङ्खल हुए। उनमें भी मांसाहार की प्रवृत्ति हुई। परन्तु देवों में **विष्णु** इस दोष से बचा रहा[4]। स्कन्द तथा अन्य निवृत्ति-मार्गानुयायी देव भी इन व्यसनों से दूर रहे।

त्रेता के आरम्भ तक ऋषियों की महती अनुकम्पा से आर्यों का आचार-स्तर सर्वथा पवित्र और उच्च रहा। तदनन्तर [दूषित] देवों के विशेष संसर्ग से आर्य राजाओं में भी मांसाहार की प्रवृत्ति हुई, और उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इतना होने पर भी ऋषि-मुनि उस प्रवृत्ति को सीमित रखने के लिये समय-समय पर '**वृथा मांसं नाश्नीयात्**' आदि प्रतिबन्ध लगाते रहे। इससे उच्च वर्णों और कुलों में मांसाहार की प्रवृत्ति अत्यल्प हुई।

यज्ञों में पशुहिंसा की प्रवृत्ति

हम पूर्व लिख चुके हैं कि यज्ञों का प्रादुर्भाव सब से प्रथम असुरों में हुआ। तत्पश्चात् वह देवों के पास पहुंचा[5]। इन्द्र ने सौ महाक्रतु करके **शतक्रतु** नाम पाया। तदनन्तर यज्ञों का प्रसार मानवों में हुआ। मानवों में यज्ञों की प्रवृत्ति त्रेता के प्रारम्भ में अथवा कृतयुग के अन्त में हुई[6]। शनैःशनैः मानवों में यज्ञ की प्रवृत्ति बढ़ी, और शतशः काम्य तथा नैमित्तिक यज्ञों की सृष्टि हुई।

---

१. असुराणां वा इयं पृथिव्यासीत्, ते देवा अब्रुवन् दत्त नोऽस्याः पृथिव्याः। मैत्रा० सं० ४।१।१०॥ तुलना करो—का० सं० ३१।८॥

२. तेषां दायनिमित्तं वै संग्रामा बहवोऽभवन्। वराहेऽस्मिन् दश द्वौ च षण्डामर्कान्तगाः स्मृताः। वायु० ९७।७२॥

३. ततो वै देवा इमामसुराणामविन्दत, ततो देवा असुरान् एभ्यो लोकेभ्यो निरभजन्। मै० सं० ४।१।१०॥ तुलना—का० सं० ३१।८॥

४. यही कारण है कि समस्त वैष्णव मतानुयायी निरामिष-भोजी हैं, और यज्ञ में भी पशुहिंसा न तो मानते हैं और नाही करते हैं। लोक में तो आजतक वैष्णव भोजनालय का अर्थ निरामिषभोजी ढाबा समझा जाता है।

५. द्र० --पूर्व पृष्ठ १७७। ६. द्र०—पूर्व पृष्ठ १४९, टि० १।

कृतयुग में यज्ञों की प्रवृत्ति देवों में ही थी। इस युग में कभी भी पशुओं की हिंसा नहीं हुई। उत्तरकाल में जब देवों में मांसाहार की प्रवृत्ति हुई, तब त्रेता के प्रारम्भ अथवा दोनों के सन्धिकाल में प्रथम बार इन्द्र ने पशु-हिंसा प्रारम्भ की। **ऋषियों ने इस अनर्थकारी कर्म का भारी विरोध किया।** परन्तु इन्द्रादि देवों ने अपने अहङ्कार के मद में ऋषियों का कथन न माना। इस प्रकार यज्ञ में पशुहिंसा की प्रवृत्ति भी देवों से आरम्भ हुई।

अब हम इस विषय पर प्रकाश डालनेवाले प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(१) महाभारत आश्वमेधिक-पर्व अ० ९१; शान्ति-पर्व अ० ३३७; अनुशासन-पर्व अ० ११५; मत्स्य पुराण अ० १४२; और वायु पुराण अ० ५७ में **उपरिचर वसु** की कथा विस्तार से लिखी है। उसका भाव इस प्रकार है—

"इन्द्र ने सर्वप्रथम अश्वमेध में पशुओं का आलम्भन (=हिंसन) किया। **दीर्घदर्शी ऋषि लोग इस नए अनर्थ को देखकर घबरा उठे।** उन्होंने इन्द्र को समझाया कि **वेद में पशुहिंसा की विधि नहीं है।** यदि आगमस्थ विधि से यज्ञ करना है, तो तीन वर्ष से अधिक पुराने अप्ररोही (=अज=जो उगने के अयोग्य हो गये हों, ऐसे) बीजों से यज्ञ करो। इन्द्र ने मान (=मद) और मोह के वशीभूत होकर ऋषियों का कथन न माना। दोनों ने निर्णयार्थ **उत्तानपाद के पुत्र उपरिचर वसु**[1] को मध्यस्थ बनाया। उसने देवों और ऋषियों का बलाबल विचारकर देवों के पक्ष में अपना निर्णय दिया। ऋषियों ने पक्षपात से मिथ्या निर्णय देने के कारण उपरिचर वसु को शाप दिया।"

(२) अग्निवेश कृत (विक्रम से ५००० वर्ष पूर्व) और वैशम्पायन चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत (विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व) चरकसंहिता के चिकित्सा-स्थान अ० १९।४ का महत्त्वपूर्ण वचन हम पूर्व (पृष्ठ १८३) लिख चुके हैं। उस वचन से निम्न ५ पांच बातें स्पष्ट होती हैं—

क—आदिकाल (=कृतयुग) में यज्ञों में पशुओं की हिंसा नहीं होती थी।

---

१. यह पृषध्र मनु-पुत्र नहीं है, यह चरक के उक्त वचन से स्पष्ट है। क्योंकि चरक के वचन में मनु-पुत्रों से उत्तरकाल में पृषध्र का उल्लेख किया है। हमारे विचार में यह पृषध्र पुरूरवा का पौत्र नहुष है। यह अगले प्रकरण से स्पष्ट होगा। यह कुछ समय के लिये इन्द्र-पद पर भी अधिष्ठित किया गया था।

ख—[मानवों में] सर्वप्रथम मनु के पुत्रों के यज्ञों में पशुओं का आलम्भन हुआ।

ग—**'वेद में पशुओं के आलम्भन की आज्ञा है'** इस मिथ्या ज्ञान के कारण ही यज्ञ में पशुहिंसारूप निन्दनीय प्रवृत्ति आरम्भ हुई।

घ—**आङ्पूर्वक लभ और लम्भ** ये मूलतः दो पृथक् धातु हैं[1]। 'आलभ' का मूल अर्थ है—प्राप्त वा स्पर्श करना, और 'आलम्भ' का अर्थ है—हिंसा।

ङ—गवालम्भ की प्रवृत्ति पृषध्र (यह मनुपुत्र पृषध्र से उत्तरकालिक पुरूरवा का पौत्र है) के काल में हुई।

(३) चरक के कथन की पुष्टि **'वसिष्ठ-धर्मसूत्र'** २१।२३ से भी होती है। उसमें लिखा है—

त्रय एव पुरा रोगा ईर्ष्या अनशनं जरा।
पृषध्रस्तनयं हत्वा अष्टानवतिमाहरेत् ॥

यहां उत्तरार्ध का पाठ भ्रष्ट है। शुद्ध पाठ **'पृषध्रस्त्वघ्नियां हत्वा अष्टानवतिमाहरत्'** होना चाहिये (देखो—अगला उद्ध्रियमाण वचन)।

वसिष्ठ-धर्मसूत्र का भाव है—पहले [मानवों में] केवल तीन रोग थे—ईर्ष्या, क्षुधा, और बुढ़ापा। पृषध्र ने गौ हनन करके ९८ नये रोग उत्पन्न कर दिये।

(४) वसिष्ठ-धर्मसूत्र २१।२३ का जो वचन हमने ऊपर उद्धृत किया है, उसकी ठीक प्रतिच्छाया ब्राह्मण धम्मिय सुत २८ में मिलती है। वहां लिखा है—

तयो रोगा पुरे आसुं इच्छा अनशनं जरा।
पसूनं च समारम्भा अट्ठनावुतिमाण गमुं ॥

(५) जैन आचार्य उग्रादित्यविरचित 'कल्याणकारक' वैद्यक-ग्रन्थ पृष्ठ २७४ में भी इसी प्रसङ्ग का निर्देश उपलब्ध होता है। यथा—

अवन्तिषु तथोपेन्द्रः पृषध्रो नाम भूपतिः।
विनये समतिक्रम्य गोश्चकार वृथा वधम् ॥

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ १९३।

अर्थात्—अवन्ति (उज्जैन) में उपेन्द्र पृषध्र[1] नामक भूपति ने विनय का उल्लङ्घन करके गौ का वृथा वध किया।

(६) महाभारत शान्तिपर्व अ० २६५ में भी गवालम्भ से १०१ रोगों की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है। यथा—

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत्तु यः ॥४७॥

ऋषयो यतयो ह्येतन्नहुषे प्रत्यवेदयन्।
गां मातरं चाप्यवधीर्वृषभं च प्रजापतिम् ॥४८॥

अकार्यं नहुषाकार्षीर्लप्स्यामहे त्वकृते व्यथाम्।
शतं चैकं च रोगाणां सर्वभूतेष्वपातयन् ॥४९॥

ऋषयस्ते महाभागाः प्रजास्वेव हि जाजले।
भ्रूणहं नहुषं त्वाहुर्न ते होष्यामहे हविः ॥५०॥

इन श्लोकों का भाव यह है—अघ्न्या (=न मारने योग्य) यह गौ का नाम है, इनको मारने में कौन समर्थ है? महान् हानिकारक कर्म किया, जो गौ और बैल का आलम्भन किया। ऋषियों ने नहुष से कहा—गौ माता और वृषभ प्रजापति का जो तु ने वध किया, तुम्हारे इस अकार्य कर्म से हम दुःख को प्राप्त होंगे। इससे सब भूतों में १०१ रोग प्रवृत्त होंगे। ऋषियों ने प्रजाओं के मध्य ही नहुष को भ्रूणहा कहा, और हम तेरा यज्ञ नहीं करायेंगे ऐसा निर्णय किया।

महाभारत शान्तिपर्व अ० २६८ में भी नहुष को प्रथम गवालम्भक लिखा है। महाभारत के इन प्रसङ्गों की पूर्वलिखित संख्या २—४ के वचनों से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि नहुष और पृषध्र एक ही व्यक्ति के नाम हैं। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने पूर्वोद्धृत ४७वें श्लोक के चतुर्थ चरण का पाठान्तर "पृषध्रो गा लभन्निव" लिखा है। उससे भी इसी बात की पुष्टि होती है (नीलकण्ठ की इस पाठान्तर की व्याख्या ठीक नहीं है)। महाभारत में १०१ रोगों का उत्पादक नहुष को लिखा है, जबकि वसिष्ठ-

---

१. मनु-पुत्र पृषध्र और पुरूरवा का पौत्र पृषध्र दोनों का सम्बन्ध अवन्ति अर्थात् उज्जैन के साथ नहीं था। जैन आचार्य उग्रादित्य के लेख में अवन्ति का निर्देश कैसे हुआ, यह विचारणीय है।

धर्मसूत्र में ६८ रोगों का प्रवर्तयिता पृषध्र को कहा है[1]। महाभारतोक्त १०१ रोगों में सम्भवतः वसिष्ठधर्म-सूत्रोक्त ईर्ष्या क्षुधा और जरा इन तीन प्राचीन रोगों की संख्या भी सम्मिलित कर ली गई। चरक-संहिता चिकित्सास्थान १९।४ के अनुसार ६८ नये रोगों में एक महान् रोग अतिसार था।

यह पृषध्र नाम किस नहुष का था ?

एक पृषध्र मनु का पुत्र, नाभाग इक्ष्वाकु शर्याति आदि का भ्राता था। वह पृषध्र गवालम्भ का प्रवर्तयिता नहीं हो सकता। क्योंकि चरक में गवालम्भ-प्रवर्तयिता पृषध्र को मनुपुत्र नाभाग इक्ष्वाकु शर्याति आदि से अवरकाल का लिखा है। गवालम्भ के प्रसङ्ग में **पृषध्र नहुष का पर्याय है,** यह ऊपर के प्रमाणों से स्पष्ट है। इतिहास में नहुष नाम के दो व्यक्ति उपलब्ध होते हैं। एक चन्द्रवंश दूसरा सूर्यवंश में (बाल्मीकीय रामायणानुसार)। महाभारत के **'नहुषः पूर्वमालेभे त्वष्टुर्गामिति नः श्रुतम्'** (शान्ति० ३६८।६) श्लोक में श्रुत **'त्वष्टा'** द्वादश आदित्यों में एकतम है। अतः उसके साथ श्रुत **नहुष चन्द्रवंश का नहुष (पुरुरवा का पौत्र) ही सम्भव हो सकता है।** सूर्यवंश का नहुष बहुत उत्तरकालिक है, वह त्वष्टा का समकालिक नहीं हो सकता। इस विचार की पुष्टि उग्रादित्य के उपरिनिर्दिष्ट (संख्या ५) श्लोक से भी होती है। उसमें नहुष का विशेषण उपेन्द्र लिखा है। महाभारत उद्योगपर्व में लिखा है कि ब्रह्महत्या के भय से इन्द्र के छिप जाने पर देवों ने पुरुरवा के पौत्र नहुष को इन्द्र के स्थान पर अधिष्ठित किया (अ० ११) इस सम्मान के मद से हतबुद्धि नहुष ने इन्द्राणी को अपनी भार्या बनाने की चेष्टा की (अ० ११।१७—१९), और ऋषियों से अपनी पालकी उठवाई (अ० १७।२५)। ऐसे हतबुद्धि व्यवित का गवालम्भ का प्रवर्तन करना अधिक सम्भव है।

अब हम यज्ञ में पशवालम्भ के आरम्भ होने के कारणों पर विचार करते हैं—

यज्ञ में पशवालम्भ-विधायक भ्रम के दो प्रधान कारण

प्रथम कारण—'वेद में पशुहिंसा का विधान है' इस भ्रम के कारण ही

---

१. ब्राह्मण धम्मसुत्त २७-२८ में इक्ष्वाकु को पशुयज्ञप्रवर्तक और गवालम्भ-प्रवर्तक लिखा है। और इसी गोघात से ८२ रोग उत्पन्न होने का उल्लेख किया है। हमारे विचार में यहां 'इक्ष्वाकु' के निर्देश में किसी कारण भूल हुई है।

यज्ञों में पशुहिंसा की प्रवृत्ति हुई। यह चरक के पूर्वोद्धृत **'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्'** वचन से, तथा उपरिचर वसु के **'संहितामन्त्रा हिंसालिङ्गाः'** (वायु० ५७।१०७) कथन से स्पष्ट है। इस भ्रम के दो प्रधान कारण हैं। एक—**अज** आदि शब्दों के विभिन्न अर्थों का होना। और दूसरा—**आलभ** तथा **आलम्भ** क्रियाओं का सांकर्य होना।

'अज' शब्द के अर्थ में भ्रम

'अज' शब्द के दो अर्थ हैं—एक **'छाग'**=बकरा, और दूसरा—**'न उत्पन्न होने वाला'**। प्राचीन आगम-ग्रन्थों में निर्दिष्ट **'अजैर्यष्टव्यम्'** आदि वाक्यों में 'अज' शब्द बकरे का वाचक है, अथवा 'न उत्पन्न होनेवाले' अर्थ का, इसकी मीमांसा न करके **'योगाद् रूढिर्बलीयसी'** न्याय के अनुसार 'अज' शब्द का अर्थ छाग समझने से यज्ञ में पशुहिंसा की प्रवृत्ति हुई। इस भ्रम पर निम्न प्रमाण विशेष प्रकाश डालते हैं—

क—महाभारत शान्तिपर्व अ० ३३७ में देवों और ऋषियों का एक संवाद उपलब्ध होता है। उसमें कहा है—

अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान्।
स च छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः॥

ऋषयः ऊचुः

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि छागं न हन्तुमर्हथ॥
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वै बध्यते पशुः॥

अर्थात्—देवों ने कहा='अज' से यज्ञ करना चाहिये, ऐसा विधान है। और वह अज भी छाग अर्थात् बकरा जानना चाहिये, अन्य पशु नहीं॥

ऋषियों ने कहा—बीजों से यज्ञ करना चाहिये, यही वैदिकी श्रुति है। अज बीजों की संज्ञा है, इसलिये छाग का वध नहीं करना चाहिये। जहां पशु का वध होता है, वह सत्पुरुषों का धर्म नहीं है॥

ख—यद्यपि इस प्रकरण में 'अजसंज्ञक' बीज कौन से हैं, इस पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता, तथापि वायुपुराणान्तर्गत उपरिचर कथा में कहा है—

'यज्ञबीजैः सुरश्रेष्ठ येषु हिंसा न विद्यते ।
त्रिवर्षपरमं कालमुषितैरप्ररोहिभिः ॥५७।१००,१०१॥

अर्थात्—हे सुरश्रेष्ठ ! उन बीजों से यज्ञ करो, जिनमें हिंसा नहीं है । जो तीन वर्ष से अधिक पुराने, और [खेत में] उगने में असमर्थ हों ॥

वायुपुराण के इस श्लोक में 'अज' का अर्थ 'अप्ररोही' शब्द से दर्शाया है । इस वचन से यह भी ध्वनित होता है कि खेत में उगने योग्य धान्यों से भी यज्ञ करना अनुचित है । कहां अहिंसाप्रिय ऋषियों का उगने में समर्थ बीजों से भी यज्ञ न करने का निर्देश, और कहां आर्षग्रन्थों में यज्ञ में पशुहिंसा का वर्णन ? क्या आर्षग्रन्थों में पशु-हिंसापरक वचनों का उत्तरकाल में प्रक्षेप हुआ है ?

ग—मत्स्य पुराण में इसी कथा के प्रसङ्ग में कहा है—

यज्ञबीजैः सुरश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिमोषितैः ॥१४३।१४॥

यहां 'त्रिवर्षपरमोषितैः' पाठ होना चाहिये ।

घ—महाभारत और पुराणों में प्रतिपादित 'अज' शब्द के तात्त्विक अर्थ का निर्देश जैन-ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है । स्याद्वादमञ्जरी में भी लिखा है—

"तथाहि किल वेदे 'अजैर्यष्टव्यम्' इत्यादिवाक्येषु मिथ्यादृशोऽजशब्दं पशुवाचकं व्याचक्षते । सम्यग्दृशस्तु जन्माप्रायोग्यं त्रिवार्षिकं यवव्रीह्यादि, पञ्चवार्षिकं तिलमसूरादि, सप्तवार्षिकं कङ्कुसर्षपादि धान्यपर्यायतया पर्यवसाययन्ति॥" श्लोक २३ की व्याख्या, पृष्ठ १०७, १०८ ।

अर्थात्—वेद के 'अजों से यज्ञ करना चाहिये' इत्यादि वाक्यों में मिथ्यादृश (=अज्ञानी) अज शब्द को पशुवाचक कहते हैं । सम्यग्दृश (=ज्ञानी) जन्म के अयोग्य तीन वर्ष के जौ व्रीहि आदि, पांच वर्ष के तिल मसूर आदि, सात वर्ष के कङ्कु सर्षप आदि धान्य के पर्यायरूप में परिणत करते हैं ॥

ङ—इसी की प्रतिध्वनि पञ्चतन्त्र में भी उपलब्ध होती है । वहां लिखा है—

"एतेऽपि याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति, ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेर्न

---

१. वायु तथा मत्स्य पुराण में 'यज्ञबीजैः' ही पाठ है । यहां 'यज बीजैः' पाठ होना चाहिये, अन्यथा क्रिया के अभाव में वाक्य अधूरा रहता है । तुलना करो—'बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यम्' महाभारत का उपरिनिर्दिष्ट श्लोक ।

जानन्ति । तत्र किलैतदुक्तम्—'अजैर्यष्टव्यम्' । अजा व्रीहयः सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते, न पुनः पशुविशेषः ॥"

अर्थात्-ये याज्ञिक भी यज्ञकर्म में पशुओं को मारते हैं, वे मूर्ख वेदवचन के ठीक अर्थ को नहीं जानते । वेद में कहा है—'अजों से यज्ञ करना चाहिये'। अज सात वर्ष पुराने व्रीहि कहे जाते हैं, न कि पशुविशेष (बकरा) ॥

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि जिन प्राचीन यज्ञागमों में '**अजैर्यष्टव्यम्**' ऐसा विधान था, वहां भी 'अज' का अभिप्राय खेत में उगने के अयोग्य पुराने धान्यों से था, बकरों से नहीं । परन्तु उत्तरकाल में जब भ्रान्ति से इस वचन में 'अज' का अर्थ बकरा समझा गया, तब उस भ्रान्ति से यज्ञ में पशु की हिंसा प्रारम्भ हुई ।

पुरुष अश्व गौ अवि शब्दों के अर्थों में भी भ्रान्ति

जिस प्रकार 'अज' शब्द के अर्थ में भ्रान्ति होने से यज्ञ में बकरे की हिंसा प्रवृत्त हुई, उसी प्रकार पुरुष अश्व गौ और अवि शब्दों के वास्तविक अर्थों का ज्ञान न होने से भी यज्ञों में पुरुष अश्व गौ और अवि पशु की हिंसा आरम्भ हुई । वैदिक यज्ञप्रकरण में शब्दों का क्या तात्पर्य है, यह पूर्व विस्तार से स्पष्ट कर चुके हैं । अतः यहां पुनः पिष्टपेषण नहीं करते ।

दूसरा कारण यज्ञ में पश्वालम्भन की प्रवृत्ति का है—

आलभ और आलम्भ क्रियाओं का सांकर्य

पाणिनि तथा सम्भवतः उससे कुछ पूर्वकाल में शुद्ध लम्भ धातु के तिङन्त के प्रयोग संस्कृतभाषा में उच्छिन्न हो चुके थे । अतः उस काल के वैयाकरणों ने लम्भ धातु का संग्रह धातुपाठ में नहीं किया, और लम्भ से निष्पन्न शब्दों का सम्बन्ध लभ धातु से ही जोड़ दिया । इस कारण आलभ और आलम्भ ये समानार्थक हैं, ऐसी मिथ्या धारणा प्रचलित हो गई । और उसी के आधार पर पशुहिंसा आरम्भ हुई ।

लभ और लम्भ दो स्वतन्त्र धातुएं हैं, इस विषय पर हम पूर्व (पृष्ठ १८३) विस्तार से लिख चुके हैं ।

स्वामी करपात्री जी ने ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा और 'श्रौतयज्ञ-मीमांसा' के खंडन में जो लगभग ३०० पृष्ठ काले किये हैं, वे सब अज्ञान-मूलक हैं । जब तक किसी भी विषय का विवेचन ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं किया जायेगा, तब तक उसके तत्त्व का निर्णय हो ही नहीं सकता । संहिताओं शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के विषय में जो कुछ भी कहा है, उसका तत्त्व झूठे

वादों के चक्कर में लुप्त हो गया है। उसका उद्धार इतिहासविद्या से ही सम्भव है। इसीलिये भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास ने कहा है—

इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना।
लोकगर्भं गृहं कृत्स्नं यथावत् संप्रकाशितम्।। आदिपर्व १।८७।।

जैसे भगवान् वेदव्यास ने मोहावरण में विलुप्त लोक-गर्भ को इतिहास-रूपी मोहावरणघाती प्रदीप से प्रकाशित किया, वैसे ही समस्त वैदिक वाङ्मय में जो विभिन्न विषय हैं उनके तत्त्व का प्रकाश भी मोहावरण-घाती इतिहास-रूप प्रदीप से ही सम्भव है। अन्य कोई मार्ग नहीं है। संस्कृत भाषा में लिखे सभी लेखों को **बाबावाक्यं प्रमाणम्** के सहारे अधिक काल तक प्रामाणिक घोषित नहीं कर सकते। इसमें विभिन्न ग्रन्थों में निर्दिष्ट यज्ञ में गवालम्भन को आपके द्वारा अप्रमाण स्वीकार करना ही प्रमाण है। यतः इसे स्वीकार करने से पौराणिक जगत् की रही सही भित्ति की नींव भी हिल जायेगी, यह सोच कर उसे बचाने के लिये करपात्री जी ने महान् छल प्रपञ्च किया है।

हम तो यज्ञ में किसी भी पशु का आलम्भन नहीं मानते, अतः हमारे मत में गौ का आलम्भन स्वतः अप्राप्त है। हम सूत्र ग्रन्थों के उन सभी वचनों को **विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्** (मीमांसा १।३।३) वचन के अनुसार वेदविरुद्ध होने से प्रामाणिक नहीं मानते हैं।

इतिहास को, जो शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत है, प्रमाण न मानने से कैसी भूलें होती हैं, इसका एक उदाहरण वेदार्थपारिजात की प्रस्तावना से देते हैं—

प्रस्तावना के लेखक ने लिखा है—**रामायणकालात् प्रागेव कठतैत्तिरीय-शाखाध्यायिन आसन्निति महर्षिवाल्मीकेरादिकवेर्वचनादवगच्छामः** (पृष्ठ ७)। अर्थात् रामायण से पहले ही कठ तैत्तिरीय शाखाध्यायी विद्यमान थे, यह महर्षि वाल्मीकि के वचन से जानते हैं (वाल्मीकि का वचन उद्धृत नहीं किया)।

महाभारत आदि इतिहास से सिद्ध है कि भगवान् कृष्ण द्वैपायन ने कृष्ण यजुर्वेद अपने शिष्य वैशम्पायन को पढ़ाया। वैशम्पायन ने तित्तिरि कठ आदि कई शिष्यों को पढ़ाया। आधुनिक मीमांसकों और शबरस्वामी के (१।१।३०) **आख्याप्रवचनात्** मीमांसा सूत्र के भाष्य से स्पष्ट है कि कठ तैत्तिरीय कालाप आदि नाम प्रवचन-निमित्तक हैं। तदनुसार शाखा-ग्रन्थों को अपौरुषेय मानने पर भी कठ तैत्तिरीय आदि नामकरण तो महाभारतकालिक तित्तिरि कठ कलापी आदि के प्रवचन के कारण ही हुआ है। ऐसी अवस्था में वाल्मीकि

रामायण के जिस वचन (अयोध्या काण्ड ३२।१५-१८) में ये नाम आये हैं वह वचन वाल्मीकि का नहीं हो सकता। निश्चय ही इस वचन को प्रस्तावना लेखक सदृश किसी कृष्ण यजुर्वेदी ने अपनी शाखा को प्राचीन सिद्ध करने के लिये रामायण में मिलाया है। यदि प्रस्तावना के लेखक इतिहास का कुछ भी ज्ञान रखत होते, तो ऐसा इतिहास-विरुद्ध कथन कभी नहीं करते।

आधुनिक इतिहास-ज्ञान-शून्य ग्रन्थ-सम्पादक भी इतिहास के अज्ञान से अपने कार्य में भटक जाते हैं। वाल्मीकि रामाण के परिश्रमपूर्वक सम्पादित बड़ोदा के संस्करण में भी इन श्लोकों को मूल ग्रन्थ में स्थान देना इस बात को प्रमाणित करता है कि सम्पादक महोदय ने अपने सम्पादन कार्य में इतिहास का आश्रय नहीं लिया, अन्यथा सम्पादक इन श्लोकों को मूल पाठ में कदापि न रखते।

इतना ही नहीं, स्वामी करपात्री जी आदि समस्त पौराणिक विद्वान् पुराणों के अनुसार यह मानते हैं कि 'पहले एक ही वेद था, कृष्ण द्वैपायन व्यास ने उनका चतुर्धा विभाग किया।' यदि पुराणों में इस कथन को स्वामी करपात्री जी आदि प्रमाण मानते हैं,तो वेद की विभिन्न शाखाओं को वे अपौरुषेय वा अनादि नहीं मान सकते। उन्हें किसी लेख को अप्रमाण मानना ही पड़ेगा। चाहे पुराणोक्त चतुर्धाकरण को अप्रमाण मानें,चाहे शाखाओं के अपौरुषेयत्व तथा अनादित्व का परित्याग करें। ये लोग उभयतः पाश से बन्धे हैं।

इस दोष से छुटकारा शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों को कठ तित्तिरि ऐतरेय याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा प्रोक्त मानने से ही हो सकता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने स्पष्ट ही लिखा है—

यद्यप्यर्थो नित्यः याऽसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकमिति ॥ महा० ४।३।१०१॥

अर्थात् शाखाओं की वर्णानुपूर्वी अनित्य है। उसी के भेद से काठक कालापक मौदक पैप्पलादक आदि व्यपदेश होता है। (इस विषय में विशेष मीमांसा-भाष्य-व्याख्या, भाग १, पृष्ठ १०६–११४ पर देखें)

इसी तत्त्व का समर्थन काशिका १।३।४९ के **अनुवदते कठः कलापस्य** (कठ कलाप का अनुकथन करता है) वचन से भी होता है।

इसलिये कठ कलाप तैत्तिरीय आदि शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों का

प्रवचन महाभारतकाल में हुआ, इस इतिहाससिद्ध तथ्य को अनीश्वरवादी मीमांसकों और पौराणिक विद्वानों के कथन से झुठलाया नहीं जा सकता।

उपसंहार

हमने 'श्रौत-यज्ञ-मीमांसा' प्रकरण में श्रौतयज्ञ-सम्बधी अनेक विषयों पर विचार किया है। उसका सार इस प्रकार है—

१—मन्त्रों में प्रयुक्त 'यज्ञ' शब्द का साक्षात् द्रव्यमय यज्ञों के साथ सम्बन्ध नहीं है।

२—मन्त्रों में निर्दिष्ट सभी यज्ञ आधिदैविक सृष्टियज्ञ हैं।

३—परोक्षभूत आधिदैविक सृष्टियज्ञों की व्याख्या करने के लिये मूलभूत द्रव्यमय श्रौतयज्ञों की कल्पना ऋषियों ने की है, जैसे भूगोल-खगोल का ज्ञान कराने के लिये मानचित्र कल्पित किये जाते हैं, और उनके वर्णन करने वाले ग्रन्थ लिखे जाते हैं; अथवा परोक्षभूत लौकिक घटनाओं के प्रत्यक्षीकरण के लिये नाटक लिखे जाते हैं, और उनका मञ्च पर अभिनय किया जाता है, उसी प्रकार सृष्टियज्ञ का ज्ञान कराने के लिये यज्ञवेदि पर यज्ञीय अभिनय किया जाता है।

४—श्रौतयज्ञों का आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत् की सूक्ष्म तथा परोक्ष घटनाओं वा क्रियाकलाप का बोध कराना उद्देश्य है, और इनका आनुषङ्गिक फल जलवायु की शुद्धता के साथ त्यागमय जीवनयापन का उपदेश भी है।

५—सृष्टि के आरम्भ में द्रव्यमय यज्ञ प्रचलित नहीं थे। वेद के आधार पर यज्ञों का प्रचलन पहले असुरों में हुआ, और तत्पश्चात् मानवों में हुआ।

६—असुर आरम्भ में वैदिक मर्यादानुसार शुद्ध सात्विक जीवनयापन करते थे,वे लोक में पूज्य थे। कालान्तर में काम क्रोध एवं राजमद के कारण भ्रष्ट हुए, और निन्दा के पात्र बने। तत्पश्चात् देव भी अधिकार पाकर कालान्तर में वैदिक पथ से भ्रष्ट हुये। इन्द्र के दुश्चरित्र की कथाएं इतिहास पुराण में प्रसिद्ध हैं। भारतीय अनेक राजाओं ने देवासुर संग्रामों में देवों का साथ दिया था, और देवों को विजयी बनाया था। इसके फलस्वरूप अनेक भारतीय नरेश इन्द्र के अर्ध सिंहासन के अधिकारी भी बने। इस प्रकार भारतीय राजाओं का पतनोन्मुख देवों के साथ सम्बन्ध होने से भारतीय राजाओं में भी मर्यादाक्षय आरम्भ हुआ। भारतीय ऋषि-मुनियों ने चिरकाल तक भारतीय मानवों के वैदिक-चरित्र-रक्षण में महनीय प्रयास किया। किन्तु उत्तर-

काल में ब्राह्मणों में भी कामक्रोध लोभ के उदय होने से मर्यादा-रक्षण शिथिल होने लगा, और यज्ञों में पशुहिंसा के रूप में मांसाहार प्रवृत्त हुआ।

७—श्रौतयज्ञों में उत्तरोत्तर परिवर्तन-परिवर्धन हुए। काम्य यज्ञों का प्रचलन आरम्भ हुआ। यज्ञों में बाह्याडम्बर का विस्तार एवं वैदिक भावना के प्रतिकूल अंशों का सम्मिश्रण हुआ। यज्ञों में पशुहिंसा प्रचलित हुई।

८—नये नये यज्ञों के उपक्रम के कारण विनियोग के अनुरूप मन्त्र उपलब्ध न होने पर पद अक्षर वर्णमात्र के सादृश्य से विनियोग करने की प्रथा आरम्भ हुई, और नये कर्मकाण्डीय मन्त्र बनाये गये।

९—यज्ञ के अदृष्टवाद ने मन्त्रानर्थक्यवाद को जन्म दिया।

१०—सृष्टियज्ञ-गत **पुरुषमेध अश्वमेध गोमेध** आदि में कहीं किसी पशु-तत्त्व की हिंसा नहीं हुई है। दैवी शक्तियों के आलभन=स्पर्श=सहयोग से गुणों का आधान ही हुआ है, और होता हैं।

११—सृष्टियज्ञान्तर्गत पुरुषमेध अश्वमेध गोमेध आदि में प्रतिनिधिरूप से पुरुष अश्व गौ आदि उपस्थापित किये जाते हैं। पर्यग्निकरण के पश्चात् तत्तद्-देवतानिर्देशपूर्वक स्पर्श करके उनका उत्सर्जन हो जाता है।

१२—पशुयज्ञों में विहित पशु-पुरोडाश का विधान मूलतः यज्ञीय पशु के उत्सर्ग के पश्चात् आरप्स्यमान कर्म की पूर्ति के लिये किया गया था।

१३—**आलभते** वा **आलभेत** पदों का अर्थ आलम्भन=हिंसा करना नहीं है। मूलतः **लभ** और **लम्भ** दो स्वतन्त्र धातुएं हैं, और अर्थ भी इनका भिन्न-भिन्न है। धात्वैक्य के व्यामोह से **आलभते** का अर्थ मारना किया जाता है।

१४—**मानव** आदिकाल में निरामिष-भोजी था। इसकी शरीर-रचना भी आमिषभोजियों से भिन्न है, और फल मूल घासादि खानेवाले प्राणियों के समान है।

१५—यज्ञीय **अज** का अर्थ छाग (=बकरा) नहीं है, अपितु प्ररोहण (=उगने) में असमर्थ ३ से ७ वर्ष पर्यन्त पुराने धान्यबीजों का 'अज' नाम है।

इन प्रमुख विषयों के अतिरिक्त प्रसक्तानुप्रसक्त अनेक यज्ञीय विषयों पर हमने प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

मूलतः प्राचीन द्रव्यमय यज्ञों में पशुहिंसा न होने पर भी वर्तमान में उप-

लब्ध वेद की शाखाओं ब्राह्मण-ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में इनका विधान पाया जाता है। हमारे विचार में यह भाग उत्तरकाल में याज्ञिकों द्वारा जोड़ा गया है (द्र०—मीमांसाभाष्य-व्याख्या, पृष्ठ ३०४–३०५), अथवा इसे वेद और आद्य यज्ञभावना के विपरीत होने से विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् (मी० १।३।३; पृष्ठ २३० पर विशेष विचार) इस जैमिनीय न्याय के अनुसार त्याज्य मानना चाहिये। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिंसापरक वचनों के सम्बन्ध में 'उत्तरकाल में ग्रन्थ में जोड़ना अथवा प्रक्षेप करना' में प्रबल हेतु न होने से जैमिनीय-न्याय का अनुसरण करते हुए लिखा है—

'जो ब्राह्मण वा सूत्र वेदविरुद्ध हिंसापरक हो, उसका प्रमाण न करना।' संस्कार-विधि, वेदारम्भसंस्कार के अन्त में (द्र०—रा० ला० कपूर ट्रस्ट, विशिष्ट संस्क०, पृष्ठ १३१, संवत् २०३१)।

॥ नमो यज्ञकर्म-प्रवर्तृभ्यः, नमो यज्ञानुष्ठातृभ्यः ॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

सूक्ष्माः परोक्षा घटनाः सृष्टौ याः सन्ति चित्रिताः।
आध्यात्मिक्यधिदैविक्यस्तासां यागत्वकल्पना ॥१॥

ऋषिभिः कल्पिता पूर्वं रहस्यज्ञापनेहया।
सूर्यादयः पदार्था ये पशुशब्दैः समीरिताः ॥२॥

गोऽश्वाऽविपुरुषाः शब्दा मेधान्तास्तत्र कल्पिताः।
न साक्षात् पशवस्तेऽत्र नहि तेषां विहिंसनम् ॥३॥

अद्भुता घटनास्ताः स्युर्ज्ञाताः सर्वैरितीहया।
पुरा त्रेतायुगे यागा ऋषिभिः कल्पिता भुवि ॥४॥

निष्कामा एव ते पूर्वं श्रौतयागाः प्रवर्तिताः।
द्रव्यत्यागप्रवृत्यर्थाः समाजोन्नति-साधकाः ॥५॥

स्वल्पप्रयास-साध्यास्त आडम्बरविवर्जिताः।
सृष्टि-यागाभिनीत्यैव श्रौत-याग-प्रवर्तनम् ॥६॥

यथा नाट्ये प्रदर्श्यन्ते मिथ्यापात्राणि साम्प्रतम्।
तथैव ते पुराऽभूवन् सृष्टियागाभिनायकाः ॥७॥

नान्यल्लक्ष्यं पुरा किञ्चित्तेषामासीदिति ध्रुवम्।
प्रजा-शिक्षणकामास्तेऽप्यासन् विश्वजिदादयः ॥८॥

राजसूयादयोऽप्येवमश्वमेधादयस्तथा ।
प्रजासु त्यागशिक्षार्थमध्वरा एव तेऽभवन् ॥९॥
शतक्रतुरभूच्छक्रो राजानोऽप्यश्वमेधिनः ।
सूर्यप्रतीकयज्ञोऽसावश्वमेधः प्रवर्तितः ॥१०॥
पर्यग्निकरणस्यान्तेऽश्व-मोकः स्पर्शपूर्वकः ।
पशुयागे पुरोडाशो विहितोऽङ्गप्रपूर्तये ॥११॥
इत्थं वैज्ञानिकैः सर्वैर्ऋषिभिः कल्पिता मखाः ।
आसन्नहिंसया सिद्धाः सृष्टियज्ञप्रतीकिनः ॥१२॥
गतेऽथ बहुले काले काम्ययागादयोऽभवन् ।
आडम्बरादयो दोषा विनियोगादिकल्पनाः ॥१३॥
मनुष्य-दोष-बहुलाः श्येनाभिचरणादयः ।
विविधा ब्राह्मणैर्यागा अमर्यादाः प्रवर्तिताः ॥१४॥
कामराग-प्रवृत्या चालस्यान्नादिप्रदोषतः ।
अज्ञानेन प्रमादेन जिह्वालौल्येन कर्मणा ॥१५॥
इन्द्रादिदेवपक्षेण वसुपरिचरेण हि ।
वञ्चयित्वर्षिसन्दिष्टं तथ्यमर्थं श्रुतिस्थितम् ॥१६॥
अजशब्दस्य बीजार्थं छागार्थे विनियुञ्जता ।
हिंसा प्रवेशिता तत्र क्रतावध्वर-संज्ञके ॥१७॥
द्रष्टव्यो भारते ग्रन्थे शान्तिपर्वणि सुस्फुटम् ।
मुन्यग्न्यग्निमिते (३३७) ऽध्याये संवादोऽप्यृषिदेवयोः ॥१८॥

[इमे श्लोकाः काशीस्थविद्वन्मण्डलाध्यक्षैः विविधशास्त्रपारावारीणैः श्रीमद्भिर्दर्शनकेसरीत्युपनामकैर्गोपालशास्त्रिभिर्विरचिताः सन्ति ।]

भावार्थ—सृष्टि में जो आध्यात्मिक एवं आधिदैविक सूक्ष्म अतीन्द्रिय घटनाएं होती हैं, उनके विषय में यज्ञों की कल्पना की गयी है ॥१॥ ऋषियों ने रहस्य को समझाने के लिये सूर्य इत्यादि पदार्थों का पशु-वाची शब्दों से वर्णन किया है ॥२॥ सूर्यादि पदार्थों में गो, अश्व, अवि और पुरुष शब्दों की कल्पना की गयी है, वे साक्षात् पशु नहीं हैं और न उनकी हिंसा होती है ॥३॥ सृष्टि की उन विचित्र घटनाओं को चित्रित करने के लिये सर्वप्रथम त्रेता युग में ऋषियों ने यज्ञों की कल्पना की ॥४॥ श्रौत-ग्रन्थों में वर्णित वे सभी याग प्रारम्भ

में निष्काम ही होते थे। उनका लक्ष्य द्रव्य का त्याग एवं समाज की उन्नति करना था ॥५॥ वे सभी श्रौतयाग अल्पप्रयास-साध्य एवं आडम्बरों से रहित थे, तथा सृष्टि में हो रही घटनाओं का चित्रण करने के लिये ही उनका प्रचलन हुआ ॥६॥ जैसे नाटक में काल्पनिक पात्र दिखाए जाते हैं, उसी प्रकार इन यागों में भी कल्पना की गयी ॥७॥ पहले इन यागों का इसके अतिरिक्त और कोई लक्ष्य नहीं था। विश्वजित् आदि सभी याग प्रजा को सिखाने के लिये थे॥८॥ इसी प्रकार राजसूय अश्वमेध आदि याग भी प्रजा में त्याग की भावना सिखाने के लिये होते थे ॥९॥ सौ यज्ञ करके इन्द्र शतक्रतु कहलाये, अश्वमेध करके राजा अश्वमेधी कहलाये। यह अश्वमेध यज्ञ सूर्य का प्रतीक है ॥१०॥ पर्यग्निकरण के पश्चात् स्पर्श करके अश्व को छोड़ दिया जाता था, तथा अङ्ग-पूर्त्ति के लिये पुरोडाश का विधान किया गया ॥११॥ इस प्रकार सभी वैज्ञानिक ऋषियों ने सृष्टि यज्ञ के प्रतीकात्मक यज्ञों की कल्पना की ॥१२॥ पर्याप्त समय पश्चात् काम्ययाग होने लगे, तथा अनेक आडम्बर एवं विनियोग आदि दोषों की कल्पनाएं की गयीं ॥१३॥ ब्राह्मणों ने अनेक मर्यादा-रहित एवं मानव-दोष से परिपूर्ण श्येनाभिचरण आदि यागों का प्रचलन किया ॥१४॥ काम, राग, आलस्य, अज्ञान, प्रमाद तथा जिह्वा की लोलुपता से युक्त ये याग होने लगे ॥१५॥ इन्दादि देवों ने ऋषियों के द्वारा कहे गये वेदोपदिष्ट अर्थ को न मान कर इन यागों को किया ॥१६॥ बीजार्थवाची अज शब्द का अर्थ बकरा करते हुए अध्वर-नामक यज्ञ में हिंसा का अवलम्बन किया ॥१७॥ 'महाभारत' के शान्तिपर्व (अध्याय ३३७) में ऋषियों और देवों का संवाद देखना चाहिये ॥१८॥

———

सोमयागे वृष्टिविज्ञानम्

(पूर्वत्र २३ तमे पृष्ठे २१ पङ्क्तौ संकेतितोंऽशः)।

वैदिकवाङ्मयस्य सूक्ष्मदृष्ट्यावलोकनेनैतद् रहस्यमतितरां विस्पष्टं भवति, यत् तत्र विहिता अग्न्याधानादारभ्य सहस्रसंवत्सरसाध्यान्ता नैत्यिका यज्ञक्रतवः सर्गादारम्य सहस्रचतुर्युगपरिमिते ब्राह्मेऽहनि परब्रह्मणा संपद्यमानानां तत्सान्निध्येन वा प्रवर्त्यमानानाम् आधिदैविकानां यज्ञक्रतूनां दृष्टादृष्टरहस्यानां निगमयितारः सन्ति। यथाऽग्न्याधाने वेदिनिर्माणे ये अब्वराहविहतमृद्वल्मीकवपोषसिकताशर्करेष्टकाहिरण्यौषधिवनस्पतिरूपा संभाराः संभ्रियन्ते, ते पृथिवीरूपाया वेद्याः सलिलमय्यवस्थात आरम्य तत्र क्रमशो मृदादीनां प्रादुर्भावान् लक्षयन्ति।

तदुक्तम्—'स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत········स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापमूषं सिकतं शर्करा अश्मानमयोहिरण्यमोषधिवनस्पत्यसृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्। ता वा एता नव सृष्टयः' (शत० ब्रा० ६।१।१।१३)[1]। पृथिव्या वेद्याश्च साम्यम्—'इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः' (ऋ० १।१६४। ३५) इत्यस्यामृच्युक्तम्। ओषधिवनस्पतीनां प्रादुर्भावानन्तरं तासां शाखानां प्रचण्डवायुना परस्परं संघर्षणेन यथा पृथिव्याः पृष्ठे प्रथममग्नेः प्रादुर्भावः समजनि तस्यैव निदर्शनम् आधानेऽरण्योः संघर्षणेन अग्न्युत्पादनप्रक्रियया क्रियते। इत्थमेव अहोरात्रयोः शुक्लकृष्णपक्षयोः चातुर्मासिकर्तुषु दक्षिणोत्तरायणयोः सृष्टौ यद्यत् परिवर्तनं लक्ष्यते तस्य तस्य व्याख्यानम् अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यगवामयनयागैर्विधीयते। तदनन्तरं **सोमयागेन सांवत्सरिकं वृष्टिविज्ञानं व्याख्यायते**। एवं द्वादश-षट्त्रिंशत् षष्टि-शतवर्षेषु सहस्रचतुर्युगेषु यदाधिदैविके जगति परिवर्तनं भवति, तस्य व्याख्यानं द्वादशाहादारम्य सहस्रसंवत्सरसाध्यानि सत्राणि कुर्वन्ति।[2]

---

१. मैत्रायणीयसंहितायाम् (१।६।३) अस्याः सृष्टिप्रक्रियाया विस्तरेण व्याख्यानमुपलभ्यते। अस्माभिरयं विषयः पूर्वत्र १६ पृष्ठादारभ्य २३ पृष्ठपर्यन्तं विस्तरेण प्रपञ्चितः।

२. "वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्" (ऋ० १०।७१।५) इति ऋक्चरणं व्याख्यायता यास्केनोक्तम्—"अर्थं वाचः पुष्पफलमाह—याज्ञदैवते पुष्पफले

अस्मिन् निबन्धे सोमयागप्रक्रियया यथा वृष्टिविज्ञानं व्याख्यायते तस्य निदर्शनं संक्षेपतः प्रस्तूयते—

प्राथमिकोऽग्निष्टोमकः सोमयागः साङ्गोपाङ्गः षडहःसाध्यः। तत्र प्रथमेऽहनि दीक्षणीयेष्ट्या यजमानस्य तत्पत्न्याश्च दीक्षारूपं प्रधानं कर्म संपाद्यते। उत्तरेषु त्रिष्वहःसु उपसदिष्टयः प्रवर्ग्यश्च क्रियते। पञ्चमेऽहनि प्रातःसवन-माध्यन्दिनसवनतृतीयसवनरूपेण त्रिधा विभज्य सोमाभिषवपूर्वकः सोमयागो भवति। षष्ठेऽहनि उपसंहाररूपमवभृथसंज्ञकं कर्म निष्पाद्यते। अत्र त्रयः पशवोऽप्यालभ्यन्ते। सुत्यादिनात् पूर्वदिनेऽग्नीषोमीयः, सुत्यादिने सवनीयः, षष्ठेऽहनि मैत्रावारुणी वशा गौरनुबन्ध्या।

इदमत्रावधेयम्—ये खलु अस्मिन् ब्रह्माण्डे यज्ञक्रतवः अहर्निशमनुष्ठीयन्ते तेषामेके पृथिवीस्थानीयाः, अन्येऽन्तरिक्षस्थानीयाः, अपरे च द्युस्थानीयाः सन्ति। तत्र पूर्वोक्ता वेदिरूपा पृथिव्यपि त्रिस्थानीया, यस्मिन् अग्नौ हूयन्ते, सोऽग्निरपि त्रिस्थानीयः। पृथिव्याः त्रिस्थानीयत्वम्, **'यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थः'** (ऋ० १।१०८।१०) इत्यृचि प्रतिपाद्यते। वैदिकनिघण्टावपि पृथिवीपदं त्रिस्थानीयासु देवतासु त्रिः पठ्यते। तत्र अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यानां वेदिरेतल्लोकप्रतिरूपा, सोमयागानाम् अन्तरिक्षरूपा, अग्निचयनानां च द्युप्रतिरूपा। यथैतेषां लोकानां परिमाणभेदः, तथैतेषां यागानां या वेदयः तासामपि परिणामभेदो विधीयते।

एवं च अग्निष्टोमादीनां सोमयागानां या महावेदिरुत्तरवेदिर्वा सा अन्तरिक्षरूपा प्राकृतवेद्यपेक्षया महती भवति, प्राकृतवेदेश्च पृथङ् निर्मीयते। यद्यपि आधिदैविके सोमयागे अन्तरिक्षरूपैकैव वेदिः, तथापि इह लौकिके सोमयागे सौकर्याय सदोमण्डप-हविर्धानमण्डप-उत्तरवेदिरूपेण त्रिधा विभज्य कर्म संपाद्यते।

अस्मिन् सोमयागे प्रवर्ग्यसंज्ञकं कर्म, अरुणया एकहायन्या गवा सोमक्रयणम्, हविर्धानमण्डपे द्वयोः हविर्धानसंज्ञकयोः शकटयोः स्थापनम्, सोमाभिषवप्रक्रिया,

---

देवताध्यात्मे वा" (निरुक्त १०।२०)। अनेन यज्ञप्रक्रियाज्ञानपुरःसरमाधिदैविकविज्ञानं भवति। आधिदैविकविज्ञानपुरःसरं च अध्यात्मविज्ञानं जायत इत्युक्तं भवति। अत्र **'यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे'** इत्युक्तिरप्यनुसन्धेया। इदं च तदैव संभवति यदधियज्ञमधिदैवतमध्यात्मं च साम्यं स्यात्। अत एव ब्राह्मणग्रन्थेषु बहुत्र यज्ञप्रक्रियां व्याख्याय, **'इत्यधियज्ञम्, अथाधिदैवतम्, अथाध्यात्मम्'** इति श्रूयते।

यथा — भूमावुपरवाणां खननम्, तदुपरि अभिषवफलकयोः स्थापनम्, तदुपरि (मृगचर्म निधाय) शिलाया निधानम्, तत्र सोमांशून् निक्षिप्य तेषां ग्रावभिः कुट्टनम्, प्रातःसवन-माध्यन्दिनसवन-तृतीयसवनेषु सोमपरिमाणस्योत्तरोत्तरमपचय इत्येवमादीनि विशेषतो विवेचनीयानि सन्ति ।

पूर्वोक्ताः त्रयः पशवोऽपि अत्र महत्वपूर्णां भूमिकां निर्वहन्ति । तत्र तावद् आधिदैविकपक्षे क एते पशव इति जिज्ञासायाम्—**'अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त, वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त, सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त'** इति याजुषी श्रुतिः (माध्य० २३।१७) क्रमशः त्रिलोकस्थान् अग्निवायुसूर्यान् पशून् निर्दिशति । इममेवार्थतत्त्वं निरुक्ते (निरु० १२।४१) उद्ध्रियमाणम्, **'अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त तेनायजन्त'** इति ब्राह्मणवचनं परिपोषयति । सोमयागोऽन्तरिक्षस्थानीय इत्युक्तं प्राक् । तेन सोमयागे निर्दिष्टाः त्रयः पशवो मध्यमस्थानीया एव । मध्यमस्थानीयो वायुरेवावस्थाभेदेन त्रिधा विभक्तः पशुत्रयरूपेण निर्दिश्यते ।

अथोपरि परिगणितानां विशिष्टकर्मणां विवेचनं क्रियते—

प्रवर्ग्यः—प्रवर्ग्यसंज्ञके कर्मणि महावीराभिधेये मृन्मयपात्रे घृतं निधाय नितरामुत्तप्यते । अस्मिन् काले यज्ञशालाया द्वाराणि पिधीयन्ते । बाहुपरिमितेषु काष्ठेषु मृगचर्म निबद्ध्य तैः व्यजनवत् प्रतिमन्त्रं वायुरूर्ध्वं प्रेर्यते । उत्तप्ते घृते गवाजपयः प्रक्षिप्यते । तत्प्रक्षेपेण उत्पन्नया ज्वालया महोष्मा उत्पद्यते । एतेन कर्मणा वृष्टौ सहायीभूतस्य ग्रीष्मर्तोः कर्म व्याख्यातं भवति । ग्रीष्मर्तौ हि महता तापेन भूमिष्ठा आप उत्तप्य वाष्पीभूयाधिक्येनान्तरिक्षं प्रयान्ति ।

सोमक्रयः—अरुणया एकहायन्या गवा सोमः क्रीयते । अत्र अरुणा एकहायनी एकहायनानन्तरं वर्षर्तौ प्रकटीभूता गौःशब्दात्मिका विद्युत् । विद्युतो गोत्वं शब्दकर्म च—**'अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता'** (ऋ० १।१६४।२९) इत्यस्यामृचि स्पष्टं वर्ण्यते । (अत्र यास्कीयं निरुक्तं २।९ द्रष्टव्यम्) । सोमश्च सोमयागस्य हविः । सोमोऽन्तरिक्षस्थानीयो देवः, स च वाष्पीभूतानां जलानां संघातरूपः । हविःपदमपि निघण्टौ मेघनाम्नां समाम्नानानन्तरं पठितेषु जलनामसु पठ्यते । सोमरूपं हविर्मेघरूपेण वृत्रेण अवरुद्ध्य विद्युद्रूपस्य वज्रस्य प्रहारेण अभिषवनं प्राप्य अर्थात् तरलरूपमासाद्य भूमौ पतति । तथा च पर्जन्यसूक्ते मन्त्रवर्णः—**'अर्वाङेतेन स्तन-**

यित्नुने ह्यपो निषिञ्चन्' (ऋ० ५।८३।६) इति। अरुणा विद्युदेव वर्ष-कर्मणि निमित्ता भवति। अन्यवर्णास्तु उत्पातान् जनयन्ति। तथा चोक्तम्—

"वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
कृष्णा सर्वविनाशाय दुर्भिक्षाय सिता भवेत्॥"

अग्नीषोमीयः पशुः—अयं सुत्यादिनात् पूर्वदिन आलभ्यते। अग्नीषोमौ देवते अस्य, तादृशोभयधर्मयुक्तो वर्षर्तोरादौ दक्षिणपश्चिमदिशः प्रवर्तमान आर्द्रं वायुः (मानसून) एव पशुः (वायोः पशुत्वं पुरा निर्दशितम्)। तस्य प्राप्ति-रेवालभनम्।

हविर्धानमण्डपम्—हविः धीयते निधीयते स्थाप्यतेऽत्रेति हविर्धानम्। सोमरूपं हविः यस्मिन् मण्डपे स्थाप्यतेऽभिषूयते च तन्मण्डपं हविर्धानमण्डप-मित्युच्यते। एतच्च अस्मिन्नाधिदैविके जगति अन्तरिक्षस्य स प्रदेशो यत्रेतो गता वाष्पीभूता आपः सन्तिष्ठन्ते।

द्वे हविर्धानशकटे—हविर्धानस्य पूर्वोक्तयैव व्युत्पत्त्या ययोः शकटयोरुपरि सोमरूपं हविर्निधीयते, ते शकटे अपि हविर्धाने इत्युच्येते। सोमोऽन्तरिक्ष-स्थानीयो देवो हविरिति जलनामेत्युक्तं प्राक्। एतत् हविरूपं जलं मेघेषु निहितं भवतीति कृत्वा मेघा एव हविर्धानानि। मेघानां संघर्षणेनैव तेषु विद्युद् उत्पद्यते। संघर्षणं च द्वयोः मेघयोः मेघावयवयोर्वा परस्परं भवतीति कृत्वा सोमयागे हविर्धानमण्डपे दक्षिणोत्तरयोः विपरीतदिशोऽर्द्धे हविर्धानशकटे स्था-प्येते। मेघानां घर्षणं गत्या विना न संभवतीति कृत्वा अत्र सोमयागे गति-समर्थे शकटे हविर्धानरूपेण स्थाप्येते।

सोमाभिषवः—ग्रावभिः सोमलताया अंशूनामभिषवार्थं कुट्टनं क्रियते। सोमाभिषवार्थमेको ग्रावा हविर्धानशकटस्याधस्तान्निधीयते, अपरं हस्ते गृहीत्वा कुट्टनं क्रियते। निघण्टौ ग्रावापदं मेघनामसु पठ्यते। तेनात्रत्या ग्रावाण आधि-दैविके यज्ञे अन्तरिक्षस्था मेघाः। सोमाभिषवे ग्रावभिः कुट्टने शब्द उत्पद्यते। अन्तरिक्षस्थानां ग्राव्णां मेघानामपि संघर्षे तादृशो भयंकरः शब्द उत्पद्यते, येन प्राणिन आत्मत्राणार्थम् इतस्ततः पलायन्ते। तथा च भवति पर्जन्यसूक्ते मन्त्र-वर्णः—'**विश्वं बिभाय भुवनं महावधात्**' (ऋ० ५।८३।२) इति। यथा सोम-लताया रसः ग्रावभिः कुट्टनेन निःस्रवति, तथैव मेघानां संघर्षणेन उत्पद्य-मानाया विद्युतः प्रहारेण मेघे निरुद्धा आपः द्रवीभूय पृथिवीमाप्नुवन्ति। तदु-क्तम्—

"दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद् ववार ॥"
(ऋ० १।३२।११)

यास्काचार्य इदं मन्त्रं अहिगोपा अहिना (मेघेन) गुप्तः । (इन्द्रः विद्युत्) (वृत्रं) मेघं जघ्निवान् । अपववार तद् (निरु० २।१७) इति व्याचख्यौ । अहि-वृत्रनाम्नी मेघनामसु पठ्येते ।

अधिषवणफलकयोः स्थापनम्—यस्याः शिलाया उपरि अंशून् निधाय अभिषुण्वन्ति तस्या अधस्ताद् उपरवाणां चोपरिष्टाद् द्वे काष्ठफलके निधीयेते । ते 'अधिषूयतेऽस्मिन्' इति व्युत्पत्त्या अधिषवणनाम्नाभिधीयेते । तयोः प्रयोजनं सोमाभिषवे यद्यधस्तना शिला कथंचिद् भिद्येत, तर्हि सोमांशूनां भूमौ पतनं मा भूदिति । एवम् अन्तरिक्षेऽपि मेघानां संघर्षणेन यन्महज्जलमभिषूयते, तत् सहसा पृथिवीं नाप्नुयात्, एतदर्थं विविधपरमाणूनां तादृश्येका पट्टिका वर्तते, ययोत्पन्नजलं विकीर्णीभूय भूमिं प्राप्नोति । अन्यथा सहसा समग्रस्य जलस्य निपाते प्राणिनां महती हानिः स्यात् । एतस्याधिदैविकतत्त्वस्य निदर्शनायैव सोमाभिषवकाले शिलाया अधस्ताद् अधिषवणफलके निधीयेते ।

उपरवाणां खननम्—उपरवनामानः चत्वारो गर्तविशेषाः । हविर्धानशक-टस्य अधस्तात् ते च तथा खन्यन्ते, यथा तेषां मुखानि परस्परमसंस्पृष्टानि भवन्ति, परं तु अधस्तात् ते परस्परं मिलन्ति । एषामुपरवाणाम् उपरिष्टाद् अधिषवणफलके निधीयेते इत्युक्तं प्राक् । एषां किं प्रयोजनमिति चिन्ताया-मुच्यते—

पार्वत्यप्रदेशेषु बहुधा मेघानां विस्फोटो भवति । यं लौकिकाः 'बादल का फटना' इत्युपचरन्ति । एतादृश्याकस्मिके विस्फोटे मेघस्थं सर्वं जलं सहसा निपतति । तदुत्पन्नेन जलप्रवाहेण बहुसंख्यकाः प्राणिनः प्रवहन्ति, म्रियन्ते च । सोमयाग उपरवाणां खननेन इदमुपदिश्यते—यस्मिन् प्रदेशे प्रायेण मेघानां विस्फोटा जायन्ते, तत्र बह्वो गर्ताः परस्परं संमिलिता अभितः खननीयाः । येन सहसा समुत्पन्नं जलं तेषु गर्तेषु संगृहीतं स्यात् । तथा सति प्राणिनां प्राणहानि-र्नियन्त्रयितुं शक्यते ।

प्रतिसवनं सोमस्य परिमाणभेदः—अभिषवनीयं सोमं द्विधा विभज्य तस्य भूयान् भागः प्रातःसवने अभिषूयते, माध्यन्दिने सवने तस्य अवशिष्टोऽल्पी-यान् भागोऽभिषूयते । तृतीयसवने च पूर्वयोः सवनयोरभिषुतस्य सोमस्य य ऋजीषरूपो भागोऽवशिष्यते, स एवाभिषूयते । एतेन प्रतिसवनमभिसेच-

नीयस्य सोमस्य परिमाणभेदेन चातुर्मासिकेषु त्रिषु वर्षाशीतग्रीष्मर्तुषु या भूयसी अल्पा अल्पतरा च वृष्टिर्भवति, सा व्याख्याता भवति ।

(सवनीयः पशुः)—सुत्याहनि एकः पशुरालभ्यते । स सवनीयः पशुरित्युच्यते । तस्य वपया प्रातःसवने प्रचरन्ति, पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने, अङ्गैस्तृतीयसवने[1] इत्येषा याज्ञिकी प्रक्रिया । यज्ञेषु पश्वालम्भनं भवतु मा वा भवत्विति विचारस्य नायमवसरः । सोमयागस्य आधिदैविकप्रक्रियायाम् अन्तरिक्षस्थानं तत्रस्थश्च पशुर्वायुरित्युक्तं प्राक् । स चायं पशुर्वाष्पीभूतजलेन संयुक्तो मेघभावं प्राप्तः सवनीयः सवनार्हः । तादृशस्य सवनीयपशोर्यद् वपारूपं स्निग्धं सारभूतं तस्य प्रातःसवनस्थानीये वर्षर्तौ होमो भवति । तेन सर्वे प्राणिनः अनुप्राणन्ति, ओषधिवनस्पतयः प्ररोहन्ति । माध्यन्दिनसवनस्थानीये शीतर्तौ पुरोडाशस्येव कठोरा ये करकाः तेषां होमो भवति । अर्थात् शीतर्तौ करकाणां हिमस्य च वृष्टिर्जायते । तृतीयसवने तस्याङ्गानि हूयन्ते, अर्थाद् ग्रीष्मर्तौ मेघेषु जलानां योऽल्पतमो भागो यत्रकुत्र विद्यस्थितः स एव वर्षति ।

वशा गौरनूबन्ध्या—षष्ठेऽहनि वशा गौरालभ्यते । यतो यज्ञस्यानु पश्चाद् बध्यते, अतः तस्या अनूबन्ध्या नाम । इयं गौर्वशा अर्थाद् बन्ध्या भवति या न प्रसूते । आधिदैविकेऽपि वर्षकर्मरूपे सोमयागे निष्पन्ने ग्रीष्मर्तोः अन्त्यचरणे अतिस्वल्पजलवत्सु मेघेषु या विद्युद्रूपा गौर्हिङ्करोति सा शब्दरूपेणैव आलभ्यते प्राप्यते श्रूयते, न जलं वर्षति ।

एवं चास्मिन् निबन्धे ब्राह्मणादिवाङ्मये अधियज्ञमधिदैवतमध्यात्मं च यत् साम्यं स्थाने स्थाने निर्दर्शितं तमवलम्ब्य द्रव्यमयसोमयागेन यद् वार्षिकं वृष्टिविज्ञानं व्याख्यातं भवति, तस्य यथामति निदर्शनं प्रस्तुतम् । अत्र वेदविज्ञानशिरोमणयः वेदविज्ञानविचक्षणा विद्वांस एव प्रमाणम् ।

अन्ते च तत्र भवतां वेदोद्धारकाणां भट्टकुमारिलपादानाम्—

> आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि ।
> न हि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते ॥

इति वचनमुल्लिख्य विरमामि ।

---

१. द्र०—मी० सं० ३।६।१५॥

सोमयाग में वृष्टि-विज्ञान

वैदिक-वाङ्मय का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने से यह रहस्य अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि वहां अग्न्याधान से लेकर सहस्रसंवत्सर-साध्य पर्यन्त विहित यज्ञ, सृष्टि से लेकर सहस्रचतुर्युगी परिमाणवाले ब्राह्म दिन में परब्रह्म के द्वारा संपद्यमान अथवा उसके सान्निध्य से प्रवर्त्यमान आधिदैविक यज्ञों के दृष्ट अथवा अदृष्ट रहस्यों के परिचायक हैं। जिस प्रकार अग्न्याधान में वेदि-निर्माण के समय जो क्रमशः जल, वराहविहत (=सुअर से खोदी गई) मिट्टी, दीमक की बांबी की मिट्टी, ऊषर भूमि की मिट्टी, शर्करा (=रोड़ी), ईंटें, सुवर्ण तथा समिधायें रखी जाती हैं, वे पृथिवीरूपी वेदि की जलमयी अवस्था से लेकर वहां मिट्टी आदि की उत्पत्ति-पर्यन्त प्रक्रिया को परिलक्षित करती हैं। यथा—

'स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत········स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापमूष सिकतं शर्करा अश्मानमयो हिरण्यमोषधिवनस्पत्यसृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्। ता वा नव सृष्टयः' (शत० ब्रा० ६।१।१।१३)[1]। पृथिवी और वेदि का साम्य **'इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः'** (ऋ० १।१६४।३५) इस ऋचा में कहा है। ओषधि और वनस्पतियों की उत्पत्ति के पश्चात् प्रबल वायु से उनकी शाखाओं के परस्पर संघर्षण से जैसे पृथिवी पर प्रथम अग्नि की उत्पत्ति हुई, उसी का निदर्शन अग्न्याधान में अरणियों (=दो काष्ठों) को मथकर अग्नि उत्पन्न करने की प्रक्रिया से किया जाता है। इसी प्रकार दिन-रात में, शुक्ल-कृष्ण पक्ष में, चातुर्मासिक ऋतुओं में, दक्षिणायन तथा उत्तरायण में सृष्टि में जो-जो परिवर्तन दिखाई देता है, उस-उस का व्याख्यान अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य तथा गवामयन यागों के द्वारा किया जाता है। तत्पश्चात् **सोमयाग के द्वारा वार्षिक वृष्टि-विज्ञान की व्याख्या की जाती है।** इस प्रकार १२, ३६, ६० एवं १०० वर्षों में तथा हजार चतुर्युगियों में

---

१. मैत्रायणी संहिता (१।६।३) में इस सृष्टि-प्रक्रिया का व्याख्यान विस्तार से उपलब्ध होता है। हमने इस विषय पर पूर्व पृष्ठ १२६ से लेकर १४३ तक विस्तार से विचार किया है।

आधिदैविक जगत् में जो भी परिवर्तन होता है, उसका व्याख्यान द्वादशाह से लेकर सहस्रसंवत्सरसाध्य यागों के द्वारा किया जाता है ।[1]

इस निबन्ध में सोमयाग की प्रक्रिया के द्वारा जिस प्रकार वृष्टिविज्ञान की व्याख्या की गयी है, उसका संक्षेप से निदर्शन प्रस्तुत किया जाता है—

सर्वप्रथम अग्निष्टोम नामक साङ्गोपाङ्ग सोमयाग छः दिन में पूरा किया जाता है । प्रथम दिन में दीक्षणीयेष्टि के द्वारा यजमान तथा उसकी पत्नी का दीक्षारूप प्रधान कर्म संपन्न होता है । आगे के तीन दिनों में उपसद् इष्टियां और प्रवर्ग्य किया जाता है। पांचवें दिन सोम का अभिषव करके प्रातः-सवन, माध्यन्दिन सवन एवं तृतीय सवन द्वारा तीन बार में सोमयाग किया जाता है । छठे दिन उपसंहार के रूप में अवभृथ नामक कर्म निष्पन्न होता है । इस याग में तीनों पशुओं का आलम्भन किया जाता है । सुत्या-दिन से प्रथम दिन अग्नीषोमीय, सुत्या के दिन सवनीय और छठे दिन मैत्रावारुणी वशा अनुबन्ध्या गौ का आलम्भन किया जाता है ।

यहां यह विचारना चाहिये कि इस ब्रह्माण्ड में रात-दिन जो यज्ञ हो रहे हैं, उनमें कुछ पृथिवीस्थानीय हैं, कुछ अन्तरिक्षस्थानीय हैं और कुछ द्युस्थानीय हैं । पूर्वोक्त वेदिरूपा पृथिवी भी त्रिस्थानीय है । जिस अग्नि में हवन किया जाता है, वह अग्नि भी त्रिस्थानीय है । पृथिवी के त्रिस्थानीयत्व का वर्णन **'यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थः'** (ऋ० १।१०८।१०) इस ऋचा में किया गया है । वैदिक-निघण्टु में भी 'पृथिवी' पद त्रिस्थानीय देवताओं में तीन बार पढ़ा गया है । अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास और चातुर्मास्यों की वेदि इस लोक की प्रतिरूपक है । सोमयागों की वेदि अन्तरिक्ष

---

१. "वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्" (ऋ० १०।७१।५) इस ऋक्चरण का व्याख्यान करते हुए यास्क ने कहा—**"अर्थं वाचः पुष्पफलमाह—याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा"** (निरुक्त १०।२०) । इससे यह स्पष्ट होता है कि यज्ञप्रक्रिया के ज्ञान से आधिदैविक-विज्ञान उत्पन्न होता है, तथा आधिदैविक-विज्ञान से अध्यात्म-विज्ञान उत्पन्न होता है । इसी सन्दर्भ में **'यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे'** यह उक्ति भी अनुसन्धेय है । यह तभी संभव है जब कि अधियज्ञ, अधिदैवत एवं अध्यात्म की समानता हो । इसीलिये ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर यज्ञप्रक्रिया की व्याख्या के पश्चात् **'इत्यधियज्ञम्, अथाधिदैवतम्, अथाध्यात्मम्'** ऐसा उल्लेख देखा जाता है ।

की प्रतिरूपक है, तथा अग्निचयनों की वेदि द्युलोक की प्रतिरूपक है। जिस प्रकार इन तीनों लोकों के परिमाण में भेद है, उसी प्रकार इन यागों की जो वेदियां बनाई जाती हैं उनके परिमाण में भी भेद रखा जाता है।

इस प्रकार अग्निष्टोम इत्यादि सोमयागों की जो महावेदि अथवा उत्तर-वेदि बनाई जाती है, वह प्राकृत वेदि की अपेक्षा बड़ी होती है तथा प्राकृत वेदि से अलग बनाई जाती है। यद्यपि आधिदैविक सोमयाग में अन्तरिक्षरूपा एक ही वेदि है, फिर भी यहां लौकिक सोमयाग में सुविधा के लिये सदोमण्डप, हविर्धानमण्डप तथा उत्तरवेदि बनाकर तीन भाग करके कार्य सम्पन्न किया जाता है।

इस सोमयाग में प्रवर्ग्य संज्ञक कर्म, अरुणा एकहायनी गौ से सोम का खरीदना, हविर्धानमण्डप में दो हविर्धाननामक गाड़ियों की स्थापना, सोम का अभिषव, जैसे—भूमि पर उपरव खोदना, उसके ऊपर दो अभिषवफलक=काष्ठनिर्मित फलक रखना, उसके ऊपर (मृगचर्म रखकर) शिला रखना, उसके ऊपर सोम के टुकड़ों को रखकर ग्रावा=पत्थर से कूटना, प्रातःसवन-माध्यन्दिनसवन-तृतीयसवन में क्रमशः सोम का परिमाण उत्तरोत्तर घटते जाना इत्यादि कार्य विशेषरूप से विवेचनार्ह हैं।

पूर्वोक्त तीन पशु भी यहां महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आधिदैविक पक्ष में ये तीन पशु कौन हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर—'**अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त, वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त, सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त**' (माध्य० २३।१७) यह याजुष मन्त्र तीनों लोकों में स्थित क्रमशः अग्नि, वायु और सूर्य पशुओं का निर्देश करता है। इसी रहस्य की पुष्टि निरुक्त में उद्धृत '**अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त तेनायजन्त**' (निरु० १२।४१) ब्राह्मण-वचन से होती है। सोमयाग अन्तरिक्षस्थानीय है ऐसा पूर्व कह दिया है। इसलिये सोमयाग में निर्दिष्ट तीनों पशु भी मध्यमस्थानीय ही हैं। मध्यमस्थानीय वायु ही अवस्था-भेद से तीन प्रकार से विभक्त हुआ तीनों पशुओं के रूप में निर्दिष्ट किया जाता है।

अब हम ऊपर गिनाये गये विशिष्ट कर्मों का विवेचन करते हैं—

प्रवर्ग्य—प्रवर्ग्य नामक कर्म में मिट्टी से बने हुए महावीर नामक पात्र में घृत रखकर तपाया जाता है। इस विधि को करते समय यज्ञशाला के द्वार बन्द कर दिये जाते हैं। एकबाहु बराबर लम्बे काष्ठों में मृगचर्म बांधकर

उनसे पंखे के समान प्रत्येक मन्त्र पर वायु को ऊपर प्रेरित किया जाता है। तपे हुए घी में गाय और बकरी का दूध डाला जाता है। ऐसा करने से जो लपटें उत्पन्न होती हैं उनसे अत्यन्त ताप उत्पन्न होता है। इस कर्म से वृष्टि में सहायक ग्रीष्म ऋतु का कार्य व्याख्यात हो जाता है। ग्रीष्म ऋतु में महान् ताप से भूमि पर स्थित जल उष्ण होकर वाष्प बन जाता है और अन्तरिक्ष में चला जाता है।

सोमक्रय—एकहायनी अरुणा गौ से सोम खरीदा जाता है। यहां जो अरुणा एकहायनी गौ है, वह एक हायन (=वर्ष) पश्चात् वर्षा- ऋतु में प्रकट होने वाली गौ अर्थात शब्दात्मिका विद्युत् है। विद्युत् का गोत्व तथा शब्दकर्म का वर्णन **'अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनाधि श्रिता'** (ऋ० १।१६४।२९) इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से किया गया है। (यहां यास्कीय निरुक्त २।९ भी द्रष्टव्य है)। सोम सोमयाग की हवि है। सोम अन्तरिक्षस्थानीय देव है, और वह वाष्प बने हुए जलों का समूहरूप है। हविः पद भी निघण्टु में मेघ के नामों के पाठ के पश्चात् जल-नामों के अन्तर्गत पढ़ा गया है। सोमरूप हवि अर्थात् जल, मेघरूप वृत्र के द्वारा अवरुद्ध होने से विद्युद्रूप वज्र के प्रहार से अभिषवन को प्राप्त हो जाता है अर्थात् तरल होकर भूमि पर गिर जाता है। जैसा कि पर्जन्यसूक्त में—**'अर्वाङेतेन स्तनयित्नुने ह्यपो निषिञ्चन्'** (ऋ० ५।८३।६) यह मन्त्र है। वर्षा करने में अरुणा विद्युत् ही कारण बनती है। अन्य वर्णवाली विद्युत् तो उत्पातों को उत्पन्न करती है। जैसा कि कहा है—

> **"वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।**
> **कृष्णा सर्वविनाशाय दुर्भिक्षाय सिता भवेत्॥"**

अर्थात्—वात (=आंधी, तूफान) के लिये कपिला वर्णवाली विद्युत्, आतप (=गर्मी) के लिये अतिलोहिनी, सर्वविनाश के लिये कृष्णा तथा दुर्भिक्ष के लिये सिता वर्णवाली विद्युत् होती है।

अग्नीषोमीय पशु—इस पशु का सुत्यादिन से पूर्व दिन (आलभ्यते=) आलभन किया जाता है। अग्नि और सोम देवता वाला अर्थात् दोनों के धर्म से युक्त, वर्षा ऋतु के आदि में दक्षिण-पश्चिम दिशा से चलने वाला आर्द्र वायु (=मानसून) ही अग्नीषोमीय पशु है (वायु का पशुत्व पूर्व कह दिया है)। उसकी प्राप्ति ही आलभन है।

हविर्धानमण्डप—जहां हवि रखी जाती है, स्थापित की जाती है उसे हवि-

र्धान कहते हैं। तथा जहां उसका अभिषवन किया जाता है उसे हविर्धानमण्डप कहते हैं। यह हविर्धानमण्डप इस आधिदैविक जगत् में अन्तरिक्ष का वह स्थान है, जहां वाष्परूप में परिवर्तित जल ठहरते हैं।

दो हविर्धान शकट—हविर्धान की पूर्वोक्त व्युत्पत्ति के अनुसार ही जिन दो शकटों (=गाड़ियों) के ऊपर सोमरूप हवि रखी जाती है, वे शकट भी हविर्धान नाम से ही कहे जाते हैं। सोम अन्तरिक्षस्थानीय देव है ऐसा पूर्व कह दिया है। इस प्रकार अन्तरिक्षस्थानीय जल ही सोमरूप हवि है। यह हविरूप जल वाष्प बनकर मेघों में रहता है, इसलिये आधिदैविक जगत् में मेघ ही हविर्धान शकट हैं। मेघों में परस्पर संघर्षण से ही उनमें विद्युत् की उत्पत्ति होती है। संघर्षण परस्पर दो मेघों अथवा मेघावयवों में ही होता है, इसलिये सोमयाग में हविर्धानमण्डप में दक्षिण और उत्तर दो विपरीत दिशाओं में दो हविर्धान शकट रखे जाते हैं। मेघों का घर्षण विना गति के संभव नहीं है, अतः सोमयाग में भी गति में समर्थ शकट ही हविर्धान के रूप में रखे जाते हैं।

सोम का अभिषव—सोम के अभिषव के लिये सोमलता के टुकड़ों को ग्रावाओं (=पत्थरों) से कूटा जाता है। अभिषव करते समय एक ग्रावा हविर्धानशकट के नीचे रखा जाता है और दूसरे को हाथ में लेकर उससे कूटते हैं। निघण्टु में ग्रावा शब्द मेघ के नामों में पढ़ा गया है। इसलिये यहां के ग्रावा आधिदैविक यज्ञ में अन्तरिक्ष में स्थित मेघ हैं। सोम के अभिषव में ग्रावाओं से कूटते समय शब्द उत्पन्न होता है। अन्तरिक्ष में स्थित ग्रावारूपी मेघों के संघर्षण में भी इतना भयंकर शब्द उत्पन्न होता है कि जिससे सभी प्राणी आत्म-रक्षा के लिये इधर-उधर भागते हैं। जैसा कि पर्जन्य-सूक्त में मन्त्र है—**'विश्वं बिभाय भुवनं महावधात्'** (ऋ० ५।८३।२)। जिस प्रकार सोमलता का रस ग्रावाओं से कूटते समय निकलता है, वैसे ही मेघों के परस्पर संघर्षण से उत्पन्न विद्युत् के प्रहार से मेघों में रुका हुआ जल द्रवीभूत होकर पृथिवी पर गिरता है। जैसा कि कहा है—

'दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वां अप तद् ववार॥'

ऋ० १।३२।११॥

इसकी व्याख्या यास्क ने इस प्रकार की है—**अहिगोपा अहिना (मेघेन)**

गुप्ताः। (इन्द्रः विद्युत्) वृत्रं (मेघं) जघ्निवान्। अपववार तत् (निरु० २।१७)। अहि और वृत्र के नाम मेघ के नामों में पढ़े गये हैं।

अधिषवणफलक का स्थापन—जिस शिला के ऊपर सोम के अंशुओं को रखकर अभिषवण किया जाता है, उसके नीचे और उपरवों (=गोलाकार चार गड्ढों) के ऊपर दो काष्ठफलक रखे जाते हैं। वे काष्ठफलक 'अधिषूयतेऽस्मिन्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अधिषवण नाम से कहे जाते हैं। उनका प्रयोजन यह है कि सोम का अभिषवण करते समय यदि नीचे की शिला किसी प्रकार टूट जाये, तो सोम के अंशु भूमि पर न गिर जायें। इसी प्रकार अन्तरिक्ष में भी मेघों के संघर्षण से जो अत्यधिक जल का अभिषवण होता है, वह जल सहसा पृथिवी पर न आ जाये, इस के लिये अनेक प्रकार के परमाणुओं से बनी हुई एक पर्त विद्यमान रहती है, जिससे कि उत्पन्न हुआ जल बिखर कर भूमि पर आता है। अन्यथा सम्पूर्ण जल के एक साथ अचानक गिर जाने से प्राणियों को बहुत हानि हो जावे। उस आधिदैविक रहस्य को दिखाने के लिये ही सोम के अभिषवण-काल में शिला के नीचे दो अधिषवणफलक रखे जाते हैं।

उपरवों का खनन—उपरव नाम के चार विशेष प्रकार के गड्ढे होते हैं। हविर्धानशकट के नीचे वे इस प्रकार खोदे जाते हैं कि उनके मुख परस्पर पृथक्-पृथक् रहते हैं, परन्तु नीचे वे आपस में मिले रहते हैं। इन्हीं उपरवों के ऊपर दो अधिषवणफलक रखे जाते हैं, ऐसा पूर्व कह दिया है। इनका प्रयोजन क्या है, इस विषय में बताते हैं—

पर्वतीय प्रदेशों में प्रायः मेघों का विस्फोट होता रहता है। जिसको लोग 'बादल का फटना' कहते हैं। इस प्रकार के आकस्मिक विस्फोट में सारा मेघस्थ जल सहसा गिर जाता है। उस जल के प्रवाह से अनेक प्राणी बह जाते हैं और मर जाते हैं। सोमयाग में उपरवों का खोदना उस बात की ओर निर्देश करता है कि जिस प्रदेश में प्रायः मेघों का विस्फोट होता है, वहां परस्पर में मिले हुए अनेक गर्त (=गड्ढे) चारों ओर खोद देना चाहिये। जिससे अचानक उत्पन्न जल उन गर्तों में इकट्ठा हो जाये। इस प्रकार प्राणियों की जीवन-हानि को नियन्त्रित किया जा सकता है।

प्रत्येक सवन में सोम का परिमाणभेद—जितने सोम का अभिषवण करना होता है उसके छोटे बड़े दो भाग किये जाते हैं। बड़े भाग का प्रातः-सवन में अभिषवण होता है, तथा बचे हुए छोटे भाग का माध्यन्दिन-सवन में अभि-

षवण होता है। अब दोनों सवनों में अभिषुत (=निचोड़े हुए) सोम का जो ऋजीष (=खोजर) भाग बच जाता है, तृतीय-सवन में उसी का ही पुनः अभिषवण किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक सवन में अभिसेचनीय सोम के इस परिमाणभेद से तीनों (वर्षा, शीत, ग्रीष्म) ऋतुओं में जो क्रमशः अत्यधिक, अधिक तथा अल्प वर्षा होती है, वह व्याख्यात होती है।

सवनीय पशु—सुत्या के दिन एक पशु का आलम्भन किया जाता है। वह 'सवनीय पशु' कहा जाता है। उसकी वपा से प्रातः-सवन में होम होता है, पुरोडाश से माध्यन्दिन-सवन में तथा अङ्गों से तृतीय-सवन में, यह याज्ञिकी प्रक्रिया है। यज्ञों में पशुओं का आलम्भन (=हिंसा) होना चाहिये या नहीं, यह विचार करने का इस समय अवसर नहीं है। सोमयाग की आधिदैविक प्रक्रिया में अन्तरिक्षस्थानीय पशु वायु है, ऐसा पूर्व कह आये हैं। वह वायुरूपी पशु वाष्पीभूत जल के साथ मिलकर, मेघभाव को प्राप्त होकर सवनीय हो जाता है। उस वायुरूपी सवनीय पशु का जो वपारूप स्निग्ध सारभूत जल है, उसका प्रातःसवनस्थानीय वर्षा ऋतु में होम होता है। उससे सभी प्राणी जीवन पाते हैं और ओषधि-वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं। माध्यन्दिन-सवनस्थानीय शीत ऋतु में पुरोडाश के समान जो करक (=ओले) होते हैं, उनका होम होता है। अर्थात् शीत ऋतु में करक तथा हिम की वृष्टि होती है। तृतीय-सवन में उसके अङ्गों का होम होता है, अर्थात् तृतीय-सवनस्थानीय ग्रीष्म ऋतु में मेघों में जल का इधर-उधर जो अल्पतम भाग रह जाता है, वह ही बरसता है।

अनूबन्ध्या वशा गौ—छठे दिन वशा गौ का आलम्भन किया जाता है। वह यज्ञ के अनु=पश्चात् बांधी जाती है, अतः उसका नाम अनूबन्ध्या है। यह गौ वशा अर्थात् बन्ध्या (=जो प्रसव नहीं करती) होती है। आधिदैविक सोमयाग में भी वर्षा ऋतु के पश्चात् ग्रीष्म ऋतु के अन्तिम चरण में बहुत थोड़े जलवाले मेघों में जो विद्युत् रूपी गौ शब्द करती है, वह केवल शब्दमात्र से ही जानी जाती है, सुनी जाती है, जल नहीं बरसाती है, अर्थात् प्रसव नहीं करती है।

इस प्रकार इस निबन्ध में, ब्राह्मणादि वैदिक-वाङ्मय में जो अधियज्ञ-अधिदैवत-अध्यात्म की स्थान-स्थान पर समानता दर्शाई है, उसके अनुसार

द्रव्यमय सोमयाग द्वारा जो वार्षिक वृष्टि-विज्ञान व्याख्यात होता है उसका यथाबुद्धि निदर्शन किया है। आगे इस विषय में वेदविज्ञान-शिरोमणि एवं वेद-विज्ञान-पारङ्गत विद्वज्जन प्रमाणार्ह हैं।

अन्त में महान् वेदोद्धारक श्री भट्टकुमारिल के—

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि।
न हि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते॥

इस वचन के साथ विराम लेता हूं।

———

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

[प्रकाशित वा प्रसारित प्रामाणिक ग्रन्थ]

१. ऋग्वेदभाष्य-(संस्कृत हिन्दी वा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित)-प्रतिभाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट व सूचियां प्रथम भाग ४०-००, द्वितीय भाग ३५-००, तृतीय भाग ४०-०० ।

२. यजुर्वेदभाष्य-विवरण—ऋषिदयानन्दकृत भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण । प्रथम भाग ११०-००, । द्वितीय भाग मूल्य ५०-००

३. तैत्तिरीय संहिता—मूलमात्र, मन्त्रसूची सहित । ५०-००

४. तैत्तिरीय संहिता-पदपाठः—५० वर्ष से दुर्लभ ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन, बढ़िया सुन्दर जिल्द १००-०० ।

५. अथर्ववेदभाष्य—श्री पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय कृत । ७-८ काण्ड ४०-००; ९-१० काण्ड ४०-००; ११-१३ काण्ड ३५-००; १४-१७ काण्ड ३०-००; १८-१९ काण्ड २५-००; बीसवां काण्ड २५-०० ।

६. ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित एवं टिप्पणियों से युक्त । सजिल्द ३०-००, सुनहरी जिल्द ३५-००

७. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट—भूमिका पर किये गये आक्षेपों के ग्रन्थकार द्वारा दिये गए उत्तर मूल्य ४-००

८. माध्यन्दिन (यजुर्वेद) पदपाठ—शुद्ध संस्करण । ४०-००

९. गोपथ ब्राह्मण (मूल)—सम्पादक श्री डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि । सबसे अधिक शुद्ध और सुन्दर संस्करण । मूल्य ५०-००

१०. कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी—(ऋग्वेदीया) षड्गुरुशिष्य विरचित संस्कृत टीका सहित । टीका का पुरा पाठ प्रथम बार छापा गया है । विस्तृत भूमिका और अनेक परिशिष्टों से युक्त । मूल्य १००-००

११. ऋग्वेदानुक्रमणी—वेङ्कट माधवकृत । इस ग्रन्थ में स्वर छन्द आदि आठ वैदिक विषयों पर गम्भीर विचार किया है । व्याख्याकार—डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि । उत्तम-संस्करण ३५-००; साधारण २५-००

१२. वैदिक-साहित्य-सौदामिनी—स्व० श्री पं० वागीश्वर वेदालङ्कार। काव्यप्रकाश साहित्यदर्पण आदि के समान वैदिक साहित्य पर शास्त्रीय विवेचनात्मकग्रन्थ। साधारण जिल्द ४५-००, बढ़िया जिल्द ५०-००

१३. ऋग्वेद की ऋक्संख्या—युधिष्ठिर मीमांसक मूल्य ४-००

१४. वेदसंज्ञा-मीमांसा—युधिष्ठिर मीमांसक २-००

१५. वैदिक-छन्दोमीमांसा—यु० मी०। नया संस्करण २५-००

१६. वैदिक-स्वर-मीमांसा—नया संस्करण। यु० मी० ३०-००

१७. वैदिक-जीवन—श्री विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड द्वारा अथर्ववेद के आधार पर वैदिक जीवन के सम्बन्ध में लिखा गया अत्यन्त उपयोगी स्वाध्याय-योग्य ग्रन्थ। अजिल्द १२-००, सजिल्द १६-००

१८. वैदिक-गृहस्थाश्रम—पूर्व लेखक द्वारा अथर्ववेद के आधार पर लिखित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। अजिल्द २६-००; सजिल्द ३०-००।

१९. यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ-समीक्षा—ले० पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय। बढ़िया जिल्द २५-००, साधारण २०-००।

२०. शतपथ ब्राह्मणस्थ अग्निचयन समीक्षा—लेखक पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय। ४५-००

२१. बौधायन-श्रौत-सूत्रम् (आधान-प्रकरण)—सुबोधिनी वृत्ति सहित ४०-००

२२. दर्शपूर्णमास-पद्धति—पं० भीमसेन कृत, भाषार्थ सहित। २५-००

२३. कात्यायनगृह्यसूत्रम्—(मूलमात्र) अनेक हस्तलेखों के आधार पर हमने इसे प्रथम बार छापा है। २५-००

२४. श्रौतपदार्थ-निर्वचनम्—(संस्कृत) अग्न्याधान से अग्निष्टोम पर्यन्त आध्वर्यव पदार्थों का विवरणात्मक ग्रन्थ। सजिल्द ४०-००

२५. संस्कार-विधि—शताब्दी संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट। मूल्य लागतमात्र १५-००, राज-संस्करण २०-००। सस्ता संस्करण ६-००, अच्छा कागज सजिल्द १०-००।

२६. वेदोक्त-संस्कार-प्रकाश—पं० बालाजी विट्ठल गांवस्कर द्वारा मूल मराठी में लिखे गये ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद। २०-००

२७. अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रौत यज्ञों का संक्षिप्त परिचय—इस में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, सुपर्णचिति सहित सोमयाग, चातुर्मास्य, वाजपेय आदि यागों का वर्णन है। १२-००

२८. वैदिक-नित्यकर्म-विधिः—पांचों महायज्ञ तथा बृहद् हवन के मन्त्रों की पदार्थ तथा भावार्थ व्याख्या सहित । यु० मी० । सजिल्द ६-००

२९. शिक्षासूत्राणि—आपिशल-पाणिनीय-चान्द्रशिक्षा-सूत्र । मूल्य ७-००

३०. निरुक्त-श्लोकवार्त्तिकम्—केरलदेशीय नीलकण्ठ गार्ग्य विरचित । एक मात्र मलयालम लिपि में ताडपत्र पर लिखित दुर्लभ प्रति के आधार पर मुद्रित । आरम्भ में उपोद्घात रूप में निरुक्त-शास्त्र विषयक संक्षिप्त ऐतिह्य दिया गया है । (संस्कृत) सम्पादक—डा० विजयपाल विद्यावारिधि । उत्तम कागज, शुद्ध छपाई तथा सुन्दर जिल्द सहित । १२५-००

३१. निरुक्त-समुच्चय—आचार्य वररुचि विरचित (संस्कृत) । सं०—युधिष्ठिर मीमांसक । मूल्य २०-००

३२. अष्टाध्यायी—(मूल) शुद्ध संस्करण मूल्य ४-००

३३. अष्टाध्यायी-परिशिष्ट—सूत्रों के पाठ-भेद, सूत्र-सूची अप्राप्य

३४. अष्टाध्यायी-भाष्य—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत । प्रथम भाग ५०-००, द्वितीय भाग ३०-००, तृतीय भाग ३५-०० । पूरा सैट ११५-००

३५. धातुपाठ—धात्वादिसूचीसहित, सुन्दर शुद्ध संस्करण । मूल्य ३-५०

३६. क्षीरतरङ्गिणी—क्षीरस्वामीकृत । पाणिनीय धातुपाठ की सब से प्राचीन एवं प्रामाणिक व्याख्या । सजिल्द ६०-००

३७. धातुप्रदीप—मैत्रेयरक्षित विरचित पाणिनीय धातुपाठ की व्याख्या सजिल्द ४०-००

३८. वामनीयं लिङ्गानुशासनम्—स्वोपज्ञव्याख्यासहितम् । १०-००

३९. संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि—लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु । प्रथम भाग १५-०० द्वितीय भाग २५-००

४०. महाभाष्य—हिन्दी व्याख्या—(द्वितीय अध्याय पर्यन्त) यु० मी० भाग—I ६०-००, भाग—II अप्राप्य, भाग—III ३०-०० ।

४१. उणादिकोष—ऋ० द० स० कृत व्याख्या तथा पं० यु० मी० कृत टिप्पणियों, एवं ११ सूचियों सहित । अजिल्द १५-०० सजिल्द २०-००

४२. दशपादी-उणादि-वृत्ति—माणिक्यदेव विरचित वृत्ति । ४०-००

४३. दैवम् पुरुषकारवार्त्तिकोपेतम्—लीलाशुकमुनि कृत । १२-००

४४. भागवृत्तिसंकलनम्—अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्ति । ८-००

४५. काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्-संस्कृतरूपान्तर । यु० मी० २०-००

४६. अष्टाध्यायीशुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः—डा॰ विजयपाल विरचित पी॰ एच॰ डी॰ का महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध (संस्कृत)। ५०-००

४७. सूर्य-सिद्धान्त—हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याता—श्री उदयनारायणसिंह। इसके आरम्भ में १४६ पृष्ठ की अति विस्तृत एवं विविध विषय परिपूर्ण महत्त्वपूर्ण भूमिका छपी है। ५०-००

४८. विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम् (सत्यभाष्यसहितम्)—पं॰ सत्यदेव वासिष्ठ कृत आध्यात्मिक वैदिक भाष्य। ४ भाग मूल्य ८०-००

४६. शुक्रनीतिसार—व्याख्याकार श्री स्वा॰ जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती। विस्तृत विषय सूची तथा श्लोक-सूची सहित। उत्तम कागज, सुन्दर छपाई तथा जिल्द सहित। ५०-००

५०. विदुर-नीति—पं॰ युधिष्ठिर मीमांसक कृत प्रतिपद पदार्थ और व्याख्या सहित। बढ़िया कागज, पक्की सुन्दर जिल्द। ४०-००

५१. सत्याग्रह-नीति-काव्य—आ॰ स॰ सत्याग्रह १६३६ में हैदराबाद जेल में पं॰ सत्यदेव वासिष्ठ द्वारा विरचित, हिन्दी व्याख्यासहित। ३०-००

५२. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसक कृत नया परिष्कृत परिवर्धित संस्करण। तीनों भागों का मूल्य १२५-००

५३. मीमांसा-शाबर-भाष्य—आर्षमतविमर्शिनी हिन्दी-व्याख्या सहित। व्याख्याकार—युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य प्रथम भाग ५०-००। द्वितीय भाग ४०-००। तृतीयभाग ५०-००। चतुर्थभाग ४०-००। पञ्चम भाग ५०-०० (षष्ठाध्याय पर्यन्त)।

५४. नाडीतत्त्वदर्शनम्—श्री पं॰ सत्यदेव जी वासिष्ठ। मूल्य ३५-००

५५. प्रपञ्चहृदयम्, प्रस्थानभेदश्च (संस्कृत) मूल्य २०-००

५६. ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन—इसमें पौराणिक विद्वानों तथा ईसाई मुसलमानों के साथ हुए ऋ॰ द॰ के शास्त्रार्थ तथा पूना में सन् १८७५ तथा बम्बई में सन् १८८२ में दिये गये व्याख्यानों का संग्रह है। उत्तम कागज, कपड़े की जिल्द। ३५-००

५७. ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास—लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक। नया परिशोधित परिवर्धित संस्करण। ४०-००

पुस्तक प्राप्ति-स्थान—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) १३१०२१

रामलाल कपूर एण्ड संस, २५६६ नई सड़क, देहली